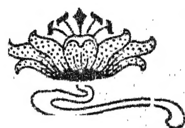
महादेव गोविन्द रानडे



अनुवादक

जीवनशंकर याज्ञिक

केदारनाथ भट्ट

महादेव गोविन्द रानडे

अनुवादक

जीवनशंकर याज्ञिक एम० ए०, एल-एल० बी०

केदारनाथ भट्ट एम० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक

इंडियन-प्रेस, प्रयाग।

प्रथमावृत्ति] १९१८ ई० [मूल्य १॥)

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the
Indian Press, Allahabad.

प्रस्तावना।

गत शताब्दी में जो अनेक पुरुष-रत्न भारतवर्ष में उत्पन्न हुए हैं उनमें महादेव गोविन्द रानडे का स्थान बहुत ऊँचा है। देश और समाज की उन्नति के लिये कटिबद्ध, अनेक सज्जन उनको गुरु का आसन देते हैं। और यह उचित ही है, क्योंकि उनके बिना न जाने महाराष्ट्र प्रान्त की क्या दशा होती और भारतवर्ष किस अवस्था में होता? ऐसे महापुरुष के जीवन-चरित्र को हिन्दी-पाठकों के सन्मुख रखने में क्षमाप्रार्थी होने की आवश्यकता नहीं है। यह पुस्तक श्रीयुक्त सूर्यराम सोमेश्वर देवाश्रयी कृत महादेव गोविन्द रानडे के संक्षिप्त जीवन-चरित्र का गुजराती से अनुवाद है। मूल पुस्तक को गुजरात प्रान्त में अच्छा आदर प्राप्त है। उस प्रान्त के अनेक सज्जनों ने, और शिक्षा-विभाग ने भी, उसकी प्रशंसा की है और बालकों के लिए विशेष रीति से उपयोगी माना है। देवाश्रयी महाशय ने हिन्दी अनुवाद के लिए सहर्ष अनुमति दी, अतएव उनको अनेक धन्यवाद।

परमेश्वर से प्रार्थना है कि हमारे बालक इस पुस्तक द्वारा रानडे के उज्ज्वल जीवन से उचित शिक्षा प्राप्त करें और उस महापुरुष के अनेक गुणों के अनुकरण करने में तत्पर और सफल-मनोरथ हों।

अनुवादक।

सूची



महादेव गोविन्द रानडे, एम० ए०, एल-एल० बी०,
सी० आई० ई० ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

न्यायमूर्त्ति

महादेव गोविन्द रानडे

का

संक्षिप्त जीवनचरित्र

पहला अध्याय

बाल्यावस्था और विद्याभ्यास।


हादेव गोविन्द रानडे का जन्म निफाड़ ग्राम, ज़िला नासिक, में माघ शुक्ल ६ शाके १७६३ (ता० १८ जनवरी सन् १८४२ ई०) मङ्गलवार को सन्ध्या-समय हुआ था। इनके पूर्वज दक्षिणी कोंकणस्थ ब्राह्मण थे जो रत्नागिरि ज़िले के चिपलून ताल्लुके में मोभाड़ पाचेरी (पाचेरीसड़ा) ग्राम के आदिमवासी थे। रानडे से आठ पीढ़ी पहले एक पूर्वज आजीविका के अभाव और कुटुम्ब-क्लेश के कारण घर छोड़ शोलापुर ज़िले में पंढरपुर के पास किर्काम (किरकम्ब) ग्राम में आ बसे थे। यहाँ उनको महाराष्ट्र इतिहास में सुप्रसिद्ध सरदार

पटवर्धन घराने से, जिनके वंशज दक्षिण महाराष्ट्र प्रान्त में साँगली, मिरज, और कुरुन्दवाड़ में राज्य करते हैं, अच्छी सहायता मिली थी । श्रीमती रमाबाई रानडे अपनी पुस्तक "हमारे जीवन की कुछ बातें" में लिखती हैं कि रानडे से चौथी पीढ़ी के पूर्वज भगवन्तराव करकम्ब में आ बसे थे और उनके पुत्र आपाजी भगवन्त सरदार पटवर्धन की ओर से मुग़लों से लड़े थे और उन्होंने एक क़िला भी जीता था । उनके बुद्धि-बल और निष्कपट व्यवहार से प्रसन्न होकर सरदार ने उनको अँगरेज़ी सरकार के पास अपना वकील बनाया था । आपाजी भगवन्त अपने माता-पिता के एकमात्र पुत्र थे । कई बच्चों का नाश होजाने से आपाजी की मा कृष्णाबाई ने पुत्र के जीवित रहने की कामना से अनेक धर्मक्रियाएँ और अनुष्ठान किये थे । बारह वर्ष निरन्तर पीपल की पूजा, गौ की सेवा और व्रत किया था । ऐसी धर्मपरायणा माता के पुत्र आपाजी स्वयं बड़े धार्म्मिक हुए । पाँच हज़ार सवारों के सरदार बने और फिर पूने में पेशवा के दरबार में साँगली राज्य के वकील बन कर रहे और एक प्रतिष्ठित कुल के स्थापक हुए । अपने स्वामी का विश्वासघात करने के लिए पेशवा की ओर से इनसे कहा गया था और ऐसा न करने पर क़ैद किये जाने की धमकी भी दी गई थी । आपाजी ने क़ैदी बनना पसन्द किया पर विश्वास-घात के दोषी न बने । इस स्वामिसेवा के बदले में उनको साँगली राज्य की ओर से जागीर दी गई थी जो उनके वंशज

अब भी भोगते हैं । आपाजी के चार पुत्रों में एक अमृतराव थे जो रानडे के दादा थे । अमृतराव ने बहुत वर्ष तक सिरिश्तेदारी का काम किया था । उनके पुत्र गोविन्दराव—रानडे के पिता—निफाड़ ज़िला नासिक में तहसीलदार के पेशकार की सरकारी नौकरी पर काम करते थे । इस कारण उनका निफाड़ में रहना होता था और वहीं रानडे का जन्म भी हुआ । गोविन्दराव ने पेन्शन लेकर कोल्हापुर राज्य में ऊँचे ऊँचे ओहदों पर भी काम किया था । उनका देहान्त सन् १८७७ ई० में हुआ ।

रानडे की प्रारम्भिक शिक्षा कोल्हापुर की मराठी पाठशाला में प्रख्यात शिक्षक पान्डोबा तात्या दिवेकर के अधीन समाप्त हुई । रा० ब० नानाजी मोरोजी, जो पीछे बम्बई के प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट हो गये थे, उनके प्रयत्न से कोल्हापुर में एक अँगरेज़ी पाठशाला स्थापित की गई थी । मराठी की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर रानडे ने उसी पाठशाला में अँगरेज़ी पढ़ने के लिए प्रवेश किया । इस पाठशाला के प्रधान शिक्षक प्रो० हेनरी ग्रीन के शिष्य, कृष्णराव चापाजी के अँगरेज़ी पढ़ाने की रीति की रानडे बड़ी प्रशंसा किया करते थे । महाराजा होलकर के भूत-पूर्व दीवान रा० ब० विनायक जनार्दन कीर्तने, पूना हाई स्कूल के हेडमास्टर स्वर्गीय महादेव मोरेश्वर कुण्टे बी० ए० और उसी हाई स्कूल के पेन्शन प्राप्त हेडमास्टर विट्ठल नारायण पाठक एम० ए०, रानडे के कोल्हापुर में मुख्य सहाध्यायिओं में से थे ।

रानडे का स्वभाव बड़ा सीधा सादा और अल्पभाषी था। इससे आरम्भ में उनके माता पिता और शिक्षक यह नहीं जानते थे कि रानडे एक असाधारण बुद्धिमान् पुरुष होंगे। छः वर्ष की अवस्था तक उनको कंठस्थानीय अक्षरों का उच्चारण ही नहीं आता था। और उन अक्षरों की जगह वे मूर्धस्थानीय अक्षरों का प्रयोग करते थे। इस बात से उनकी माता को बड़ा सोच होता था और वे निरन्तर चिन्ता किया करती थीं कि बड़े होने पर उनकी क्या दशा होगी। प्रिय पुत्र की इस वाक्-त्रुटि को दूर करने के लिए और उसके विद्वान् होने के लिए माता प्रायः व्रत और गणपति की उपासना करती थीं। परन्तु यह उनका भय निर्मूल था। शोक है कि दुर्भाग्यवश वे इतने दिन जीती न रहीं कि अपने पुत्र को बम्बई-विश्वविद्यालय के पदवीधारियों का शिरोमणि और हाईकोर्ट का जज देख सकतीं। रानडे को ग्यारह वर्ष का छोड़ कर सन् १८५३ ई० में उन्होंने देवलोक की यात्रा की।

बाल्यावस्था में रानडे जैसे कि अपने सहपाठियों और माता-पिता को मालूम होते थे वैसे वास्तव में नहीं थे। साक्रेटीज़ की सी उनकी मुखाकृति को देख कर लोग प्रायः उलटा ही अनुमान कर बैठते थे। रानडे शान्त और लज्जाशील थे। परिचित मार्ग पर चलने वाले थे परन्तु अत्यन्त उद्योगी और विद्याव्यसनी थे। प्रत्येक परीक्षा में बड़े मान के साथ उत्तीर्ण होते थे पर आश्चर्य्य की बात यह है कि इस बात की सूचना

भी अपने माता-पिता को नहीं देते थे—दूसरों के सामने अपनी बड़ाई करने की बात तो दूर रही। उनकी कक्षा के विद्यार्थियों से माता-पिता को कभी कभी इस बात का पता चलता था कि वे किस सफलता के साथ परीक्षा में उत्तीर्ण होते थे। और जब आनन्द-समाचार स्वयं न कहने पर जवाब तलब होता तो कह देते "इस बात की सूचना देना मुझे कुछ आवश्यक नहीं मालूम होता। क्योंकि परीक्षा में सफलता प्राप्त करना हर एक विद्यार्थी का कर्तव्य ही है। और अमुक समय तक अभ्यास करने पर परीक्षा में उत्तीर्ण होने में विशेषता ही क्या है?"

रानडे ऐसे लज्जाशील थे कि अपने पिता के सामने शायद ही कभी बोलते। इससे उनके पिता उन्हें मूर्ख समझते और इस कारण यदि वे कभी गरम होते तो रानडे बड़े ही डर जाते। माता भी ग्यारह वर्ष का छोड़ कर देवलोक को चली गईं। इससे यह बात स्पष्ट है कि रानडे के पोषण और चरित्र-गठन में उनके माता-पिता का भाग बहुत कम था। इससे उनको अपनी ही शक्ति पर भरोसा रखना पड़ा और वे स्वावलम्बी और स्वाश्रयी हो गये। अति-विनयशील होने के कारण पिता के सन्मुख बोलते नहीं थे और अपने दादा अमृतरावजी से भी बात करने में शरमाते थे। जब सन् १८६३-६४ ई० में बी० ए० एम० ए० पास कर वे अपने दादा से मिलने पावल ग्राम को गये थे तब उनके दादा अपने सन्मुख उनको अपने एक मित्र से बात-चीत करते सुन कर रानडे के बारे में कहने लगे "आज

तक तो मैं यह समझता था कि मेरा प्यारा माधव* इतना अल्पभाषी है कि उसका सुधरना असम्भव है। अपने सामने मुँह खोल बातें करते तो मैंने इसे आज पहली बार देखा है।"

कोल्हापुर में जितनी अँगरेज़ी शिक्षा मिल सकती थी उतनी प्राप्त कर चौदह वर्ष की अवस्था में अर्थात् सन् १८५६ ई० में आगे पढ़ने के लिए अपने मित्र विनायक कीर्तने और उनके दो भाई बलवन्तराव और त्र्यम्बकराव कीर्तने के साथ रानडे बम्बई भेजे गये। वहाँ वे एलफ़िन्स्टन इन्स्टीट्यूशन में, जो अब एलफ़िन्स्टन हाईस्कूल कहलाता है, दूसरे दर्जे में भर्ती किये गये। बम्बई जैसे दूर प्रदेश में भेजने को पहले रानडे के पिता राज़ी न हुए और रानडे को इस विषय में उनसे कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ती थी इससे दो तीन महीने पहले से रानडे ने आबा साहब कीर्तने की, उनके पुत्रों के साथ अपने विद्याभ्यास के लिए बम्बई जाने के बारे में, निरन्तर इतनी प्रार्थना की कि अंत को उनके अत्यन्त आग्रह से दब कर पिता को जाने की आज्ञा देनी पड़ी।

जिस दर्जे में ये विद्यार्थी भर्ती किये गये थे उसके शिक्षक ख़ानबहादुर क़ैख़ुसरो होरमसजी आलपाईवाला थे जो बाद में सूरत में ख़फ़ीफ़ा के जज हो गये थे। मि० आलपाईवाला ने रानडे को बड़े चतुर और होनहार विद्यार्थी समझ कर भर्ती होने

* रानडे को उनके कुटुम्बीजन माधव नाम से पुकारते थे। परन्तु रानडे लिखने में 'महादेव' नाम का उपयोग करते थे।

के दो तीन महीने बाद ही ऊपर के दर्जे में चढ़ा दिया। सन् १८५७-५८ ई० में रानडे ने एलफ़िन्स्टन कालेज में प्रवेश किया। और क्रम से १०, १५ और २० रुपये की छात्रवृत्ति प्राप्त की। सन् १८५९ में बम्बई यूनिवर्सिटी की ओर से पहली मैट्रीकूलेशन की परीक्षा हुई। उसमें बहुत थोड़े परीक्षा देने वाले विद्यार्थी थे—बम्बई के चौदह और पूने के सात थे। उनमें एक रानडे भी थे। इस परीक्षा में वे उत्तीर्ण हुए और उनके साथ डा० भांडारकर और माननीय मि० झवेरीलाल उमियाशंकर याज्ञिक भी पास हुए। यह तीनों ६० रु० मासिक की 'दक्षिणा फ़ैलो' वृत्ति के लिए पसन्द किये गये थे। 'दक्षिणा फ़ैलो' विद्यार्थी और शिक्षक दोनों ही कहा जा सकता है। क्योंकि उसको अपने से नीचे विद्यार्थियों के पढ़ाने में समय देना पड़ता है और साथ ही स्वयं विद्याभ्यास करके यूनीवर्सिटी की परीक्षायें देनी पड़ती हैं। तीन वर्ष तक 'ज्यूनियर फ़ैलो' का काम करके रानडे ने १२० रु० मासिक पर 'सीनियर फ़ैलो' का स्थान पाया। इस जगह पर भी उन्होंने तीन वर्ष तक काम किया। बड़े उत्साह से विद्याभ्यास में लगे रहने पर सन् १८६१ ई० में उस समय की 'लिटिल-गो' (Little-go) यानी फ़र्स्ट बी० ए० की परीक्षा पास की और अगले वर्ष डा० भाण्डारकर के साथ पहले वर्ग में बी० ए० पास किया। उसी साल उन्होंने अकेले इतिहास में आनर्स की परीक्षा के लिए तैयारी की और दूसरे वर्ग में नामवरी से इसको भी प्राप्त किया। ऐसी परीक्षाओं

को पहले वर्ग में पास करना सामान्यत: बड़े ही गौरव की बात समझी जाती है परन्तु उस समय यूनिवर्सिटी का यह नियम था कि पहले वर्ग में पास करने के लिए परीक्षार्थी को अपने जवाबों से अपने नवीन विचार और कल्पना-शक्ति का प्रदर्शित करना, और असाधारण मानसिक शक्ति के साथ घोर परिश्रम का परिचय देना आवश्यक है।

ऐसी निपुणता और अगाध श्रम से परीक्षा पास करना एक असाधारण उद्योगी विद्यार्थी के लिए ही सम्भव है। परन्तु इतिहास जैसे अगाध विषय में, जिसमें रानडे ने परीक्षा दी थी, और फिर केवल चार प्रश्नपत्रों के जवाब देने में जिसके लिखने के लिए केवल तीन तीन घण्टे का समय दिया जाय, अपनी मानसिक शक्ति का यथायोग्य दर्शन कराना कोई सुगम बात नहीं है। संभव है कि लार्ड बेकन जैसे महान् विद्वान् को भी तीन घण्टे के अल्प समय में उत्तर पत्रों द्वारा अपनी स्वाभाविक शक्ति का परिचय देना कठिन हो जाय। ऐसे कारणों से रानडे पहले वर्ग में पास न हो सके परन्तु इससे उनके गौरव में कोई हानि नहीं होती। उत्तर-पत्रों में रानडे ने अपनी निपुणता और स्वाभाविक शक्ति का ऐसा परिचय दिया था कि परीक्षक चकित हो गये थे। उन्होंने प्रसन्न होकर यूनी-वर्सिटी से उनकी सिफ़ारिश की कि सोने का पदक और २०० रु० का पारितोषिक, जो कि नियमानुसार पहले वर्ग में पास होने वाले सर्वोत्तम विद्यार्थी को दिया जाता है वह, रानडे को दिया

जाय । और वह उनकी सिफ़ारिश से दिया भी गया । आनर्स में पास होने पर यूनीवर्सिटी के नियमानुसार मैट्रीकुलेशन के पाँच वर्ष बाद यानी सन् १८६४–६५ में वे एम० ए० की पदवी प्राप्त कर सके । सन् १८६५ में वे बम्बई यूनीवर्सिटी के 'फ़ैलो' बनाये गये । बम्बई यूनीवर्सिटी के यह पहले ग्रेजुएट थे जो फ़ैलो बनाये गये । सन् १८६५ ई० में पदवी प्रदान करने के लिए जो कान्वोकेशन हुआ था उसके चान्सलर सर बार्टल फ्रीअर ने रानडे का, जो कि सबसे पहले ग्रेजुएट होकर फ़ैलो बनाये गये थे, इन शब्दों के द्वारा सत्कार किया था—"भविष्य में बहुत से सुविख्यात फ़ैलो होंगे उनमें सबसे पहले मि० महादेव गोविन्द रानडे का मैं विशेष रूप से स्वागत करता हूँ । एम० ए० की ऊँची पदवी इन्होंने सबसे पहले प्राप्त कर पहले फ़ैलो बनाये जाने का विशेष सम्मान बड़ी योग्यता से प्राप्त किया है ।"

परलोकगत मि० बाल मंगेश वागले के साथ, जो बाद में हाई-कोर्ट के एडवोकेट हो गये थे, रानडे ने सन् १८६६ ई० में एलएल० बी० की परीक्षा पास की । दोनों पहले वर्ग में पास हुए । इस लिए यूनीवर्सिटी के नियमानुसार क़ानून में 'आनर्स' की आगे की परीक्षा उसी वर्ष देने के अधिकारी हुए। दोनों ने 'आनर्स' की भी परीक्षा पास की परन्तु केवल रानडे पहले वर्ग में आये । एम० ए० की परीक्षा की तरह इस क़ानून की परीक्षा में भी यह आवश्यक था कि परीक्षार्थी अपनी असाधारण कल्पनाशक्ति और घोर परिश्रम का परिचय दे । इस कड़ी कसौटी पर भी रानडे पूरे उतरे ।

इसके बाद हाईकोर्ट की 'एडवोकेट' की परीक्षा के लिए तैयार हुए और उसको भी सन् १८७१ ईसवी में उत्तम रीति से पास कर लिया। इससे यह स्पष्ट है कि रानडे का विद्यार्थी-जीवन बड़ा ही उज्ज्वल और यशस्वी रहा। उन्होंने सब परीक्षायें सिवाय 'आर्ट्स के आनर्स' की पहले वर्ग में ही पास कीं और वह भी सब बड़ी कुशलता से। बी० ए०, एम० ए०, एलएल० बी० की परीक्षा पास करने वाले यह बम्बई यूनीवर्सिटी में पहले ही सज्जन थे, इतना ही नहीं बल्कि और ग्रेजुएटों में जिन्होंने सब परीक्षायें बड़ी योग्यता से पास की हैं और कभी फ़ेल नहीं हुए उनमें भी रानडे एक बिरले ही थे। बी० ए० की अँगरेज़ी साहित्य और इतिहास की परीक्षा के परचों में उन्होंने ऐसी असाधारण विद्वत्ता और गवेषणा दिखलाई थी कि उनके एक परीक्षक मि० ई० आई० हावर्ड साहब, जो डाइरेक्टर आफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन्स थे, उनके उत्तर-पत्रों को अपने साथ विलायत ले गये थे कि वहाँ लोगों को बतलावें कि एक हिन्दू विद्यार्थी कैसी ऊँची विद्या प्राप्त कर सकता है। ऐसा भी एक दो जगह पढ़ने में आया है कि एल्फ़िन्स्टन कालेज के प्रिंसिपल, सर एलेक्ज़ेन्डर ग्रान्ट भी रानडे के उत्तर-पत्रों को अपने साथ विलायत ले गये थे।

विद्याभ्यास में ऐसी असाधारण सफलता बिना घोर परिश्रम के असम्भव है। 'दक्षिणा फ़ैलो' की हैसियत से बी० ए० (आनर्स) और एलएल० बी० के लिए जो पुस्तकें उन्होंने पढ़ीं

थीं उसकी सूची अपनी वार्षिक रिपोर्ट में दी थी जो डाईरेक्टर की सन् १८६२–६३ और १८६५–६६ ई० की रिपोर्ट में शामिल की गई थी। इस लम्बी सूची से उनके परिश्रम और अध्यवसाय का पता चल सकता है। यहाँ सब पुस्तकों के नाम देने से कुछ प्रयोजन नहीं है। इतना कहना आवश्यक है कि इतिहास में ३४००० से ऊपर पृष्ठों की ३३ बड़ी बड़ी पुस्तकें पढ़ी थीं। अर्थशास्त्र में १० और क़ानून में ६० बड़ी भारी भारी पुस्तकें पढ़ी थीं। इनमें से कितनी ही पुस्तकों का विशेष रूप से अच्छी तरह अध्ययन किया था। कुछ दो दो चार चार बार और बहुत सी एक ही बार पढ़ी थीं। क़ानून की परीक्षा के लिए जो पुस्तकें रानडे ने पढ़ी थीं उनकी सूची देते हुए सन् १८६५–६६ ई० की रिपोर्ट में उन्होंने इस प्रकार लिखा है:—

"इस परीक्षा के लिए तैयार होने को जो पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं उनकी सूची साथ में देता हूँ। मेरे मित्र मि० बाल मंगेश वागले और मैं केवल दो ही परीक्षार्थी होने के कारण हमने दोनों ने विशेषतः साथ साथ अभ्यास किया है। और इस सूची की पुस्तकें दोनों ने पढ़ी हैं। यह सूची आनन्द के आवेश में आकर मैं पेश नहीं करता। जिन सज्जनों को हमारा ख़्याल है उनको यह बताना आवश्यक है कि हमने कैसा परिश्रम किया है और 'फ़ेलो' बनाये जाने से जो हमको सहायता और उत्साह मिला है उसका दुरुपयोग नहीं किया है। इसी कारण से सूची देना आवश्यक समझा है। मुझे आशा है कि मेरा यथार्थ

अभिप्राय जान कर सब लोग आत्मश्लाघा का दोषी मुझे नहीं समझेंगे।"

इतनी पुस्तकों के अध्ययन से रानडे के स्वास्थ्य पर अवश्य असर पड़ा। उनकी आँखें सदा से कमज़ोर थीं। उन पर बेहद ज़ोर पड़ने से सन् १८६४ ई० में बड़ी पीड़ा होगई जिसकी वजह से आँखों की तकलीफ़ जन्म भर बनी रही। जब बिलकुल आँखें बिगड़ जाने का भय हुआ तो डाकृर भाऊ दाजी से छः महीने इलाज कराया। इससे दर्द तो जाता रहा मगर एक आँख बहुत ही कमज़ोर होगई। ऐसे महान् उद्योग और बुद्धिकौशल से इन्होंने विद्या सम्पादन की और थोड़े समय में यदि इनको 'बम्बई-ग्रेजुएटों के शिरोमणि' का उपनाम मिला तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सन् १८६१–६२ ई० की एलफ़िन्स्टन कालेज की वार्षिक रिपोर्ट में लिखा है कि "एक विद्यार्थी महादेव गोविन्द रानडे ने बी० ए० की परीक्षा बड़ी योग्यता से पास की है। अब वह इतिहास में आनर्स के लिए अभ्यास कर रहा है।" उसी साल की डाइरेकृर-आफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन की रिपोर्ट में लिखा है कि वह परीक्षा भी उन्होंने बड़े गौरव से पास कर ली।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि कालेज की परीक्षाओं के लिए जब रानडे अभ्यास करते थे तो कुछ दिनों को एलफ़िन्स्टन कालेज के 'ज्यूनियर फ़ैलो' थे और बाद में 'सीनियर फ़ैलो' हो गये थे। पेशवा सरकार ने एक रक़म संस्कृत के विद्वान् पण्डितों को 'दक्षिणा' की तरह देने के लिए अलग निकाल दी

थी। उसमें से जो छात्रवृत्ति दी गई है उसका नाम 'दक्षिणा फ़ैलोशिप' है। यह छात्रवृत्ति सबसे योग्य विद्यार्थियों को ही दीजाती है। यह भी हम ऊपर कह चुके हैं कि 'फ़ैलो' होने के कारण रानडे को अपने अभ्यास के साथ साथ अपने से नीचे विद्यार्थियों को पढ़ाना भी पड़ता था। यह पढ़ाने का कार्य उन्होंने कैसी उत्तमता से किया था वह सर ए० ग्रान्ट मुख्या-ध्यापक एलफ़िन्स्टन कालेज की सन् १८६२-६३ ई० की रिपोर्ट से जान सकते हैं। "मि० महादेव गोविन्द रानडे ने जो गत वर्ष में काम किया है उसकी प्रशंसनीय रिपोर्ट की ओर आपका विशेष रीति से ध्यान दिलाना चाहता हूँ। एक उच्च मानसिक शक्ति वाले हिन्दू विद्यार्थी के परिश्रम और महत्कार्य का उसमें यथास्थित वर्णन है। और रानडे की रिपोर्ट से यह भी सिद्ध होता है कि जो लोग 'दक्षिणाफ़ैलो' चुने जाते हैं वे कैसा उत्तम कार्य करते हैं। ऐसी छात्र-वृत्ति पाने वाले विनय-शील और प्रामाणिक बनते हैं और अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाते हुए ऊँचे पदों पर नियत होने के योग्य होते हैं। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि साधारणतः यह विश्वास कि अँग-रेज़ी शिक्षा भारतवासियों के आचार, नीति, के लिए हानिकारक है, बिलकुल निर्मूल है। कालेज में मैंने देखा है कि विद्यार्थी-गण केवल विद्या ही में उन्नति नहीं करते बल्कि साथ साथ दूसरों के विश्वासपात्र बनने और अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने में भी पीछे नहीं रहते।"

जब ग्रान्ट साहब विलायत को वापिस गये तो फ्रामजी कावसजी हाल में उनको मानपत्र प्रदान किया गया था। उस निमित्त जो सभा हुई थी उसमें उन्होंने कहा था कि "मि० रानडे एलफ़िन्सृन कालेज से निकले हुए एक अत्यन्त सुशोभित आभूषण हैं।" यह कहते हुए उन्होंने रानडे के "अद्भुत बुद्धिबल" और "अनेक विषयग्राही" विशाल मन की प्रशंसा की थी।

एलफ़िन्सृन कालेज के अध्यापक प्रोफ़ेसर ह्युलिंग्स ने एक बार कहा था कि "कालेज में स्वतन्त्र तर्क करने वाला केवल एक विद्यार्थी रानडे है।" शिक्षा का मुख्य कर्त्तव्य मनुष्य को विचारवान् बनाने का है। रानडे ने अपनी शिक्षा को कैसा सार्थक किया था, यह इस बात से मालूम होता है। एडवोकेट होने से रानडे को हाईकोर्ट के दोनों विभागों में वकालत करने का अधिकार प्राप्त था परन्तु उन्होंने वकालत कभी नहीं की। वकालत में लाभ अनिश्चित होने के कारण उन्होंने कम मासिक की सरकारी नौकरी करना पसन्द किया। कदाचित् अपने निरभिमानी स्वभाव, 'अत्यन्त विनयशीलता', असाहसिक वृत्ति और अपनी कुशलता पर अविश्वास के कारण वकालत के स्वतन्त्र व्यवसाय को छोड़ कर उन्होंने नौकरी करना पसन्द किया हो। सम्भव है कि अपनी असाधारण सामर्थ्य को प्रकाशित करने का सङ्कोच भी इसका एक कारण हो। यदि वे वकालत ही करते तो उनकी निर्मल और तीव्र बुद्धि, क़ानून का पूर्ण ज्ञान, अँगरेज़ी भाषा में निपुणता और सरल और तात्कालिक भाषण-शक्ति और

घोर परिश्रम इत्यादि गुण-समूह उनको पश्चात्ताप करने का अवसर कभी न आने देते । सम्भव है कि वकालत से उनको इतना लाभ न होता जितना स्व० न्यायमूर्ति तैलंग को हुआ परन्तु हाईकोर्ट के जज उनसे पहले हो जाते । रानडे के वकालत न करने से वकीलों की यदि कोई हानि हुई समझी जाय तो उससे भी अधिक लाभ प्रजा को उनकी नौकरी से मिल चुका है ।

दैवी बुद्धि से जैसा उनका मन प्रकाशमान था वैसी ही नामवरी उन्होंने सरकारी नौकरी में भी प्राप्त की । जो बड़े काम उन्होंने नौकरी की हालत में किये उनका वर्णन आगे किया जाता है ।

दूसरा अध्याय

सरकारी नौकरी।



लेज में विद्याभ्यास समाप्त करने पर रानडे को २०० रु० मासिक वेतन पर शिक्षा-विभाग में मराठी भाषान्तरकर्त्ता की जगह मिली। इस जगह पर उन्होंने २८ मई १८६६ ई० से २० नवम्बर १८६७ तक काम किया। इस बीच में कुछ काल तक उन्होंने शोलापुर ज़िले में अकलकोट राज्य में दीवान का भी काम किया था। अकलकोट के राज्यकर्त्ता की अयोग्यता के कारण बम्बई के गवर्नर सर बार्टल फ्रीअर ने राज्य का प्रबन्ध दादा साहब विंचुरकर के अधीन कर दिया था। इस लिए रानडे जैसे युवक को, जो कालेज से अभी विद्याभ्यास करके निकले थे, अकलकोट जैसी रियासत के सुप्रबन्ध के लिए नियत करना सरकार और रानडे दोनों के लिए बड़ा शोभाप्रद था। अकलकोट में थोड़े दिन तक दीवान पद पर जो रानडे ने काम किया उसकी बड़ी प्रशंसा हुई और तुरन्त उनको कोल्हापुर के बड़े राज्य में ४०० रु० के वेतन पर न्यायाधीश का स्थान मिला। क़ानून में 'आनर्स' की परीक्षा पास करने पर तुरन्त ही यह नौकरी मिली थी और 'एडवोकेट' की

परीक्षा पास अभी कर नहीं पाये थे इस लिए थोड़े ही दिनों बाद कोल्हापुर में इस्तेफ़ा दे दिया और एलफ़िन्सृन कालेज बम्बई में अँगरेज़ी साहित्य के अध्यापक की जगह ख़ाली हुई थी उस पर वे काम करने के लिए चले गये । जिस समय अँगरेज़ी शिक्षा इस देश में बाल्यावस्था में थी उस समय रानडे का अँगरेज़ी साहित्य का अध्यापक नियत होना, जिस पद पर अँगरेज़ विद्वान् ही काम करते थे, एक साधारण बात नहीं थी । इस पद पर उनका काम ऐसा सन्तोष-जनक हुआ कि मुख्य अध्यापक के लौट आने पर रानडे के लिए एक नई जगह सहकारी अध्यापक की बनाई गई । उनके पढ़ाने की शैली से विद्यार्थी-गण भी ऐसे प्रसन्न और सन्तुष्ट थे कि उन्होंने आपस में मिल कर ३०० रुपया जमा किये और एक सोने की घड़ी ख़रीद कर अपने प्रिन्सिपल चटफ़ाल्ड साहब से रानडे को भेंट कराई * । सहकारी अध्यापक की जगह पर सन् १८६८ से १८७१ ई० तक रानडे ने काम किया । इस बीच में सन् १८७१ ई० में उन्होंने 'एडवोकेट' की परीक्षा भी बड़े मान से पास कर ली । जैसा कि पहले कहा जा चुका है उन्होंने हाईकोर्ट में वकालत करना पसन्द नहीं किया इसलिए सरकारी नौकरी में ही लगे रहना ठीक समझा । इससे ता० १७ मार्च सन् १८७१ ई० को बम्बई के तीसरे पुलिस मजिस्ट्रेट की जगह उनको दी गई । इस जगह थोड़े दिन काम करने पर वे बम्बई की

* यह घड़ी अभी मैसूर के एक नामी चोर के पास से निकली है ।

ख़फ़ीफ़ा अदालत के चौथे जज बनाये गये और वहाँ दो महीने के लगभग उन्होंने काम किया।

सन् १८७१ की १६ नवम्बर को पहले दरजे के सब-जज की जगह काम करने के लिए पूना भेजे गये। और फिर सरकार ने सन् १८७३ की फ़रवरी में उनको उसी जगह मुस्तक़िल कर दिया। पहले दरजे के और पहले ग्रेड के सब-जज का पद बड़ा ऊँचा होता है। इस ८०० रु० के मासिक वेतन के पद पर पहुँचने की आशा नौकरी के अन्त समय पर हो सकती है, उसको सरकार ने रानडे के नौकरी में प्रवेश करने के थोड़े दिन में ही दे दी। इस बात से यह अनुमान हो सकता है कि रानडे के बुद्धिबल और ज्ञान के लिए सरकार का कैसा ऊँचा ख़्याल था। तीस वर्ष के युवक रानडे को जिन्हें पूरा अनुभव भी प्राप्त नहीं हुआ था, यह ऊँचा और ज़िम्मेदारी का पद देकर सरकार ने उनको बड़ा विश्वासपात्र समझा। और ऐसा ही रानडे ने अपने को न्याय बुद्धि और निष्पक्षता से सिद्ध भी किया। सब-जज के पद पर उनका काम सदा प्रशंसनीय रहा। एक अव्वल दरजे के सब-जज को चाहे जितनी बड़ी रक़म के सब तरह के मुक़द्दमे फ़ैसिल करने का अख़्तियार होता है और इसी लिए सब-जज का काम बड़ी भारी ज़िम्मेदारी का समझा जाता है। और जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि बम्बई प्रान्त में, आबादी, लोगों के बुद्धिबल और उद्योग और राजकीय सम्बन्धी मामलों के कारण, पूना दूसरे नम्बर का शहर गिना जाता है तो

रानडे की ज़िम्मेदारी ख़ास तौर से भारी जान पड़ती है। परन्तु विपक्षियों को पूर्ण सन्तोष देकर और अपने कर्त्तव्य का उत्तम रीति से पालन करके रानडे ने यह अच्छी तरह दिखा दिया था कि उनका काम जैसा भारी था वे उससे विशेष कुशल थे। धैर्य और सूक्ष्मता से जाँच करने की उनकी पद्धति, हर एक मुक़द्दमे के असली मामले को पहुँचने की रीति, कागज़ात सबूत को ध्यान-पूर्वक देखना, सत्य और असत्य का पृथक्करण, सच्चे सबूत की तुलना, मुक़द्दमे के मुतल्लिक़ सब बातों का सफ़ाई से बयान, और फ़ैसले में सबूत की मज़बूती इन सब बातों के कारण रानडे के फ़ैसले बड़े मशहूर थे। और हाईकोर्ट से उनकी बार बार तारीफ़ होती थी। बम्बई हाईकोर्ट के सबसे प्रख्यात चीफ़ जस्टिस सर माइकेल वेस्ट्रोप ने एक बार रानडे की फ़ैसले की अपील में बहस सुनते हुए यह कहा था कि "इस फ़ैसले के लिखने वाले मेरे साथ हाईकोर्ट के जज की कुरसी पर बैठने के योग्य हैं।" नौकरी से निवृत्त होकर जब वेस्ट्रोप साहब विलायत चले गये तो वहाँ से उन्होंने रानडे को एक प्रशंसा-पत्र १५ नवंबर १८८४ ई० को भेजा था, जिसमें लिखा था कि "चीफ़ जस्टिस होने के कारण मैंने रानडे के फ़ैसले बराबर कितने ही वर्ष तक देखे और मैं यह कह सकता हूँ कि बम्बई प्रान्त में जितने सब-जज हैं उनके फ़ैसलों से रानडे के फ़ैसले बुद्धिबल और क़ानून की लियाक़त में सबसे बढ़कर हैं। रानडे अपने काम को अच्छी तरह करना बड़े गौरव की बात

समझते हैं और इसका फल भी ऐसा हुआ है जैसा कि ऊपर कहा है।" यह इशारा इस बात का है कि इस समय रानडे पूना के ख़फ़ीफ़ा जज हो गये थे।

सन् १८६९ ई० के सिविलकोर्ट के क़ायदे के मुताबिक़ ज़िला जज के भेजे हुए सब-जजों के फ़ैसलों की अपील पहले दरजे के सब-जज को सुनने का अख़्तियार था। मगर यह अख़्तियार रानडे को ही पहले मिला था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि रानडे ने अपील फ़ैसिल करने में भी ऐसा नाम पाया था जिससे उनकी ख्याति और भी बढ़ गई।

उन दिनों एक नया क़ायदा बना था कि एक सब-जज को पाँच बरस से ऊपर एक ही जगह न रखना चाहिए। इसके अनुसार सन् १८७८ ई० में रानडे की बदली पूना से नासिक को हो गई। एक जगह बहुत दिन तक काम करने में वहाँ के लोगों से विशेष परिचय हो जाता है और ऐसा सम्भव हो जाता है कि लोगों के सब तरह के दबाव पड़ने लगते हैं। इसी कारण ऐसा क़ायदा रक्खा जाता है। रानडे के लिए सरकार वा प्रजा की ओर से ऐसी कोई शङ्का नहीं हो सकती थी परन्तु क़ायदे के मुताबिक़ उनकी भी बदली हुई।

नासिक में रानडे डेढ़ बरस से ऊपर नहीं रक्खे गये। सन् १८७९ ई० की पहली जुलाई को खानदेश ज़िले में—जो और ज़िलों में सबसे पीछे था—धूलिया नाम की अप्रसिद्ध जगह उनकी बदली हो गई। पहले दरजे के सब-जजों की बदली

करने में सरकार हाईकोर्ट से राय लिया करती है परन्तु ऐसा कहा जाता है कि रानडे की बदली में ऐसा नहीं हुआ था। इतना ही नहीं बल्कि हाईकोर्ट ने इस बात पर प्रतिरोध भी किया परन्तु उस समय के गवर्नर सर रिचर्ड टेम्पिल के राजकीय मामलों में स्वेच्छाचार के कारण बदली कर ही दी गई। इसका क्या कारण था, इस सम्बन्ध में राव बहादुर मानकर लिखते हैं कि पूने के शहर या ज़िले में ज़मींदारी के वा जाति, धर्म सम्वन्धी कोई झगड़े हों वा बलवे और दंगे हों तो बिना कारण ही सरकार पूना के ब्राह्मणों को दोषी समझ लिया करती है और यह समझती है कि यह ब्राह्मण सरकार के विरोधी हैं। अभाग्य-वश ऐसी शङ्का सरकार की ओर से वहम के कारण हुआ करती है। एक ऐसी घटना सन् १८७८-७६ ईसवी में भी हुई थी। वासुदेव बलवन्त फड़के नाम का एक भ्रमित-मन पागल ब्राह्मण था। उसने शिवाजी की तरह अपना नाम पैदा कर उसी ढंग से मराठा राज्य की पुनः स्थापना का विचार प्रकट करना आरम्भ किया था। इस असम्भव कार्य के साधन हेतु उसने थोड़े से डाकू और ठगों को इकट्ठा किया और दूर दूर अरक्षित गाँवों में डाके डालने लगा। परन्तु सरकार ने इस गड़-बड़ को बड़ी सुगमता से एक फ़ौज भेज कर बन्द कर दिया। और धीरे धीरे फड़के की टोली के आदमियों को पकड़ लिया और उसको स्वयं भी पकड़ कर अदन भेज दिया। वहाँ जाकर भी उसने एक बार भाग निकलने का निष्फल प्रयत्न किया और

अन्त में वह मृत्यु-शरण हुआ। सरकार को यह शङ्का हुई थी कि फड़के को पूना के ब्राह्मणों से अपने राज्य-विद्रोह में सहायता मिली थी। सन् १८७९ ईसवी में पेशवा का बुधवार-वाड़ा नाम का महल और विश्रामबाग़, जिसमें सरकारी मदरसा था, एक दिन मई महीने में किसी के आग लगाने से जल उठा। सरकार ने इस घटना को भी फड़के की राज्य-द्रोही कार्यवाही के सम्बन्ध में समझा। परन्तु पूना के ब्राह्मणों के भाग्य-वश ऐसा हुआ कि फड़के के पास एक फ़हरिस्त मिली जिसमें उसने अपने सब कामों का हाल लिखा था और जिन लोगों से उसको धन इत्यादि की सहायता मिली थी उनके भी नाम लिखे थे। इससे साफ़ मालूम हो गया कि पूना के ब्राह्मणों ने उसको कोई सहायता नहीं दी थी और न उसके साथ उनकी सहानुभूति ही थी। यह भी सब जान गये कि पेशवा के महल को जलाने में उसका कुछ भाग नहीं था। यह काम 'रानडे' नाम के एक आदमी का था जो सरकारी डिपो की पुस्तकें बेचने का काम अपने दुष्टकृत्य को छिपाने के लिए करने लगा था। महल जलाने वाला 'रानडे' अन्त में रानडे—हमारे चरित-नायक—के प्रयत्न से पकड़ा गया और उसको देश-निकाले की सज़ा हुई। ऐसी राज्य-सेवा करने का बदला रानडे को यह मिला कि नासिक से उनकी बदली एकदम धूलिया कर दी गई! इसका कारण यह था कि आग लगाने वाले ने तो अपने बयान में कह दिया था कि रानडे का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु

फड़के की फ़हरिस्त अभी सरकार के हाथ नहीं लगी थी। और सरकार का वहम अभी दूर नहीं हुआ था। रानडे के ऊपर जो यह आपत्ति आई उसको उन्होंने बड़े धैर्य से सहन किया। श्रीमती रानडे ने इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में कुछ विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि सरकार को रानडे पर कहाँ तक सन्देह था। उनकी चिट्ठियाँ सरकारी लोग खोल कर देख लेते थे और उनकी सब बातों पर छिपी हुई निगाह रखी जाती थी। धूलिया में रानडे को बहुत दिन तक नहीं रहना पड़ा। सन् १८७९ ई० में जब फड़के की फ़हरिस्त पकड़ी गई और रानडे बिलकुल निर्दोषी निकले और उधर सर रिचर्ड टेम्पिल की जगह दूसरे गवर्नर बड़े उदार गुण-परीक्षक सर जेम्स फ़र्ग्युसन आगये तो रानडे सन् १८८१ में बंबई भेज दिये गये और वहाँ प्रेसिडेन्सी मैजिस्ट्रेट के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। यहाँ उन्होंने २१ मार्च १८८१ ई० तक काम किया। यह पद उनको थोड़े दिन के लिए दिया गया था परन्तु इतने दिनों में रानडे ने यह दिखा दिया कि वे केवल दीवानी के काम में ही निपुण नहीं हैं बल्कि फ़ौजदारी के काम और फ़ौजदारी के क़ानून में भी वैसे ही प्रवीण हैं और बेलाग न्यायकर्त्ता हैं। उनके फ़ैसिल किये हुए दो मुक़द्दमों का थोड़ा हाल लिखने से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी।

रानडे ने एक अँगरेज़ को ५० रु० की चोरी करने पर छः महीने की सज़ा दी और एक कोचवान को, जिसने अपने सेठ का दिया

हुआ १०० रु० का नोट भुनाने की जगह अपने काम में बिना मालिक की आज्ञा के ख़र्च कर दिया था, केवल एक महीने की क़ैद की सज़ा दी । इन दोनों मामलों का मिलान करके अँगरेज़ी समाचार-पत्र बड़े बिगड़े और आक्षेप करने लगे कि रानडे ने अँगरेज़ को बहुत कड़ी सज़ा दी है और न्याय और निष्पक्षता को एक ओर रख दिया है । परन्तु थाने के एक सिविलियन जज मि० कथलेन ने 'टाइम्स' में एक पत्र छपवा कर इसका उत्तर इस प्रकार दिया । "ऐसा कोई कारण नहीं है कि देशी मैजिस्ट्रेट पर अन्याय या पक्षपात का दोष आरोपित किया जाय । क्योंकि जिस अँगरेज़ को ५० रु० की चोरी के लिए छः महीने का दंड दिया गया है, वह एक भरा हुआ पिस्तोल लेकर स्टेशन पर गार्ड के कमरे में घुस गया था । और उसने गार्ड की अनुपस्थिति में उसका बकस तोड़ कर ५० रु० के कपड़े चुरा लिये थे । ऐसे मौक़े पर अगर कोई आदमी उसके सामने जाता तो सम्भव था कि चोर पिस्तोल से उसका ख़ून कर डालता । दूसरे मामले में यह बात थी—कोचवान के मालिक ने ख़ुद अदालत से कोचवान की प्रशंसा की थी कि उसने इतने दिन तक बड़ी ईमानदारी और नेकचलनी से नौकरी की है इस लिए उसके इस ठगने के अपराध में थोड़ी सज़ा दी जाय । इस तरह से अलग अलग मामलों में थोड़ी या बहुत सज़ा देने के कारण कोई मैजिस्ट्रेट पक्षपाती या अन्यायी नहीं कहा जा सकता ।"

मैजिस्ट्रेट की जगह काम पूरा कर चुकने पर ३० मार्च १८८१ ई०

को रानडे फिर पहले दरजे के सब-जज होकर पूना गये। यहाँ पर उन्होंने चार महीना काम किया था कि बहुत होशियार सब-जज समझे जाने के कारण दूसरे पद पर तैनात किये गये। सन १८७९ ई० में, दक्षिण के किसानों के सङ्कट निवारण का जो क़ानून बनाया गया था उसके अनुसार पूना और सतारा ज़िलों की माल की अदालतों की जाँच और निगरानी के लिए ९ अगस्त सन् १८८१ ई० को आप स्पेशल फ़र्स्ट क्लास सब-जज बनाये गये और डा० ए० डी० पोलन स्पेशल जज की मातहती में काम करने के लिए नियत किये गये। दक्षिण में पूना, सतारा, अहमदनगर और शोलापुर ज़िलों के किसान अपने पूर्वजों के ऋणों से बहुत ही दबे हुए थे और उसके कारण बिलकुल निर्जीव हो रहे थे। स्वार्थी और चतुर बनिये और सराफ़, किसानों के पास पेट भर अन्न भी नहीं छोड़ते थे जिससे किसान लोग पूर्ण दरिद्री और निराधार हो गये थे। इन दुःखी किसानों के संकट-निवारण के लिए सरकार ने १ नवम्बर सन् १८७९ को एक क़ानून पास किया था। इस क़ानून के उद्देश्य पर पूर्ण लक्ष करते हुए रानडे ने कैसी होशियारी और न्यायबुद्धि से काम किया था, वह डाक्टर पोलन की सन् १८८१ की रिपोर्ट से मालूम होता है। डाक्टर पोलन ने लिखा था "मिस्टर रानडे की बुद्धि की ग्राहक-शक्ति और उनकी तीव्र अवलोकन-शक्ति के कारण उनके अभि-प्राय बड़े महत्त्व के होते हैं।" सन् १८८२ ईसवी की रिपोर्ट में फिर लिखा है, "मुझे कहने की आवश्यकता नहीं है कि

मि० रानडे के विचार इस सम्बन्ध में आदरणीय और ध्यान देने योग्य हैं। क्योंकि वे अपनी स्वाभाविक अवलोकन-शक्ति से उपस्थित विषय-सम्बन्धी सब बातों की बिगत बड़ी सुगमता से समझ लेते हैं।"

१८८४ ईसवी की २७ फ़रवरी को रानडे १२०० रु० मासिक की ख़फ़ीफ़े के जज की, जगह नियत किये गये। यह पद इतना ऊँचा होता है कि सब-जज अपनी नौकरी के अन्त में वहाँ तक पहुँचने की आशा कर सकता है। सरकार जिनके काम से प्रसन्न हो उन्हीं को यह जगह मिल सकती है। सब-जजी की जगह आपने जिस प्रकार अपना कर्त्तव्य का पालन उत्तमता से किया था वैसे ही ख़फ़ीफ़ा के जज के पद पर भी किया। अपील-कोर्ट के बंधनों से मुक्त होकर रानडे को न्याय करने का अवसर मिला। क़ानून की असंख्य बारीकियों और उनकी पाबन्दी के कारण न्यायाधिकारी शुद्ध और सरल न्याय नहीं कर सकते। यह बात सच हो वा न हो, परन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि सब-जज या ज़िला-जज को अपने फ़ैसले में जितने कारण देने पड़ते हैं उतने ख़फ़ीफ़ा के जज को नहीं देने पड़ते। इसमें कोई सन्देह ही नहीं है कि रानडे इस पद के लिए सर्वथा योग्य थे। परन्तु यहाँ उन्होंने थोड़े ही दिन काम किया। डाक्टर पोलन, जो कि किसानों के संकट-निवारण करने की व्यवस्था के अनुसार स्पेशल जज्ज बनाये गये थे और जिनकी मातहती में रानडे ने काम भी किया था, छुट्टी पर विलायत चले गये। और जाते समय सर-

कार से प्रार्थना कर गये कि रानडे को, उनकी बुद्धिमत्ता के कारण और वे किसानों के स्वत्व की रक्षा के लिए सर्वथा योग्य हैं इस लिए उनको ही मेरी जगह काम करने के लिए नियत किया जाय। डाकूर पोलन को उनके काम से ऐसा सन्तोष हुआ था कि वे रानडे के लिए बड़ा उच्चभाव रखते थे। स्पेशल जज होकर रानडे ने कैसा काम किया, इस बात के वर्णन करने से पहले यह कह देना आवश्यक है कि जब वे पूना के ख़फ़ीफ़ा जज थे तो साथ साथ डेकन कालिज में क़ानून के अध्यापक का भी काम करते थे। सन् १८८५ ईसवी के पहले चार महीने उन्होंने अध्यापक का काम किया परन्तु इस सम्बन्ध में एकाउन्टेन्ट-जनरल ने यह कहा कि एक सरकारी अफ़सर दो जगह का वेतन एक साथ नहीं पा सकता। इस आपत्ति के कारण रानडे को अध्यापक का कार्य छोड़ना पड़ा। यदि ऐसा न होता तो पूना के क़ानून के विद्यार्थी उनकी विशाल बुद्धि और क़ानून के अगाध ज्ञान से विशेष समय तक लाभ उठाते।

३० नवम्बर १८८५ से लेकर १८९३ तक, जब रानडे हाई-कोर्ट के जज हो गये, तब तक सिवाय थोड़े दिनों के वे बराबर स्पेशल जज की जगह पर रहे। थोड़े दिनों तक इस पद पर काम न करने का कारण यह था कि १३ अप्रेल १८८६ को सरकार ने उनको फ़िनान्स-कमिटी का सभासद बनाया था। यह कमिटी भारत-सरकार ने इस लिए बैठाई थी कि सरकारी ख़र्च में कहाँ

तक अपव्यय होता है और उसमें कोई बचत की जा सकती है या नहीं, इस बात की जाँच करे।

अब रानडे ने स्पेशल जज होकर जो काम किया, उसकी आलोचना करनी चाहिए। जब कि उनको डाकृर पोलन का सहकारी बनाया गया था तो उन्होंने अपना कर्त्तव्य बड़ी सावधानी और परिश्रम से पालन किया था। किसानों के लिए यह जो व्यवस्था की गई थी उसका यथावत् उपयोग करने में रानडे जो सूचना करते थे उसको उनके अफ़सर मानते अवश्य थे परन्तु रानडे थे तो डाकृर पोलन के सहकारी और मातहत। जब रानडे स्पेशल जज हो गये तो उनको विशेष स्वतन्त्रता मिल गई जिससे कि वे अपनी समझ के अनुसार व्यवस्था का पूर्ण लाभ किसानों को दे सके। सरकार का अभिप्राय यह ही था कि इस व्यवस्था के आधार से निर्धन किसानों की दशा जहाँ तक हो सके सुधारी जाय। कुछ लोग इस व्यवस्था को अच्छा समझते तो दूसरे, जिनकी राय भी विचारने और मानने योग्य कही जा सकती थी, इस व्यवस्था से एक पक्ष अर्थात् किसानों को लाभ बतलाते। उनका यह कहना था कि किसानों को तो इससे लाभ अवश्य है परन्तु इसके कारण किसान और बनिये के बीच जो मुआहिदा होता है उसमें सरकार का हस्तक्षेप करना ठीक नहीं। साहूकार लोग जो किसानों को तङ्गी के समय रुपया देकर मदद करते हैं, सरकारी रुपया अदा करने के समय किसानों का काम निकाल देते हैं उनको इस व्यवस्था से अवश्य

हानि होगी और सरकार किसानों का विशेष पक्ष कर साहूकारों के साथ न्याय-दृष्टि से बर्ताव नहीं करती। इस क़ानून के अमल में आने के कितने ही वर्ष बाद इसमें सुधार करने की जब आवश्यकता समझी गई तो हाईकोर्ट के एक जज—जो बाद में गवर्नर की कार्यकारिणी सभा के सभासद हो गये थे—कहने लगे कि इस क़ानून का सुधार यही हो सकता है कि यह बिलकुल ही रद्द कर दिया जाय। परन्तु मि० रा० ब० मानकर का कथन है कि यह राय ठीक नहीं थी क्योंकि २० वर्ष तक यह व्यवस्था रहने से यह बात अनुभव-सिद्ध हो गई कि किसानों को इससे इतना लाभ हुआ कि क़ानून बनाने वालों को भी आशा नहीं थी। तब इस बात की आवश्यकता समझी जाने लगी कि जिन ज़िलों में ऐसी व्यवस्था नहीं है वहाँ के लिए भी ऐसा ही क़ानून होना चाहिए। कितनी ही बार सरकार ने कमिटी बिठा कर इस बात की जाँच कराई कि यह क़ानून किस तरह अमल में लाया जाता है और उसका परिणाम क्या होता है। इससे यह मालूम हुआ कि किसानों की साख में कुछ भेद नहीं हुआ अर्थात् साहूकार लोग उनको रुपया देने में विशेष जोखों नहीं समझते। सामान्य स्थिति के जो किसान हैं उनको अब पहले से कम ब्याज पर रुपया आसानी से उधार मिल जाता है। जो व्यर्थ ऋण लेकर रुपये का दुरुपयोग करते थे और अपव्यय करते थे वे ऐसा नहीं करने पाते। जिन किसानों के पूर्वजों के समय का ऋण

बढ़ता चला जाता था वे अब अदालत से तै हुई वाजिबी क़िस्तों में सुगमता के साथ रुपया चुकाते चले जाते हैं। इस बात का अब भय नहीं रहा कि खेत की सब उपज साहूकार ले लेगा और घर में खाने को भी नहीं छोड़ेगा। सब प्रकार से व्यवस्था ने किसानों की दशा को बहुत सुधार दिया है और साथ ही साहूकार की कोई बड़ी हानि नहीं हुई है। उनका रुपया थोड़ा थोड़ा चुकता चला जाता है और अब वे अँधाधुन्ध व्याज नहीं ले सकते। कई बार की जाँच से यह बातें मालूम हुईं। किसानों की स्थिति सुधरी, इसका एकमात्र कारण वह व्यवस्था और उसके नियम ही नहीं थे बल्कि उस व्यवस्था को अच्छी तरह काम में लाकर उपयोगी बनाने में डाक्टर पोलन और रानडे का भी बड़ा भारी भाग था। यदि यह दोनों जज इस व्यवस्था का उपयोग सूक्ष्म बुद्धि से न करते और अपने मातहत सब-जजों और पञ्चों पर, जो इस व्यवस्था को अमल में लाते थे, अपनी पूर्ण दृष्टि न रखते तो इसमें इतनी सफलता, जिसको कि अब विपक्षी भी मानते हैं, प्राप्त न होती। इस क़ानून में बहुत सी दफ़े बड़ी टेढ़ी हैं उनका स्पष्टीकरण और उनके सम्बन्ध में सूचनायें डाक्टर पोलन और रानडे को करनी पड़ती थीं, उसके बिना इससे इतना लाभ होना कठिन था। इस क़ानून में एक नियम ऐसा है कि विपक्षी अपने लेन देन के झगड़ों को बिना अदालत की सहायता के पंच से भी तै करा सकता है। इस नियम की उपयोगिता सिद्ध करने और उसको लोकप्रिय बनाने का

सम्मान डाक्टर पोलन से भी अधिक रानडे को प्राप्त है। पहले ऐसा समझा गया था कि पंचायत की व्यवस्था निरुपयोगी और निरर्थक है। क्योंकि उस समय हर एक ज़िले में ऐसे प्रामाणिक सज्जनों का मिलना, जो आपस में झगड़ा तै करा दें और पंच बन जायँ, बड़ा कठिन होता था। ऐसे भरोसे के आदमी मिलते नहीं थे जो पंच का काम पक्षपात-रहित होकर न्याय-बुद्धि से करें। और जिन लोगों को पंच बनाया गया उनमें से कितने ही प्रामाणिक नहीं निकले। इसी कारण डाक्टर पोलन को यह शङ्का उत्पन्न हो गई थी कि इस पंचायत की व्यवस्था से विशेष सहायता नहीं मिल सकती। परन्तु रानडे ने इस पक्ष के विरुद्ध पंचायत को उपयोगी बनाने में निरन्तर प्रयत्न किया। और इस काम में रानडे को सफलता भी अवश्य हुई जैसा कि अँगरेज़ जज ने, जो इनके बाद नियत किया गया था, सन् १८९३ ईसवी की अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया है। रानडे पंचायत के हिमायती इस कारण से थे कि विपक्षियों का इसमें धन कम व्यय होता है, शान्ति से झगड़ा निपट जाता है। अदालत में जाने पर दोनों में मनोमालिन्य हो जाता है और एक दूसरे के परम द्वेषी हो जाते हैं। यह बात पंचायत में नहीं होने पाती। और बड़ी बात तो यह है कि आपस के झगड़े निपटाने और विपक्षियों को समाधान करने में एक प्रकार की चतुराई लोगों को आजाती है। यह सम्भव है कि कोई पंच अनुभव न होने से वा लोभ लालच के वश वा भूल से न्याय न

कर सकें परन्तु जहाँ एक से अधिक लोगों को पंचायत में बिठाया जाता है वहाँ वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग कभी नहीं करेंगे। रानडे का यह अभिप्राय था और उन्हीं की देख रेख और परिश्रम से पंचायत की पद्धति लोगों को बड़ी लाभकारी जान पड़ी है।

जब रानडे स्पेशल जज थे तो उनको कुछ मुक़द्दमों की निगरानी के भी अख़्तियारात थे। जो मुक़द्दमे निगरानी में इनके सामने आते उनके काग़ज़ात सबूत बड़ी अच्छी तरह देखते और तब फ़ैसला देते थे। प्रायः इनके फ़ैसले लम्बे होते थे और उनमें नई बहस और नई दलील भी हुआ करती थी। रानडे क़ानून के शब्दों पर ही ध्यान नहीं देते थे, शुद्ध न्याय करने के लिए असली बात पर पूरा विचार करते थे। सब-जजों के फ़ैसले लौट भी देते तो भी सबजजों को अवश्य सन्तोष होता था। रा० ब० मानकर के कथन से यह बात यथार्थ सिद्ध होती है। इसी कारण से यह कहा जाता है कि रानडे के परिश्रम और विचारपूर्वक काम करने से किसानों की दशा सुधारने में व्यवस्थापकों की आशा से भी विशेष सफलता प्राप्त हुई।

बम्बई हाईकोर्ट के सुविख्यात जज, माननीय न्यायाधीश काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग का ४२ वर्ष की पूर्ण युवा अवस्था में, सन् १८९३ ईसवी की पहली सितम्बर को, देहान्त हो गया। उन्होंने पहले तो एक बड़े सुयोग्य वकील होकर और फिर हाईकोर्ट के

जज होकर बड़ी कीर्त्ति पाई और यश सम्पादन किया था। उनकी असामयिक मृत्यु से सब जगह लोग शोकातुर हो उठे थे। उनके देहान्त से हाईकोर्ट में न्यायाधीश का जो पद ख़ाली हुआ उस जगह सरकार ने रानडे की सेवा से प्रसन्न होकर उनकी नियुक्ति की। यह समाचार सुनते ही लोगों को बड़ा ही आनन्द और सन्तोष हुआ। और जब देश में सर्वत्र इस बात पर आनन्द मनाया जा रहा था तब रानडे ने १३ नवम्बर १८६३ को उस पद का चार्ज ले लिया। इस महत्त्व के पद पर पहुँचने से रानडे की कीर्त्ति इस प्रकार चारों ओर फैलने लगी जैसे एक ढके हुए रत्न को प्रकट करने पर प्रकाश फैलता है। दक्षिण ही नहीं, बल्कि बम्बई प्रान्त आदि समस्त भारतवर्ष के लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा। अब तक रानडे का काम देख कर लोगों को उनकी ओर से बड़ी आशा उत्पन्न हो गई थी। उन सब आशाओं को रानडे ने अपनी कुशलता और दीर्घदृष्टि से सफल किया। मन और मस्तिष्क की उत्तम शक्ति, सूक्ष्म अवलोकन, सत्यासत्य की शोध-शक्ति, दयालु अन्तःकरण, उत्तम प्रकार की गम्भीर न्यायबुद्धि, अविश्रान्त परिश्रम, अत्यन्त विनय, निर्विवाद प्रामाणिकता, अविच्छिन्न शान्ति, अद्भुत धैर्य, क़ानून का विशाल ज्ञान—इन सब गुणों के सदुपयोग से रानडे एक सुप्रसिद्ध और न्यायासन के भूषण रूप न्यायाधीश हो गये थे। उन्होंने सात वर्ष तक हाईकोर्ट की जजी पर काम किया पर वकील-मण्डल में से कोई ऐसा नहीं जो यह कह सके कि इस बीच में उनकी

वाणी से कभी कोई कटु शब्द निकला हो । उनके फ़ैसले हाई-कोर्ट के दूसरे जजों के फ़ैसलों से किसी तरह कम नहीं हैं । यह भी कहा जाता है कि जब किसी मामले पर अपने साथी जज से उनका मतभेद होता और उस पर तीसरे जज की राय ली जाती तो वह प्रायः रानडे के मत का ही समर्थन करता । रानडे को फ़ौजदारी की अपीलों के अलावा दूसरी अपीलें, अपने काम से अधिक, जब फ़ैसिल करने को दी जातीं तो उस काम को वे प्रसन्नतापूर्वक करते । इस प्रकार अपने साथी जजों और चीफ़ जस्टिस के वे प्रीतिपात्र बन गये थे ।

हाईकोर्ट की ४००० रु० मासिक की जजी के पद पर रानडे ने जब से चार्ज लिया तब से मरण पर्यन्त उसी पर काम किया । सन् १६०० ईसवी के अन्त में एक महीने की छुट्टी ली थी और इससे पहले कभी छुट्टी भी नहीं ली । ८ जनवरी १६०१ से उन्हें अस्वास्थ्य-वश छः महीने की छुट्टी लेने की आवश्यकता हुई थी परन्तु इसको एक सप्ताह ही भोगने पाये थे कि १६ जनवरी सन् १६०१ को उनका शरीरान्त हो गया । जैसा कि माननीय सर लारेन्स जैन्किन्स चीफ़ जस्टिस (कलकत्ता हाईकोर्ट) ने कहा था, रानडे यकायक काल के निर्दय हाथों में बड़ी भयङ्कर रीति से फँस गये थे ।

ऊपर कहा जा चुका है कि रानडे को किसी मामले में कोरा शब्दों पर और क़ानून की निरर्थक बारीकियों पर विचार करने से यह बहुत उचित मालूम होता था कि शुद्ध

न्याय के मूलतत्त्व के आधार पर सत्य बात खोज निकाली जाय। यह बात उनके फ़ैसलों से मालूम होती है। जब वे सब-जज थे तब से ही यह उनका नियम था कि मामले में सब काग़ज़ पत्रों को अच्छी तरह देख असली बात को समझ कर उसको याद रखते थे। काम से वे कभी घबराते नहीं थे। छोटे बड़े सब तरह के मामलों पर एक सा ध्यान देते थे। इससे उनको स्वयं बड़ी मेहनत करनी पड़ती थी और कभी कभी वकील लोग भी घबरा जाते थे परन्तु उनको न्याय करने में बड़ी सुगमता हो जाती थी। ज़िले के वकील लम्बी लम्बी बहस करते और बिना प्रयोजन की बात भी कहते तो भी वे उसे शान्त-चित्त से सुन लेते और कभी अप्रसन्न न होते, न घबराते।

जुदे जुदे पदों पर रह कर रानडे ने अपने कर्त्तव्यपालन में अपने असाधारण गुणों और शक्तियों का कैसा उपयोग किया था, इस बात को विशेष रूप से स्पष्ट समझाने के लिए उनके अगणित फ़ैसलों में से दो का वर्णन किया जाता है।

जब रानडे पूना में पहले दरजे के सब-जज थे तो उनके एक फ़ैसले की अपील हाईकोर्ट में चीफ़ जस्टिस सर माइकेल वेस्ट्रोप साहब के इजलास में हुई थी। चीफ़ जस्टिस ने अपने फ़ैसले में (इन्डियन ला-रिपोर्ट—४ बम्बई—१२६) लिखा था "पूना के फ़र्स्ट क्लास सब-जज (रानडे) ने जो मुआहिदे को पूरा करने का हुक्म दिया है वह फ़ैसला उनकी विद्वत्ता, बुद्धिबल और उद्योग का अच्छा नमूना है"। ऐसे ही एक और अपील में इन्हीं साहब

ने रानडे के लिए कहा था कि "यह फ़ैसला ऐसे सज्जन का किया हुआ है कि जो मेरे साथ (हाईकोर्ट में) बैठने योग्य हैं"।

ऊपर का मामला यह था कि मुद्दई ने, जो कि एक माली था, एक मेम से १४,००० रु० में एक बाग़ ख़रीदने का मुआहिदा किया था और बयाने में १००० रु० देकर मेम साहब से रसीद ले ली थी परन्तु रसीद की रजिस्ट्री नहीं कराई थी। बाद में मेम साहब को बाग़ के दाम ज़ियादा मिलने लगे तो उनकी नियत बदल गई और उन्होंने एक तीसरे आदमी को, जिसे माली से वायदा होने की ख़बर नहीं थी, बाग़ बेच दिया और बैनामे की रजिस्ट्री करा ली। रानडे के सामने जब मुक़द्दमा आया तो उनको मालूम हुआ कि मेम साहब ने माली को धोखा देकर दूसरे को बाग़ बेच दिया है और माली को हानि पहुँचाने के लिए बैनामे की रजिस्ट्री करा दी है। क़ानून रजिस्ट्री की ४८ दफ़े के अनुसार रजिस्ट्री-शुदा बैनामे बिना रजिस्ट्री किये हुए बैनामे के मुक़ाबिले में माने जाते हैं। परन्तु इसका अनुचित लाभ मेम साहब को और दूसरे ख़रीदार को मिलता था। इसलिए रानडे ने क़ानून के शब्दों का विचार छोड़ कर ठीक ठीक न्याय किया और मुद्दई का दावा डिगरी करके बैनामा, जो दूसरे आदमी के हाथ में हुआ था उसको, रद कर दिया। यही फ़ैसला हाईकोर्ट से जैसा कि ऊपर लिखा है बहाल रहा था।

एक धोखेबाज़ी के मामले में रानडे का फ़ैसला बेचारे

अनपढ़ किसानों के लिए आशीर्वाद रूप हो गया है। दक्षिण में अकसर साहूकार लोग अपने रुपये के बदले में किसानों से उनकी ज़मीन का बैनामा लिखा लेते थे। और किसानों को यह धोखा दे देते थे कि यह रहननामा है, बैनामा नहीं। रुपया वसूल होने पर धरती फिर किसान को मिल जायगी। जब ऋणी किसान रुपया चुका कर अपनी धरती वापिस माँगते तो साहूकार कह देते कि उनका धरती पर अब कुछ हक़ ही नहीं रहा और वह तो साहूकारों के हाथ बिक गई। रहन नहीं थी बल्कि बिकी थी। जो अदालत में जाकर नालिश करें तो क़ानून शहादत के मुताबिक़ लिखी दस्तावेज़ के ख़िलाफ़ गवाही नहीं दे सकते। और इसलिए अपना हक़ साबित नहीं कर सकते थे। सन् १८७९-८० ईसवी में जब रानडे धूलिया में थे और उनको अपील सुनने का अधिकार था तो ऐसा ही एक मामला उनके सामने अपील में आया। अदालत मातहत ने तो क़ानून शहादत के अनुसार मुद्दई का दावा डिसमिस कर दिया था परन्तु रानडे ने इस फ़ैसले को लौट कर एक बड़ी अच्छी तजवीज़ लिखी। अपील का फ़ैसला खरे न्याय की दृष्टि से बिलकुल ठीक था और मुद्दई किसान के हक़ में था। हाईकोर्ट ने भी इस फ़ैसले को बहाल रक्खा। यह फ़ैसला इन्डियन ला रिपोर्ट ४ बम्बई सफ़ा ५९४ में छपा हुआ है। इससे किसानों को बड़ा लाभ पहुँचा है। रानडे की शुद्ध न्याय करने की पद्धति सहज में जानने के लिए—चिंचवडे का दत्तक का मामला,

सरंजाम में स्त्री का अधिकार वाला, मुसलमानों के वक़्फ़ का मामला और श्रीमती बयाबाई के अन्न-वस्त्र का मामला—ऐसे कितने ही देखने योग्य हैं परन्तु स्थान के सङ्कोच से उनका वर्णन नहीं किया जा सकता।

हाईकोर्ट में जो फ़ैसले रानडे ने दिये हैं उनमें सबसे महत्त्व के इन्डियन ला रिपोर्ट बम्बई में सन् १८९३ से लेकर १९०१ तक निकले हैं। यह सब फ़ैसले—,जैसा कि रानडे के मरने पर चीफ़ जस्टिस ने कहा था, रानडे की निपुणता, ज्ञान, गम्भीर न्याय-बुद्धि और निर्मल बुद्धि के स्मरण-स्तम्भ-रूप गिने जायँगे। इनमें से केवल एक मामला "मलिका मौअज़्ज़िमा बनाम कहान जी" के बारे में थोड़ा सा लिखना उचित है। यह ई० ला० रिपोर्ट १८ बम्बई ७५८ में छपा हुआ है। यह मामला बम्बई के सन् १८९३ ईसवी वाले बलवे की एक चिनगारी है। इस बलवे का हाल कहानजी धर्मसिंह ने गुजराती की एक कविता में वर्णन किया था और उसको प्रकाशित भी किया था। इस काव्य में प्रसङ्ग-वश 'घाटी' और 'कामाटी' जाति के हिन्दुओं की, जो मुसलमानों के विरुद्ध लड़े थे, प्रशंसा की गई थी। काव्य में जिन दो पंक्तियों पर सरकार ने आपत्ति की थी वह यह हैं:—

"ईश्वर यश तमने आपे, आनंदे निशि दिन थापे;
फरी लड़ो देशहितसाटी, धन धन लोको कामाटी,

मरवा थी शुं डरवुं, भाई, मरवा थी शुं डरवुं,
मोडु वे' लूं एकजवेला, छे माणसने मरवुं"

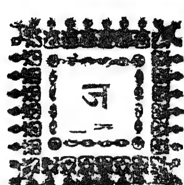
(अर्थ) धन्य है तुमको कामाटी लोग ! ईश्वर तुमको यश दे और प्रतिदिन आनन्द दे। तुम देश के लिए फिर लड़ो। मरने से क्या डरना है। जल्दी या देर में मनुष्य को मरना अवश्य है।

'घाटी' और 'कामाटी' लोगों को 'फरी लड़ो' के शब्दों से बलवा करने में उत्तेजित करने का अपराध कहानजी कवि और प्रसिद्धकर्त्ता 'पुस्तकोत्तेजक मण्डली' पर सरकार ने लगाया था। और दण्डशास्त्र के अनुसार प्रेसीडेन्सी-मजिस्ट्रेट ने इन दोनों को दोषी ठहराया था। हाईकोर्ट में अपील न्यायाधीश रानडे और जार्डीन के सन्मुख की गई। उन्होंने अपना फ़ैसला यह दिया था "जिन पंक्तियों पर सरकार का आक्षेप है उनका अर्थ सम्पूर्ण-काव्य के आधार से समझना चाहिए। काव्य का सामान्य-भाव शान्ति और समाधान का है। आदि से अन्त तक काव्य में इस बात पर दुःख और खेद प्रकट किया गया है कि बलवा हुआ और उसके कारण कितने ही लोग मरे और चोटें आईं। कवि ने हिन्दू और मुसलमानों में मेल और शान्ति होने के लिए बार बार शिक्षा दी है। और उसका अभिप्राय हिन्दुओं को उत्तेजना देने का वा मुसलमानों से बलवा कराने का कहीं नहीं मालूम होता। 'फरी लड़ो' यह शब्द आक्षेप के योग्य अवश्य हैं। परन्तु इन दो शब्दों के ऊपर पूरी कवित्व का अर्थ अनर्थ कर देना उचित नहीं है।" इस फ़ैसले के अनु-

सार दोषी निर्दोषी ठहरे और रानडे ने सब हाल निष्पक्षता से सच्चा सच्चा फ़ैसले में लिखा । अपने फ़ैसले के लिए सबल प्रमाण दिये थे और यह दिखा दिया था कि सरकार की ओर से जो मुक़द्दमा चलाया गया उसमें कोई अच्छा सुबूत नहीं दिया गया। प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट गुजराती भाषा को न जानने के कारण यह समझ बैठे थे कि काव्य बलवाइयों को उत्तेजित करने वाला है। यदि मजिस्ट्रेट साहब गुजराती जानते होते और सम्पूर्ण-काव्य को पढ़ गये होते तो उनका ऐसा विचार न होता। जार्डीन साहब का फ़ैसला भी विद्वत्ता-पूर्ण था और उसमें यथास्थान गुजराती काव्य में से कुछ स्थल उद्धृत करके फ़ैसले को उन्होंने बड़ा रोचक बना दिया था । ऐसा कहा जाता है कि इस मुक़द्दमे में सरकार की हार होने से बम्बई के गवर्नर लार्ड हेरिस बड़े अप्रसन्न हुए थे।

तीसरा अध्याय

नौकरी की प्रशंसा और पूना की सेवा ।



बसे रानडे ने सरकारी नौकरी में प्रवेश किया तबसे बराबर कैसी प्रामाणिकता और एक-निष्ठा से अपना कर्त्तव्य-पालन करते रहे, यह पिछले प्रकरण में कहा जा चुका है। सरकार ने भी उनके काम से प्रसन्न होकर बराबर एक के बाद दूसरा ऊँचा पद दिया था और दूसरी तरह भी उनका सम्मान किया था । विलायत में 'ईस्ट इन्डिया कमिटी' के सम्मुख गवाही देने के लिए अल्पसंख्यक योग्य देशी सज्जनों को सरकार ने चुना था। उनमें से रानडे भी, जिनकी कार्य-कुशलता और दक्षता से सरकार प्रसन्न हो चुकी थी, एक थे। परन्तु रानडे को विलायत जाने के लिए अवकाश मिलने के पहले ही वह कमिटी टूट गई और फिर रानडे भी विलायत न गये। सन् १८८६ ईसवी में जो 'फ़िनेन्स कमिटी' बनी थी और जिसके प्रमुख सर चार्ल्स इलियट थे, उस कमिटी में बड़े लाट लार्ड डफ़रिन ने रानडे को भी नियत किया था। इस कमिटी के सभासद बन कर रानडे को देश में बहुत जगह घूमना पड़ा था। और इस सम्बन्ध में जो उपयोगी कार्य उन्होंने किया उससे

सरकार को पूर्ण सन्तोष हुआ था । इस सेवा के उपलक्ष में स्वर्गवासिनी महाराणी विक्टोरिया ने प्रसन्न होकर रानडे को सी० आई० ई० की उपाधि देकर उनकी सेवा की अच्छी क़दर की थी। दक्षिण के किसानों की दशा सुधारने में उन्होंने कैसा योग दिया था, इस बात का भी उल्लेख ऊपर हो चुका है। रानडे की सन् १८८३ ईसवी की वार्षिक रिपोर्ट पर जो सरकारी मन्तव्य प्रकाश हुआ था वह इस प्रकार था—"किसानों के सब कष्टों का निवारण तो इस क़ानून से सम्भव नहीं है परन्तु इतना अवश्य हुआ है कि किसान लोग अब अल्पव्ययी हो गये हैं और व्यर्थ धन नहीं व्यय करते। इस बात को सब लोगों ने स्वीकार भी किया है । गवर्नर और उनकी सभा को आशा है कि मिस्टर जस्टिस रानडे की अध्यक्षता में, जैसा कि सन्तोष-जनक परिणाम इस व्यवस्था का हुआ है वैसा ही मिस्टर जापना के परिश्रम का भी फल होगा"। मिस्टर जापना सिविल जज थे जो रानडे के बाद स्पेशल जज की जगह नियत किये गये थे। सर माइकेल वेस्ट्रोप, चीफ़ जस्टिस, रानडे के प्रति बड़ा उत्तम भाव रखते ही थे। सरदार गोपालराव हरि देशमुख, जो पहले ही देशी जांइट जज बनाये गये थे—क्योंकि यह पद अँगरेज़ सिविलियन को ही दिया जाता है—उनके देहान्त होने पर सर वेस्ट्रोप ने नासिक में यह पद रानडे को दिये जाने के लिए सरकार से सिफ़ारिश की थी । परन्तु बम्बई के गवर्नर सर रिचर्ड टेम्पिल पूना में गोलमाल होने के कारण वहाँ के ब्राह्मणों

से अत्यन्त अप्रसन्न हो गये थे और रानडे को भी सन्देह की दृष्टि से देखते थे। इस कारण सर वेस्ट्रोप की सिफ़ारिश का कुछ नतीजा न निकला। परन्तु रानडे सरकार के कैसे सच्चे सेवक थे और उन्होंने झूठा सन्देह होने पर भी अपना कर्त्तव्य कैसी दृढ़ता से पालन किया था, इन सब बातों का वर्णन ऊपर हो चुका है। सर रिचर्ड टेम्पिल के चले जाने पर जो दूसरे गवर्नर—सर जेम्स फ़रग्युसन, लार्ड रे और लार्ड हैरिस—आये उनके समय में रानडे के साथ योग्य न्याय किया गया। वे धूलिया से पूना को फिर बदल कर आ गये और एक पद के बाद दूसरा चढ़ता हुआ पद पाते हुए अन्त में हाईकोर्ट के जज तक हो गये। जिस समय रानडे स्पेशल जज थे तब सन् १८८५ और १८९० में लार्ड रे और लार्ड हैरिस ने उन्हें अपनी धारा-सभा का सभासद तीन बार बनाया था। कौन्सिल में उन्होंने जो काम किया उससे प्रसन्न होकर लार्ड रे ने उनको ६ मई सन् १८८८ को एक पत्र में लिखा था—"मैं आशा करता हूँ कि आपने जो काम कौन्सिल में किया है उसके लिए आप मेरा अन्तःकरण का धन्यवाद स्वीकार करेंगे।" लार्ड हैरिस ने अपने १० मार्च सन् १८९२ के पत्र में लिखा था—"धारा-सभा में आपने बहस में भाग लेकर जो बड़ी सहायता दी है उसके लिए अन्तःकरण से धन्यवाद देने के लिए यह पत्र लिखता हूँ।"

न्यायाधीश काशीनाथ तैलङ्ग की मृत्यु से हाईकोर्ट में जो जगह खाली हुई उसके उम्मेदवारों में सबसे बड़ा हक रानडे का

था और वह भी ऐसा था कि सरकार उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। क्योंकि रानडे केवल साहित्य, धार्मिक सांसारिक राजकीय और अर्थ-शास्त्र के ही बड़े ज्ञाता नहीं थे बल्कि न्याय-विभाग में ऊँचे पदों पर काम कर एक भूषण-रूप हो गये थे। पहले तो लोगों को यह शङ्का हुई थी कि हाईकोर्ट की जगह पर कोई अँगरेज़ सिविलियन या हाईकोर्ट का कोई बैरिस्टर नियत किया जायगा परन्तु अन्त में लार्ड हैरिस ने रानडे के गुणों पर और प्रवीणता पर विचार कर उन्हीं की नियुक्ति की। इससे मालूम होता है कि सत्य की तरह न्याय भी अन्त में विजयी होता है। कहा जाता है कि इस सम्बन्ध में स्वयं लार्ड हैरिस ने रानडे को एक अभिनन्दन-पत्र लिखा था जिसमें रानडे के गुणों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने इस बात पर आनन्द प्रकट किया था कि यह प्रसङ्ग—रानडे की हाईकोर्ट में नियुक्ति—उनके सामने होने का अवसर आया।

सर माइकेल वेस्ट्रोप, जब रानडे सब-जज थे उसी समय से उनको बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। जब बम्बई हाई-कोर्ट के सबसे पहले देशी जज नानाभाई हरिदास का देहान्त हुआ तभी रानडे को हाईकोर्ट में स्थान मिलना योग्य था। परन्तु उस समय सर वेस्ट्रोप चीफ़ जस्टिस नहीं थे और उस समय बम्बई के विख्यात और विद्वान् एडवोकेट काशीनाथ तैलङ्ग की ओर सरकार का और हाईकोर्ट के जजों का ध्यान विशेष आकर्षित हुआ था। इसलिए नानाभाई हरिदास की

जगह तैलङ्ग को दी गई। यद्यपि तैलङ्ग ने रानडे के कितने ही वर्ष बाद यूनीवर्सिटी की डिगरी पाई थी परन्तु फिर भी कितनी ही बातों में तैलङ्ग रानडे से बढ़ गये थे। रानडे बड़े ही उद्योगी और विद्वान् थे परन्तु उनको कितने ही वर्ष ज़िलों में रहने के कारण अप्रसिद्ध रह कर समय बिताना पड़ा था। इस कारण से न्याय-विभाग में उन्होंने जो काम किया और एक विद्वान् लेखक की तरह जो शान्ति से काम किया था वह प्रसिद्ध नहीं होने पाया था। दूसरे, तैलङ्ग को प्रजावर्ग का ध्यान भी अपनी ओर खींचने का अच्छा अवसर प्राप्त शा, जो रानडे को नहीं था। इन्हीं सब कारणों से और उनके शान्त एकमार्गी स्वभाव, और बिना प्रयोजन किसी काम में हस्तक्षेप न करने की प्रकृति से उनके गुण गुप्त रहे थे। स्वयं तैलङ्ग का भाव रानडे के प्रति बड़ा ऊँचा था और कभी कभी प्रसङ्ग-वश वे कहा भी करते थे कि रानडे उनसे बुद्धि में बढ़े चढ़े हैं।

जो कुछ भी हो, अन्त में रानडे के साथ न्याय हुआ और उनको हाईकोर्ट में जज का पद प्राप्त हुआ। इस बात में वाद-विवाद की आवश्यकता नहीं है कि रानडे और तैलङ्ग में कौन बढ़ा हुआ था। दोनों ही अपने अपने मार्ग में बहुत बड़े पुरुष थे। दोनों ही बम्बई यूनीवर्सिटी के उत्तम रत्न थे। परन्तु तैलङ्ग ने एक भी परीक्षा पहले वर्ग में पास नहीं की थी और इस कारण अपने भविष्य के अभ्युदय का परिचय नहीं दिया था परन्तु रानडे ने सब परीक्षायें पहले ही वर्ग में पास की थीं और बड़ा

नाम पैदा किया था। दोनों अपने अविश्रान्त परिश्रम और उच्च अभिलाषा के लिए प्रसिद्ध थे । क़ानून के धुरन्धर पण्डित थे। तैलङ्ग ने संस्कृत के अध्ययन में विशेष ध्यान दिया था और इस सम्बन्ध में उनकी कीर्त्ति योरप तक पहुँची थी। रानडे ने किसी एक ही विषय का अभ्यास करने का निश्चय नहीं किया था। उन्होंने जन-समुदाय के लिए सांसारिक और धार्मिक सुधार में, राजकीय उन्नति में, सांपत्तिक स्थिति सुधारने में और ऐसे ही अनेक सार्वजनिक मामलों में पूर्ण ध्यान देकर लोगों को अपने कर्त्तव्य पालन के लिए जागृत किया था। और इसी कारण से वे जन-समुदाय की ऐसी प्रीति-सम्पादन कर सके थे। तैलङ्ग ने एक विख्यात संस्कृत पण्डित, उत्कृष्ट वक्ता, और क़ानून के ज्ञाता होकर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। रानडे अपनी गम्भीर विचार-शक्ति से जिस विषय का अध्ययन वा विचार करते उस पर अपनी विचार-छाप बिठा देते, वे किसी भी विषय पर बिना तैयारी के विचार-पूर्ण भाषण की शक्ति रखते थे। बड़ी त्वरा से लेख लिख सकते और जिस विषय पर विचार करते उसके सम्बन्ध में जानने योग्य सब बातें सांगोपांग कह सकते और उत्तम सरल भाषा में विचार-युक्त सबल कारणों से अपना पक्ष समर्थन कर सकते थे। इस बात को अच्छी तरह जानने के लिए पूना सार्वजनिक सभा के त्रिमासिक मुखपत्र में, जो सन् १८७८ से प्रकाशित होने लगा था, रानडे के बहुसंख्यक लेखों और लेख-मालाओं को देखना चाहिए।

रानडे जब तक स्पेशल जज नहीं हुए थे और वर्तमान बड़ोदा राज्य के अधिपति महाराजा साहब श्रीमन्त सयाजीराव गायकवाड़ नाबालिग़ थे और राज्य का प्रबन्ध दीवान सर टी० माधवराव करते थे, तब माधवराव ने बड़ोदे में चीफ़ जस्टिस का पद २००० रुपया मासिक पर रानडे को देना चाहा था और इसके निमित्त उनसे पुछवाया भी था। इसके बाद महाराजा तुकोजी राव होल्कर और इन्दौर के वर्त्तमान महाराज के पिता ने ३५०० रुपये के मासिक पर अपने यहाँ दीवान की जगह देने को कहा था। 'हिन्द के दादा' दादाभाई नवरोजी जब बड़ोदे में दीवान थे तो उन्होंने भी रानडे को न्याय-विभाग के अधिकारी की जगह पर इन्हें बुलाना चाहा था। परन्तु रानडे ने सर माइकेल वेस्ट्रोप और सर चार्ल्स सार्जेन्ट की सलाह से सब पदों को अस्वीकृत किया। दोनों जजों की सम्मति रानडे के बारे में बड़ी ऊँची थी। उन्होंने यह बात निश्चय-पूर्वक रानडे को जता दी थी कि सरकारी नौकरी में उनकी जल्दी उन्नति होगी और ऊँचे से ऊँचा पद जो भारतवासी को मिल सकता है वह उनको अवश्य मिलेगा। देशी राज्य में जाने से सदा सभय रहना पड़ेगा और इतनी स्वतन्त्रता भी नहीं मिलेगी। सर विलियम वेडरबर्न ने भी ऐसी ही सलाह दी थी और उनको एक पत्र में लिखा था "लोक-हित की ओर दृष्टि रखते हुए यह विशेष वाञ्छनीय है कि आप पूने में रहें। लोक-हित के लिए बुद्धि-युक्त और विवेक-युक्त सार्वजनिक विचारों में पूना भारतवर्ष के सब शहरों

में बढ़ता जाता है। और मुझे पूर्ण विश्वास है कि इसका मुख्य कारण आपकी भव्य व्यक्ति है। यदि यह कारण दूर हो जायगा तो बड़ी हानि होगी।" रानडे स्वयं शान्त स्वभाव थे इस कारण यह सलाह उनको अपनी वृत्ति के अनुकूल मालूम पड़ी। यदि इसके विरुद्ध रानडे किसी देशी राज्य में नौकरी कर लेते तो सर टी० माधवराव, सर सालारजंग और सर राजा दिनकरराव जैसे नीतिज्ञ और राजनीति-विशारदों की छोटी परन्तु अत्यन्त उज्ज्वल नामावली में आप का भी नाम सम्मिलित हो जाता।

सरकार और सरकारी अफ़सरों का रानडे की ओर से कैसा उच्च विचार था और उनकी योग्यता के लिए बड़े बड़े देशी राज्यों की कैसी सम्मान दृष्टि थी यह बात पाठकों को मालूम हो गई है। अब यह देखना है कि समस्त प्रजावर्ग और प्रख्यात देशी तथा अँगरेज़ी सज्जनों का उनकी ओर से क्या विचार था। इसके जानने के लिए यही देख लेना बस होगा कि हाईकोर्ट के जज की जगह नियुक्त होने पर सब लोगों ने उनके इस पद-ग्रहण का कैसा सानन्द स्वागत किया था।

जिस समय यह समाचार लोगों को मिले कि रानडे हाई-कोर्ट के जज हो गये तो बम्बई में लोगों को बड़ा ही आनन्द हुआ। रानडे इस समय शोलापुर में थे। वहाँ उनका सम्मान करने के लिए लोगों ने बड़ी धूमधाम से तैयारी की थी। शोला-पुर के लोगों ने एक बड़ी सभा में रानडे को सम्मानपत्र दिया था जिसमें उनकी प्रशंसा बड़े अच्छे शब्दों में की गई थी।

पूना में जो रानडे का सम्मान हुआ वह एक अपूर्व बात थी। उसका विशेष वर्णन इस अध्याय के अन्त में किया गया है। देश के सब स्थानों से उनके पास अगणित अभिनन्दन-पत्र आये थे। उनके मित्र, शुभेच्छुक और प्रशंसकों ने भी बहुत से अभिनन्दन-पत्र भेजे थे। इतना ही नहीं विलायत से लार्ड रे, सर जेम्स पील, सर रेमन्डवेस्ट, और सर विलियम वेडरबर्न जैसे सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित सज्जनों की ओर से भी बहुत से पत्र आये थे। सर जेम्स पील ने अपने २ नवम्बर सन् १८९३ ई० के पत्र में लिखा था—"हाईकोर्ट में जज की जगह पर आपकी नियुक्ति सुन कर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है। जस्टिस तैलंग की जगह पर नियुक्त होना चाहे जैसा बुद्धिमान् मनुष्य क्यों न हो उसके लिए गौरव का कारण है। परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप उस पद के लिए सर्वथा योग्य हैं। आपने दक्षिण के किसानों के संकट-निवारणार्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में जो बड़ा परिश्रम किया था उसके उपलक्ष्य में यह ऊँचा पद प्राप्त हुआ है। आपको इस उच्च पद पर सफलता हो यही मेरी इच्छा है।"

सर रेमन्डवेस्ट ने भी एक पत्र में लिखा था—"हाईकोर्ट के जज होने के लिए मैं मुबारिकबादी देता हूँ और यह दो चार पंक्तियाँ लिखता हूँ। यदि आज मैं बम्बई सरकार की नौकरी में होता तो हमारे मित्र मि० तैलंग की मृत्यु से जो जगह ख़ाली हुई उस पर आपके लिए कोशिश करता। इस ऊँचे पद पर पहुँच कर आपको देश और साम्राज्य दोनों की सेवा का विशेष अवकाश

मिलेगा । मेरा विचार ऐसा है कि इस समय भारतवर्ष में सब लोगों के मन में एक सी अभिलाषायें और एक से उद्देश उत्पन्न करना आवश्यक है । सरकारी अमलदारी में यह बातें सुगमता से हो सकती हैं । आप राजकीय आन्दोलन में विशेष भाग नहीं ले सकेंगे परन्तु देश की सामाजिक और साम्पत्तिक व्यवस्था के सुधार में आप पूर्ण योग दे सकते हैं । इस प्रकार आप अपनी योग्यता और उच्च पद से अपने देश-भाइयों को बहुत लाभ पहुँचा सकते हैं और सरकार के लिए, जिस के आप एक अवयव रूप हैं, शोभा का कारण बन सकते हैं । एक बार सरकार ने जिसकी उपेक्षा की उस योग्य और विद्वान सज्जन की फिर क़दर होती है इस बात से विद्यार्थी और हिन्दुस्तानी जजों को बड़ा सन्तोष होगा । हाईकोर्ट के हिन्दुस्तानी जज बड़े योग्य होते हैं ऐसा लोगों का विचार है । आप और तैलंग जैसे लोग इस बात की विशेष पुष्टि करते हैं ।"

रानडे के सहाध्यायी और बम्बई की धारा-सभा के सभासद माननीय झवेरीलाल उमियाशंकर याज्ञिक ने एक पत्र में रानडे को लिखा था—"कुछ काल से पूना में जो अनेक प्रकार की प्रवृत्ति देखने में आती है उसके आत्मा—मुख्यपोषक आप ही हैं । मुझे विश्वास है कि आपके सत्संग और दृष्टान्त से दूसरे लोग भी जिन पर आपका असर पड़ा है देशसेवा के लिए तैयार हुए हैं ।" कलकत्ते की सुपरिचित 'अमृतबाज़ारपत्रिका' ने रानडे के लिए हार्दिक आनन्द प्रकट करते हुए इस सम्बन्ध में यह

लिखा था—"इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस बड़े पद पर रानडे की नियुक्ति से देश के जुदे जुदे प्रान्त के लोग प्रसन्न हों क्योंकि रानडे अकेले बम्बई प्रान्त के ही नहीं हैं हरेक प्रान्त उनको अपना समझता है।" कलकत्ते के "इन्डियन मिरर" समाचारपत्र ने लिखा था—"रानडे जैसा बुद्धिमान और समस्त देश की प्रीति और प्रेम का पात्र भारतवर्ष भर में मिलना कठिन है।" इसी प्रकार केवल बम्बई के ही नहीं बल्कि देश भर के समाचार-पत्रों ने एक स्वर से रानडे की नियुक्ति पर प्रसन्नता प्रकट की थी।

रानडे के लिए जो यह असाधारण मान प्रकट किया गया था उसके वे सर्वथा पात्र थे। यह बात उन्होंने अपने उच्च पद सम्बन्धी कार्य से और अपनी न्यायबुद्धि और निपुणता से सिद्ध कर दी थी। अपने कार्यकौशल से सब की प्रीति सम्पादन करते हुए वे हाईकोर्ट के एक आभूषण-रूप हो गये थे।

जीवनकाल में मनुष्य के गुणों का वर्णन होने की अपेक्षा मरने पर होना उन गुणों की सत्यता और यथार्थता को साबित करता है। रानडे के जीवनकाल में बहैसियत जज के उनके कार्यदक्षता आदि गुणों की जो प्रशंसा हुई उसके बाद यंह देखना भी उपयोगी होगा कि उनके स्वर्गवास होने पर शोकोद्गार के प्रसंगों पर उनकी कैसी प्रशंसा हुई थी। हाईकोर्ट की जजी के आसन पर उन्होंने अपना कार्य कैसी उत्तमता और कुशलता से किया था, यह जांनने के लिए उनके साथ के जजों और वकीलों

के जिन्होंने उनके इजलास में काम किया था, भाव उपयुक्त हैं। चीफ़ जस्टिस सर लारेन्स जैन्किन्स (कलकत्ता हाईकोर्ट), एडवोकेट जनरल आन० मि० बेसिल स्कॉट, रा० ब० वी० जे० कीर्त्तिकर और बम्बई प्रान्त के जज इत्यादि का रानडे के लिए कैसा भाव था यह उनके शोकोद्गार से, जो रानडे की मृत्यु पर उन्होंने प्रकट किये थे, सहज में मालूम हो जाता है। चीफ़ जस्टिस, एडवोकेट जनरल और सरकारी वकील के विचार संक्षेप से यहाँ दिये जाते हैं।

चीफ़ जस्टिस ने १७ जनवरी सन् १९०१ ईसवी को, अर्थात रानडे की मृत्यु के दूसरे दिन, हाईकोर्ट में दूसरे जजों—मिस्टर केण्डा, बदरुद्दीन तैयबजी, रसल, क्रो, ह्विटवर्थ और चन्द्रावरकर—के साथ अपने आसन पर विराज कर रानडे के विषय में एडवोकेट जनरल और सरकारी वकील को संबोधन करते हुए इस प्रकार अपने विचार प्रदर्शित किये थे—

"मि० रानडे की मृत्यु से इस हाईकोर्ट को, बम्बई प्रान्त को और, मैं बिना अतिशयोक्ति के कह सकता हूँ कि, सारे भारतवर्ष को जो हानि हुई है उस निमित्त अपना शोक प्रकट करने को हम सब इकट्ठे हुए हैं। यहाँ पर बहुत से सज्जन ऐसे होंगे जिनका परिचय और मित्रता रानडे से मुझ से भी अधिक समय से और विशेष गाढ़ी होगी। थोड़े समय तक उन्होंने इस इजलास में मेरे साथ काम किया था; पर इतने ही समय में कोई भी मनुष्य जिससे उनका संसर्ग हुआ हो वह यह जाने बिना

नहीं रहा होगा कि अपनी उच्च कोटि की मस्तिष्क-शक्ति, गम्भीरता और शुद्ध न्याय करने की तत्परता के कारण वे कैसे असाधारण न्यायाधीश थे। उनकी राय को उनके साथी जज सदा बड़ी मूल्यवान् समझते थे। उनके फ़ैसले उच्च ज्ञान और विद्वत्ता के स्मरणस्तम्भ की तरह सदा रहेंगे। आज हम उनके लिए केवल इसी बात पर दुःखी नहीं हैं कि वे एक असाधारण और बड़े निपुण न्यायाधीश थे। हमारा शोक इस कारण और भी अधिक है कि वे एक महान् और सद्गुणी पुरुष थे। उनका परलोकगमन प्रजा के लिए आपत्ति के समान है। उनका देहान्त भी करुणोत्पादक हुआ है। हमको तो यह आशा थी कि वे थोड़े दिन छुट्टी लेकर आराम पायेंगे और फिर शारीरिक निर्बलता से मुक्त हो हमारे साथ काम करने लग जायँगे। ऐसी दशा में उनका अवसान बड़ी क्रूरता से अकस्मात् हो गया। जिस समय वे साहित्य-विषयक कार्य में लगे हुए थे और बहुमूल्य लेख इत्यादि लिखने में व्यग्र थे, तथा अपने देश में— जिसकी भलाई के लिए उन्हें अपने अन्तःकरण से चिन्ता थी— ऐसे अवसर पर जब अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं और उनके चातुर्य, दीर्घदृष्टि, विवेक और स्वदेश-भक्ति की विशेष रूप से आवश्यकता है उनको यह संसार छोड़ कर जाना पड़ा। अपने उच्च आदर्श और हेतुओं को वे कार्य रूप में परिणत कर सकते थे। और जो सम्मान कि उनको सहज में प्राप्त हुए मालूम होते थे वे वास्तव में उनकी योग्यता और गुणों के कारण थे। वे संसार से चले गये हैं, परन्तु उनकी कीर्त्ति सदा प्रकाशमान रहेगी और

हमारे लिए उनका नाम एक अमूल्य पदार्थ की तरह रहेगा क्योंकि एक सादा, निष्कपट और उच्च जीवन का दृष्टान्त वे हमारे लिए छोड़ गये हैं।"

एडवोकेट जनरल ने अपने उत्तर में जो कहा था उस में से थोड़ा अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि जिन जजों को रानडे के साथ काम करने का अवसर प्राप्त हुआ—जैसे कि जस्टिस जार्डिन और जस्टिस पार्सन्स—उन लोगों का भाव रानडे की न्यायबुद्धि, सत्यासत्य के निर्णय और हिन्दू धर्मशास्त्र के प्रगाढ़ ज्ञान इत्यादि के सम्बन्ध में बड़ा ऊँचा था। उनकी मेहनत तो एक कहावत हो गई थी। शारीरिक निर्बलता के हो जाने पर भी उनके निरन्तर परिश्रम करने की बात सब लोग जानते ही हैं। चतुर न्यायाधीश की तरह तो वे प्रसिद्ध थे ही परन्तु हिन्दूसमाज में नवीन विचारों के उद्भावक और प्रेरक के नाते उनकी कीर्त्ति का विशेष कर स्मरण रहेगा। उनकी बुद्धि और प्रतिभा के लिए दो मत हैं ही नहीं। जिन्होंने लोकहित-सम्बन्धी उनके भाषणों को समय समय पर सुना है या पढ़ा है उनको अवश्य मालूम हो गया होगा कि उनकी मृत्यु से हमने एक ऐसा नेता खोया है कि जिसने समाज-सुधार में पूर्ण उद्योग करते हुए देश की प्राचीन संस्थाओं का बिना विचारे उल्लंघन न होने देने के लिए कैसा प्रयत्न किया है।"

अपील के इजलास में जहाँ रानडे अकेले बैठते थे, सरकारी

वकील रावबहादुर वासुदेव जगन्नाथ कीर्त्तिकर ने वकील-मंडल की ओर से जो जवाब दिया था उसको यहाँ पूरा देना उचित है क्योंकि मि० कीर्त्तिकर को रानडे को एक जज की तरह जानने का पूरा अवसर मिला था। उन्होंने कहा था—"जो कुछ आप लोगों ने रानडे के विषय में कहा है उससे, अपील के इजलास में काम करने वाले हम सब वकील, सहमत हैं। उस महापुरुष के उच्च स्वभाव और सद्व्यवहार के लिए जो हमारे भाव हैं उनको प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। उनके कार्य की प्रशंसा जिन शब्दों से मैं करने योग्य हूँ उनसे भी अच्छे शब्दों में की जा चुकी है। जब कलेजा भरा हुआ होता है तभी शब्दों द्वारा मनुष्य अपने भावों को मुख से कहने को बाध्य हो जाता है परन्तु मैं तो शब्दों के प्रयोग करने में अशक्य हो रहा हूँ। मैं रानडे को जबसे वे कालेज में पढ़ते थे तब से जानता हूँ। और मैं कह सकता हूँ कि उनके विद्यार्थी-जीवन से ही जो आशायें लोगों ने उनके बारे में की थीं वह सब रानडे ने अपने जीवन में फलीभूत कर दिखलाईं। एलफ़िन्स्टन कालेज के विद्यार्थी, जिन्होंने रानडे से पढ़ा है और उनके भाषण सुने हैं, रानडे के विशाल अनुशीलन, तत्वज्ञान, और इतिहास की जटिल समस्याओं के बारे में अच्छी तरह जानते हैं कि उनका कैसा ज्ञान था और उनमें समझाने की कैसी विलक्षण बुद्धि थी। इन सब विद्याओं का पूर्ण ज्ञान होने से लोकहितकारी आन्दोलन में भाग लेने

के लिए वे सर्वथा योग्य और कुशल थे । ऐसी नैसर्गिक मानसिक शक्ति वाले पुरुष चाहे जिस कार्य या व्यवसाय में हाथ लगावें अवश्य सफलता प्राप्त करते हैं । क़ानून का उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया था और न्याय-विभाग में भी ऐसी उच्च प्रतिष्ठा थोड़े काल में सम्पादन की थी कि हाईकोर्ट की जजी के स्थान पर बैठने के योग्य समझे गये थे । उन्होंने न्यायाधीश होकर जो काम किया वह भी बड़ा सन्तोष-जनक और सफलतापूर्ण रहा । मुक़द्दमे की असली हालत जाने बिना कभी वे फ़ैसले नहीं देते थे । और वे किसी बाहरी बात से न्याय करने में अपने मार्ग से विचलित नहीं होते थे । जो वकील उनके सामने काम करते थे उनसे सदा बड़ी मिलनसारी और सभ्यता से बर्ताव करते थे और ऐसी प्रशंसनीय नीति और रीति के कारण वे सब के प्रीतिपात्र बन गये थे । मिस्टर रानडे के परलोकगमन से हमने शुद्ध अंतःकरण का एक मित्र, एक निःस्वार्थी सलाहकार, एक नैसर्गिक विचारशक्ति का पुरुष, कुशल विद्वान्, निपुण तत्त्वज्ञानी, और हर एक प्रकार से व्यवहार-कुशल सज्जन खोया है । निःसन्देह हमारा एक अमूल्य रत्न जाता रहा है और समस्त प्रजा की ऐसी हानि हुई है जिसकी पूर्ति की आशा नहीं है । ऐसे पुरुष के देहान्त से हमें शोक हो रहा है और हम दुखी हो रहे हैं ।"

मिस्टर जस्टिस पार्सन्स, जिन्होंने रानडे के साथ कितने ही वर्ष तक हाईकोर्ट में काम किया था, जब सन् १९००

ईसवी में पेन्शन लेकर विलायत गये तब हाईकोर्ट के वकीलों ने उनको एक मानपत्र दिया था। उस मानपत्र के जवाब में पार्सन साहब ने रानडे के विषय में कहा था—"मैं अपने मित्र मिस्टर रानडे के साथ यहाँ बहुत समय तक बैठा हूँ। इस बात के कहने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है—रानडे के हिन्दूशास्त्र के पूर्ण ज्ञान से और उनके देश-भाइयों के रीति रिवाज के विशाल अनुभव से मुझे कितनी सहायता मिलती थी और काम में कैसी सुगमता होती थी।"

मिस्टर जस्टिस पार्सन्स के जाने के समय 'टाइम्स आफ् इंडिया' समाचार-पत्र ने रानडे के लिए लिखा था—"बहुत वर्ष पर्यन्त जस्टिस पार्सन्स मिस्टर रानडे के साथ हाईकोर्ट में बैठे हैं। इन दोनों का साथ बैठना सदा याद रहेगा और उसको याद करते हुए दुःख होगा। दोनों को एक दूसरे से सहायता मिलती थी। मिस्टर रानडे अपने हिन्दू-धर्म-शास्त्र और क़ानून के प्रगाढ़ ज्ञान और अनुभव का लाभ उनको देते थे। अपने साथी जज को अपने अनुभव से अधिक आवश्यकता होती तो मिस्टर रानडे का देश-ज्ञान इन्साफ़ करने में बड़ा उपयोगी होता था।"

मिस्टर जस्टिस (हाल सर जॉन) जार्डिन ने जो मिस्टर पार्सन्स से पहले रानडे के साथ न्यायासन पर बैठते थे, रानडे की विधवा विदुषी को एक पत्र में रानडे के बारे में लिखा था—" उन्होंने इतिहास और साहित्य दोनों की अच्छी सेवा

की। समाज-सुधार में वे विचारशील और साहसी थे और मैं कह सकता हूँ कि हाईकोर्ट के काम में विद्वान् और कुशल थे। वे ऐसे अनुभवी और परिश्रमी थे कि उनके फ़ैसले अत्यन्त माननीय गिने जाते थे।"

इस प्रकार न्यायासन से रानडे का कार्य बड़ी सफलतापूर्वक हुआ। और यह ऊपर दिये हुए मतों और रायों से मालूम होता है कि उनके काम की एक सी प्रशंसा होती थी। ऐसे ही विचार और सज्जनों ने भी समय समय पर प्रकट किये हैं। हाईकोर्ट के जज होने के पहले रानडे, नौकरी के कारण, बहुत वर्ष तक पूना शहर में रहे थे और उस शहर की उन्होंने अमूल्य सेवा की थी। यह हम ऊपर देख चुके हैं कि सर माइकेल वेस्ट्रोप और माननीय मिस्टर झवेरीलाल आदि ने इस सम्बन्ध में अपने पत्रों में थोड़ा बहुत लिखा है। पूना की सेवा इन्होंने कैसी की और उसके बदले में पूनावासियों ने उनकी कैसी क़दर की, यह लिखना यहाँ उपयुक्त मालूम होता है।

सन् १८७१ ईसवी के नवम्बर महीने में रानडे पहले दरजे के सब-जज होकर पूना आये थे। हाईकोर्ट के जज होने तक अर्थात् सन् १८९३ ईसवी के नवम्बर तक रानडे पूना में ही रहे थे। इन २२ वर्षों में केवल तीन वर्ष के लिए, बदल कर, उन्हें धूलिया और नासिक को जाना पड़ा था। पूना शहर के साथ इतने वर्ष तक बराबर सम्बन्ध रहने से उन्होंने अपने उद्योग और सच्ची स्वदेश भक्ति के कारण शहर में अनेक संस्थायें और सभायें बना दी थीं।

और उनके द्वारा लोगों में असाधारण जागृति उत्पन्न कर दी थी। इस काल में पूना शहर में राजकीय, साहित्य-सम्बन्धी, धार्मिक, औद्योगिक और अस्त्रशास्त्र-सम्बन्धी अनेक प्रकार की जितनी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं सब रानडे की प्रेरणा का परिणाम थीं। मनुष्य-ज़ाति के उद्योग-सम्बन्धी जितने कारख़ाने और संस्थायें बनीं उनमें से किसी की उत्पत्ति, किसी की उन्नति, किसी का आवश्यक सुधार, किसी की लोकप्रियता के रानडे कारण अवश्य थे।

जिन संस्थाओं और कारख़ानों से उनका सम्बन्ध था उनके नाम नीचे दिये जाते हैं:—

१—सार्वजनिक सभा।

२—सभा का त्रैमासिक पत्र।

३—हीराबाग में 'टाउन हाल' की इमारत।

४—'पूना नेटिव जनरल लाईब्रेरी' की इमारत।

५—औद्योगिक कानफ़रेन्स।

६—औद्योगिक प्रदर्शन।

७—उद्योगोत्तेजक मण्डली।

८—रे म्यूज़ियम (रे साहब के नाम से संग्रह स्थान)।

९—रुई और रेशम कातने और बुनने की कम्पनी।

१०—धात की ढली चीज़ें बनाने का कारख़ाना।

११—फ़र्ग्युसन कालेज।

१२—स्त्रियों का हाईस्कूल।

१३—वर्नाक्यूलर ट्रान्सलेशन सुसाइटी—देशी भाषा में अँगरेज़ी से पुस्तकें बनाने के लिए ।

१४—पंचायत ।

१५—सबजजों की कान्फरेन्स ।

१६—पूना मर्कन्टाइल बैंक ।

१७—प्रार्थनासमाज मन्दिर ।

१८—वक्तृत्वोत्तेजक सभा ।

१९—देशी साहित्योत्तेजक सभा ।

२०—वसंत-व्याख्यान-माला ।

२१—पूना रंगशाला ।

२२—रे पेपर मिल—कागज़ बनाने का कारखाना ।

यह फ़हरिस्त लम्बी मालूम होती है तो भी कुछ नाम इसमें देने से रह गये होंगे । ऐसा तो कोई भी नाम नहीं है जिससे रानडे का कुछ न कुछ सम्बन्ध न हो । इससे हमको यह मालूम होता है कि रानडे की प्रेरणा कैसी जादू भरी थी जिसके कारण इतने काम एक दम होने लगे । संक्षेप में यह भी देखना चाहिए कि इन जुदी जुदी प्रकार की संस्थाओं से रानडे का कैसा सम्बन्ध था ।

सबसे पहली संस्था पूना की प्रख्यात सार्वजनिक सभा है जिससे रानडे का सम्बन्ध हुआ था । यह सभा स्व० गणेश वासुदेव जोशी के, जिनके नाम से सभाभवन बना हुआ है, प्रयास से स्थापित हुई थी । परन्तु थोड़े काल में जिस

महत्त्व को वह पहुँच सकी वह सब रानडे के प्रताप का फल था। उस समय सार्वजनिक सभा की ओर से जो प्रार्थनापत्र सरकार को भेजे जाते थे और लोक-हित-सम्बन्धी सप्रमाण और विचार-युक्त सुन्दर भाषा में जो अनेक निवेदनपत्र भेजे गये थे उनमें से बहुत से तो रानडे की लेखनी से ही निकलते थे और कितने ही उनकी सलाह के अनुसार लिखे जाते थे। सरकार उन पर केवल भलीभाँति विचार ही नहीं करती थी बल्कि उनसे सभा का गौरव बढ़ता था और इस कारण सभा को वह प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी जो उस समय की दूसरी और किसी राजकीय संस्था को प्राप्त नहीं हुई थी। इस सभा ने रानडे की व्यवस्था के अनुसार सन् १८७६-७७ ईसवी के अकाल में लोगों की बड़ी प्रशंसनीय सेवा की थी। बड़े खेद का विषय है कि हाल में इस सभा की दशा व्यवस्थापकों में मेल न होने से और दूसरे कारणों से, बड़ी शोचनीय हो गई है। उसका पहले का स्वरूप जाता रहा है और अस्थिपंजर मात्र अवशेष है। पूर्व दशा का स्मरण करते हुए और वर्तमान दशा से तुलना करते हुए कोई मनुष्य यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि ऊँचे चढ़ कर गिरना कैसा दुःखदायी होता है।

इस सभा के त्रैमासिक-पत्र का सम्पादन रानडे ने अपने ही हाथ में लिया था। उसमें राजकीय, औद्योगिक और अर्थ-शास्त्र-सम्बन्धो लेख हुआ करते थे। इन लेखों के सम्बन्ध में 'टाइम्स आफ इंडिया' पत्र ने रानडे के मरने पर लिखा था—

"उस पत्र में निकले हुए लेख रानडे के उत्तम निबंधों के नमूने हैं । रानडे के युवक मित्रों को चाहिए कि उन लेखों को पुस्तकाकार छपवा दें और एक लुप्त पत्र में पड़े सड़ने न दें।" औद्योगिक कान्फ़रेन्स और प्रदर्शन, पंचायत, वसन्त-व्याख्यानमाला, टाउन हाल और प्रार्थनासमाज का मन्दिर तो मुख्य कर रानडे के ही परिश्रम के परिणाम हैं। पन्दरह बरस तक गरमी की दो महीने की छुट्टी में, रानडे के नेतृत्व में, पूना आनन्दमय प्रवृत्ति में लगा रहता था । अनेक विद्वान् पूना आकर रानडे से सलाह करते और जनहित के कामों को चलाते । व्याख्यान होते और प्रेम और ज्ञान की ख़ूब चर्चा होती । छुट्टा के दिनों में इन सब कामों का भार रानडे पर ऐसा आ पड़ता था कि कभी कभी रात के दो दो बजे तक वे सोने नहीं पाते थे । प्रार्थना-समाज का मन्दिर एक कम चौड़ी गली में बना हुआ है और उसके चारों ओर अस्वच्छ और आरोग्यता-विहीन स्थान है । इस बात पर जब किसी ने रानडे से कहा—"मन्दिर के लिए आपने अयोग्य स्थान पसन्द किया है" तब उन्होंने हँस कर जवाब दिया—"हमको इस स्थान में नरक की जगह स्वर्ग बनाना है ।" इसमें बात यह थी कि बहुत प्रयत्न करने पर भी अच्छी जगह नहीं मिली थी, इस कारण मजबूरी से मन्दिर के लिए अयोग्य स्थान का उपयोग करना पड़ा था ।

रे पेपर मिल के व्यवस्थापक पूना के सुपरिचित पदमज़ी घराने के लोगों को रानडे से जो सहायता मिली थी उसको ख़ान-

बहादुर दोराबजी पदमजी ने (जिनको रानडे हँसी में पूना के 'लार्डमेयर' कहा करते थे क्योंकि उन्होंने पूना की सेवा म्यूनिसीपेलिटी द्वारा बहुत दिनों तक उत्तमता से की थी) रानडे की मृत्यु पर जो समवेदना का पत्र उनके कुटुम्बी जनों को लिखा था, उसमें योग्य रीति से स्वीकार किया था। रेशम और रुई के कारखाने की कम्पनी पर एक बार बड़ा संकट पड़ा था और उसके टूट जाने का भय था, इस दशा से बचा कर रानडे ने उसकी भी पूरी सेवा की थी।

'पूना नेटिव लाइब्रेरी' भी इसी प्रकार रानडे की बाधित है। जिस विशाल भवन में वह स्थापित है वह उन्हीं के प्रयास से बना है। पहले यह लाइब्रेरी बुधवार-वाड़े के महल में थी परन्तु जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है उसमें आग लग गई और सब पुस्तकें भस्म हो गई थीं। पेन्शन पाने वाले लोग नौकरी से निवृत्त होकर प्राय: अपना समय नष्ट किया करते हैं और किसी उपयोगी कार्य में सहायता नहीं देते। इस अपवाद से निर्दोष रा० ब० विष्णु बालकृष्ण भिड़े ने अपने उद्योग और परिश्रम से और रानडे की सहायता से बहुत सा रुपया इकट्ठा किया। प्रजा और सरकार दोनों से आर्थिक सहायता लेकर एक नया भवन पेन्शन-प्राप्त इञ्जिनियर रा० ब० बी० बी० कानिटकर की देखरेख में पुस्तकालय के लिए निर्माण कराया। और पुस्तकालय को वर्तमान स्थिति में लाने के लिए यथा-शक्ति उद्योग किया। इस लाइब्रेरी के प्रबन्ध-कर्त्ताओं ने रानडे का चित्र एक हिन्दू

चित्रकार से बनवा कर भवन में लगा कर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की है ।

डेकन वर्नाक्यूलर ट्रान्सलेशन सोसाइटी—अर्थात् मराठी में भाषान्तर कर पुस्तकें प्रकाशित करने वाली समिति भी अपने पुनरुद्धार के लिए रानडे के प्रयास की ऋणी है । उन्होंने केवल उसका उद्धार ही नहीं किया बल्कि एक अच्छी रक़म उसके लिए जमा की जिसका व्याज १५० रुपये के लगभग साल भर में आता है । २७ अप्रेल सन् १६०१ को जब पूना के कलक्टर साहब ने रानडे के चित्र का उद्‌घाटन किया तो रानडे के मित्र डाक्टर भांडारकर ने एक छोटा परन्तु मनोहर व्याख्यान दिया था । उसमें उन्होंने कहा था—"बीस बरस हुए कि इस नाम की एक समिति थी परन्तु वह बन्द हो गई थी । इस समिति के रुपये सरकारी एकाउन्टेन्ट जनरल बम्बई के पास जमा कर दिये गये थे । इस रक़म का मालिक कोई न बना, इस कारण इसका सूद बराबर बढ़ता ही गया । रानडे ने इस रक़म का पता लगा कर सरकार से माँग लेने के लिए प्रार्थना की । सरकार ने रक़म इस भाषान्तर-समिति को दे दी ।" अकसर लोग यह कहते हैं कि यदि रानडे ने सरकारी नौकरी की चाँदी की बेड़ी अपने पैर में न पहनी होती तो वे देशोपकार विशेष कर सकते । परन्तु इसमें कुछ भी सचाई नहीं दिखलाई देती । यदि वे न्याय-विभाग में ऊँचे पद पर न होते और साधारण गृहस्थ होते तो देश के कल्याण के लिए कितनी

ही उपयोगी बातें न कर सकते। उदाहरण के लिए भाषान्तर करने वाली समिति का मामला लिया जा सकता है। साधारण सज्जन की प्रार्थना सरकार इतनी जल्दी कभी न मानती जितनी जल्दी रानडे की प्रार्थना समिति को रुपया देने के लिए मान ली गई। और भी अनेक उदाहरण इस प्रकार के दिये जा सकते हैं। सन् १९०४ ईसवी में रानडे की तीसरी पुण्य-तिथि पर बम्बई के 'हिन्दूयूनियन क्लब' में एक सभा हुई थी। उस सभा में रानडे के मित्र मिस्टर अगाशे ने एक लेख पढ़ा था जिसमें पूना शहर की सेवा के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था—"सन् १८७३ से पहले पूना में केवल एक लोकोपयोगी संस्था थी। यह बुधवार वाड़ा वाली नेटिव जनरल लाइब्रेरी थी। जाति-रीति के उल्लङ्घन करने वाले को—जैसे कृष्णशास्त्री चिपलूनकर—यदि जाति एकत्रित होकर बहिष्कार करती, या कोई विद्वान् शहर में आकर भाषण करता तो पुस्तकालय में ही होता था। इसके सिवा और कोई आन्दोलन पूना में देखने को नहीं मिलता था। रानडे ने पूना को जीवन दिया। कार्य-दक्ष लोगों को सब प्रकार की प्रवृत्तियों और कार्यों में लगाया। रानडे के समय में ही पूना देशहितकार्यों में आगे बढ़ने लगा। समस्त भारतवर्ष पूना का कहना ध्यान और मान-पूर्वक सुनने लगा और अपने लिए उचित मार्ग जानने लगा।" इन बातों के अलावा लेख में उन सब संस्थाओं का भी हाल कहा जिनके लिए रानडे ने भवन इत्यादि बनवाये और अन्य प्रकार से सहायता की।

जैसा कि ऊपर कहा है, २२ वर्ष में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं और कार्य हुए उन सब का कारण रानडे थे। परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि दूसरे लोगों ने इनमें कुछ भाग नहीं लिया था। रानडे का कार्य समाज में गति उत्पन्न करने का था। वे नेता थे। कोई भी मनुष्य और कैसी ही वृत्ति का क्यों न हो और चाहे उनसे अन्य बातों में वह सहमत भी न हो परन्तु जिस कार्य में वह सहायक हो सके उसमें रानडे उससे अवश्य सहायता लेते और उसे कार्य में भाग देते। रानडे का काम मस्तिष्क वा कल्पना-शक्ति का था और उनके साथ काम करने वालों का, शरीर के दूसरे अवयवों का था। रानडे में इस बात की अद्भुत शक्ति थी कि काम करने वाले मनुष्यों को वे इकट्ठे कर सकते थे। सरकार में कोई प्रार्थना-पत्र भेजना हो, त्रैमासिक में किसी लेख की आवश्यकता हो या किसी सभा की व्यवस्था करनी हो तो जो जिससे हो सके वह काम उसको सौंपा जाता था। उनकी मनोहर वृत्ति और मृदुल स्वभाव से और स्वयं घोर परिश्रम करने की शक्ति रखने के कारण लोगों पर उनका ऐसा असर पड़ता कि सौंपे हुए काम को बड़े उत्साह से करते। इन सज्जनों में सार्वजनिक सभा के संस्थापक स्वर्गीय गणेश वासुदेव जोशी मुख्य थे। वे तो शरीर रूप थे और रानडे प्रेरक वा आत्मा थे। और सीताराम हरि चिपलूनकर, रा० ब० विष्णु बालकृष्ण सोहोनी, विष्णु मोरेश्वर भिड़े, चिन्तामणि नारायण भट्ट, शिवराम हरि साठे और माननीय गोपाल कृष्ण गोखले भी उनके

बड़े दृढ़ सहायकों में से थे। गोखले के लिए लोगों को आशा थी कि रानडे के देशहित-कार्य की पगड़ी उन्हीं के सिर बँधेगी। अन्त में हुआ भी ऐसा ही। परन्तु गोखले भी अपनी असामयिक मृत्यु से देश को घोर शोकसागर में डुबो कर चल दिये।

रानडे ने अपने बुद्धि-प्राबल्य और निष्पक्षता से केवल सरकारी नौकरी में ही प्रसिद्धि नहीं पाई, किन्तु नौकरी के कर्तव्य का पूरी रीति से पालन करते हुए उन्होंने स्वदेश-हित की चिन्ता से पूना की सेवा की थी। लोगों के वे ऐसे प्रीतिपात्र हो गये थे कि डा० पोलन जैसे बड़े हाकिम ने उनको (Uncrowned King of Poona) 'पूना के बिना मुकुट के राजा' का उपनाम दिया था। जब तक रानडे पूना में नहीं आये थे तब तक वह शहर प्रसिद्ध नहीं हुआ। दूसरे शहर या प्रान्तों के लिए वह पेशवाओं की राजधानी के खंडहरों का स्थान था। और एक ओर पूर्ण नास्तिक और दूसरी ओर कट्टर ब्राह्मणों में झगड़ों का केन्द्र हो रहा था। परन्तु रानडे के निवास करने से वह इतना आगे बढ़ गया कि महाराष्ट्र के अभिमान का, बम्बई की ईर्ष्या का और समस्त भारतवर्ष के आश्चर्य का कारण हो गया। और वहाँ नये कारख़ाने और संस्था-सभा इत्यादि इतनी बन गई और इस कारण यह शहर इतना प्रसिद्ध हुआ कि अँगरेज़ कवि पोप ने जो दो पंक्तियाँ न्यूटन के मरने पर कही थीं उनमें योग्य फेर फार करने से वे रानडे के लिए भी उपयुक्त हो सकती हैं—

पूना औ उसके वासी थे अन्धकार में सब।
माधव के जन्मते ही आये प्रकाश में सब॥

इसमें कुछ अतिशयोक्ति मालूम होती होगी। परन्तु जब हम यह देखेंगे कि रानडे के पूना से जाने पर जितनी संस्थाओं और कार्यों को उन्होंने जन्म दिया था उन सब की वृद्धि वा उन्नति होना तो दूर रहा, उलटा लोगों में बुद्धि की मंदता, जड़ता और बेपरवाही उत्पन्न हो गई और आपस में व्यर्थ बातों पर झगड़े होने से सब काम शिथिल हो गये और कितने ही तो जड़ से नष्ट हो गये तब इस बात में अतिशयोक्ति नहीं जान पड़ेगी।

ऐसा होने पर भी जब 'संमति-वय का क़ानून' (Age of Consent Bill) बना था और रुक्माबाई वाला मुक़दमा चल रहा था उस समय पूना में इस विषय पर वर्तमान समाचार-पत्रों में रानडे के विरुद्ध बड़े कड़े और द्वेष-पूर्ण लेख निकले थे और लोगों में बड़ा खलबली मची थी। ऐसा मालूम होता था कि जैसे ग्रीस देश का एथेन्स शहर एरेस्टाइडिस और डिमोस्थनीस के प्रति अकृतज्ञ रहा उसी प्रकार पूना भी रानडे के उपकारों को भूल कर कृतघ्नी बनेगा। परन्तु पूना के लिए यह बड़ी शोभा की बात है कि ऐसा न हुआ, बल्कि इसके विपरीत हुआ। सन् १८९३ ई० में जब हाईकोर्ट के जज होकर रानडे पूना से बिदा हुए तब वहाँ के निवासियों ने उनका अपूर्व समारोह से सम्मान किया और बहुत से आनन्दोत्सव मना कर अपनी कृतज्ञता का पूर्ण परिचय दिया। जिन संस्थाओं को रानडे ने जन्म दिया था,

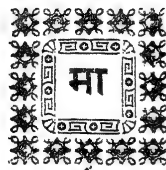
जिनके काम उनकी अध्यक्षता से वा सहायता से हुए उन सबने रानडे के विदा होने के समय उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका सम्मान करने में आपस में बड़ी स्पर्धा दिखलाई थी। तारीख़ २१ नवम्बर सन् १८९३ को रानडे बम्बई के लिए रवाना हुए, उस दिन से आठ दिन पहले से बराबर भोज, जलसे आदि होते रहे। यह सब ऐसे समारोह से हुए थे कि इस उत्सव का नाम कितने ही लोगों ने 'महादेव उत्सव' रक्खा था। कहा जाता है कि किसी सरकारी हाकिम को ऐसा मान प्रजा की ओर से कभी नहीं मिला था। इन आनन्द उत्सवों को रोकने के लिए और इनमें व्यर्थ धन नष्ट होता हुआ समझ कर रानडे ने जो दिन बम्बई जाने को निश्चय किया था उससे तीन दिन पहले ही रात की गाड़ी से चुपचाप चले जाने का प्रबन्ध किया। इस बात से उनकी निरभिमानता अच्छी तरह दिखाई देती है।

रानडे को स्वयं पूना से बड़ा स्नेह था। इसमें कुछ सन्देह नहीं। जब वे बम्बई गये तो उन्होंने २५००० रुपये का एक नृपोचित बड़ा दान पूना की अनेक संस्थाओं के लिए दिया और इसका प्रबन्ध दो सज्जनों को सौंप दिया। उन्होंने बाद में इस रक़म को बढ़ा कर अपनी वसीयत में ५०००० की कर दी थी।

आगे रानडे की देश-सेवा और उनके विचार इत्यादि का वर्णन किया जाता है।

चौथा अध्याय

संसार-सुधार ।




न सहित परीक्षाओं को पास करना और सरकारी नौकरी में प्रवेश कर कार्यकुशलता से ऊँचे पदों पर पहुँचना ही केवल रानडे का उद्देश नहीं था। इन बातों से वे अपने को कृतकार्य नहीं समझते थे। आरम्भ से ही उनका विचार देश का कल्याण करने का था। देश की उन्नति के लिए अपनी प्रवृत्ति को उन्होंने कितने ही कर्मक्षेत्रों में लगाया था। सामाजिक सुधार, धार्मिक और राजनैतिक प्रवृत्ति, अनेक प्रकार से सरस्वती की उपासना और देशोद्धार के लिए सब प्रकार के उद्योग—यह सब रानडे के लिए देश-सेवा के साधन थे। इन सब कामों में उन्होंने अपनी असाधारण बुद्धि और ईश्वरदत्त शक्तियों का पूर्ण उपयोग किया था। समाज-सुधार के लिए जो आन्दोलन उन्होंने किया था उसका यहाँ वर्णन किया जाता है।

हिन्दू-समाज में बहुत सी खराबियाँ हो गई हैं। पुराने रीति-रिवाज जो निरर्थक और हानिकारक हैं वे अब भी प्रचलित हैं। इस कारण आर्य-जाति जो एक समय सर्वोत्तम गिनी जाती थी अब विद्या, कला, उद्योग, व्यापार आदि में सबसे

गिरी हुई दशा में आ पड़ी है। इसमें शीघ्र सुधार करने की आवश्यकता है। उचित सुधार के बिना देश का पुनरुद्धार असम्भव है। रानडे का यह मत था। इस कारण जिस समय वे कालेज में विद्यार्थी थे उसी समय से उनका ध्यान इस ओर गया था। विधवाओं का पुनर्विवाह न करने से जो अनर्थ होता है, बालविवाह से हानि, वृद्ध पुरुष के साथ अल्पवय की लड़कियों का विवाह, विदेश में जाने की मनाई, जातियों के बहुसंख्यक भेद और एक ही विभाग में विवाह करने की बाध्य रीति, विवाहों में अँधाधुन्ध ख़र्च, स्त्री-शिक्षा के लिए बेपरवाही—इन सब बातों की ओर रानडे का ध्यान प्रबलता से आकर्षित होने लगा। सन् १८६२ से ६६ ईसवी तक रानडे 'इन्दुप्रकाश' के अँगरेज़ी विभाग के सम्पादक थे। उस समय अनाथ विधवाओं के पक्ष में उन्होंने बड़ी आज़ादी से निडर होकर बहुत से लेख लिखे। निराधार विधवाएँ जो संसार के सब शुभ कर्मों में भाग लेने से आजन्म वञ्चित रक्खी जाती हैं, जो तिरस्कार की दृष्टि से देखी जाती हैं और जो निर्दोष होने पर दया की पात्र होती हैं उन्हों की चर्चा रानडे 'इन्दुप्रकाश' में करते थे। उन्होंने एक छोटा लेख लिखा था जो मिस्टर दयाराम गीदूमल की पुस्तक 'हिन्दुस्तान की स्त्रियों की स्थिति' में छापा गया है। उसमें रानडे ने यह बतलाया है कि यदि हिन्दूशास्त्रों का ठीक अर्थ किया जाय तो मालूम होगा कि उनमें विधवा-विवाह का निषेध नहीं है। पुनर्विवाह के दृढ़ पक्षपाती

श्रौर उसके उत्तेजक, सुविख्यात विद्वान् विष्णुशास्त्री पण्डित का पुराने ख़याल के पण्डितों के साथ पुनर्विवाह-सम्बन्धी शास्त्रार्थ हुआ था। उसमें रानडे विष्णुशास्त्री के दहिने हाथ श्रौर मुख्य सहायक थे। पुनर्विवाह के पक्षपाती उसको शास्त्र-विहित साबित करके ही चुप नहीं बैठ रहे। उन्होंने जमखण्डी के सरदार श्रीमन्त अप्पा साहब को प्रमुख बना कर सन् १८६१ ईसवी में 'पुनर्विवाह मण्डली' की श्रोर से एक विधवा का विवाह कराया था। विष्णुशास्त्री इस मण्डली के मन्त्री थे। रानडे ने व्यवस्थापक मण्डली के सभासद् होकर पुनर्विवाह के श्रान्दोलन का झण्डा उठाया था। इस मण्डली ने कितने ही वर्ष तक काम किया श्रौर जैसा कि ऊपर कहा गया है उसकी श्रोर से पहला विधवा-विवाह सन् १८६८ ईसवी में हुश्रा था।

लकीर के फकीर शास्त्रियों को इससे मालूम हुश्रा कि यह मण्डली केवल ज़बानी जमाख़र्च करने वाली नहीं है। वास्तव में विधवा-विवाह कराने के लिए तैयार हो गई है। इस लिए दक्षिण के सरदारों ने पण्डितों की एक सभा की श्रौर उसमें निर्णय करके विपक्षियों को दण्ड देने के लिए हिन्दू-धर्म के गुरु श्रीशङ्कराचार्य से विनती की। इस प्रार्थना के श्रनुसार श्रीशङ्कराचार्य ने एक सभा की जिसमें यह निश्चय हुश्रा कि श्राधे सुधारक वर्ग के छटे हुए विद्वानों श्रौर उतने ही प्राचीन मत के मानने वाले चुने हुए विद्वानों की पञ्चायत हो जिसमें यह निर्णय किया जाय कि विधवा-विवाह शास्त्रविहित है वा शास्त्रविरुद्ध।

पञ्चायत की ३ राय विधवा-विवाह के पक्ष में रहीं और ७ उसके विरुद्ध। विष्णु कृष्ण शास्त्री को रानडे ने अच्छी तरह से पञ्चायत के लिए तैयार किया था और उनको पूरी सहायता दी थी। इस फ़ैसले से सुधारकवर्ग में शिथिलता नहीं आई और न वे लोग हताश हुए। बल्कि उनको यह मालूम हो गया कि अपने आश्रय और बल पर भरोसा करते हुए जागृत रहने की आवश्यकता है। वे तुरन्त ही दूसरे पुनर्विवाह की तैयारी करने लगे और वह भी बिलकुल सनातनी रीति के अनुसार। और बम्बई की 'विधवा-विवाहोत्तेजक मण्डली' की ओर से एक ब्राह्मणी विधवा का विवाह करा दिया। उस समय से रानडे की मृत्यु पर्यन्त दक्षिणी और गुजराती लोगों में ७० के लगभग विधवा-विवाह हुए।

उस समय सभा के मन्त्री विष्णुशास्त्री पण्डित और उनके साथ उन छः सज्जनों को, जिन्होंने पहला विधवा-विवाह अग्रसर होकर कराया था—वर कन्या और उनके सम्बन्धियों सहित शंकराचार्य ने जाति से बाहर कर दिया। उन सज्जनों के नाम ये हैं;—सरदार गोपालराव हरि देशमुख, श्रीकृष्ण शास्त्री तालेकर, विष्णु परशुराम रानडे, बी० एम० भिड़े, एम० जी० रानडे और जनार्दन एस० गाडगिल। जाति बाहर होने पर अपने निकटवर्ती सम्बन्धियों से इन लोगों को सम्बन्ध छोड़ना पड़ा और यह बड़ी आपत्ति सहन करनी पड़ी। बहुत से सुधारक कहलाने वाले इन लोगों का साथ छोड प्रायश्चित्त कर जाति में फिर

जा मिले । परन्तु रानडे और उनके तीन सहगामी अपने पक्ष में दृढ़ रहे और अपना कर्त्तव्य बराबर उत्साहपूर्वक करते रहे ।

सुधार के विचारों का प्रचार होने से और अपने उच्च सरकारी पद के कारण रानडे को जाति बाहर होने पर बहुत कठिनाई नहीं उठानी पड़ी । सम्बन्धियों में बिना प्रकट किये, गुप्त रीति से, खाना पीना जारी रहा और इसमें किसी ने कुछ आपत्ति भी नहीं की । रानडे अपने छोटे भाइयों के विवाह भी बिलकुल प्राचीन प्रथा के अनुसार, बिना किसी विरोध के, कर सके । ऐसे शुभ अवसरों पर पुराने विचारों के ब्राह्मण भी उनके मकान पर आते जाते थे । इन कारणों से जाति बाहर करने वालों का मतलब जो रानडे को तङ्ग करने का था वह कितनी ही बातों में निष्फल हुआ । और यह कहा जाता है कि उनका पक्ष दिन दिन प्रबल होता गया ।

सन् १८९० में रानडे और उनके साथ ३९ गृहस्थों पर पादरियों के साथ 'इवनिंग पार्टी' में चाय पीने और बिस्कुट खाने का दोष लगाया गया था । तब रानडे ने प्रायश्चित्त कर लिया था । ऐसा प्रश्न स्वाभाविक है कि रानडे ने इस समय प्रायश्चित्त क्यों किया । कारण इसका यह था कि चाय पीने वालों और पूना के कट्टर ब्राह्मणों में इस बात पर बड़ा झगड़ा पड़ गया था । श्रीशङ्कराचार्य ने इस का फ़ैसला करने के लिए पञ्चायत की थी और उसके कारण रानडे के कितने ही साथी मन की दुर्बलता से दृढ़ न रह सके । उन्हीं के आग्रह से रानडे

को प्रायश्चित्त करना पड़ा। दूसरे यह कि यह प्रायश्चित्त करना न करना एक सा था क्योंकि इसमें भिक्षुक ब्राह्मणों को थोड़ी दक्षिणा मात्र दे देने से काम चलता था। एक शर्त यह भी लगी हुई थी कि सब गृहस्थ और रानडे भी प्रायश्चित्त करें तो जाति में सब लोग लिये जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस कारण पूना में झगड़े मिटाने के लिए और अपने साथियों के आग्रह से, जिनको २३ वर्ष तक जाति बाहर रह कर बड़ी असुविधायें सहनी पड़ी थीं, रानडे ने प्रायश्चित्त कर लेना उचित समझा था। ३० वर्ष पहले जब कृष्ण शास्त्री चिपलूनकर जाति बाहर किये गये थे—क्योंकि उन्होंने सर अलेग्ज़ेंडर ग्रान्ट के साथ भोजन कर लिया था—तब उनको प्रायश्चित्त करने में मूँछें भी मुँड़ानी पड़ी थीं परन्तु रानडे ने जब प्रायश्चित्त किया तो उनके साथ इतनी सख्ती नहीं हुई। प्रायश्चित्त करके यह भी दिखा दिया कि पहले से लोग समाज-सुधार में अब इतने आगे बढ़ चले हैं। इतने पर भी कट्टर ब्राह्मणों से यह बात बरदाश्त नहीं हुई कि प्रायश्चित्त इतना हलका कराया गया। इसलिए पञ्चों ने जो प्रायश्चित्त निश्चय किया था उससे अधिक कठिन प्रायश्चित्त कराने के लिए उन्होंने फिर श्रीशङ्कराचार्य से निवेदन किया। दूसरी पञ्चायत मुक़र्रर हुई और उसने विशेष रूप से इस बात पर विचार किया तथा प्रायश्चित्त भी कुछ कड़ा कर दिया। परन्तु फिर भी कृष्ण शास्त्री से जैसा प्रायश्चित्त कराया गया था उसके सामने यह बहुत हलका था। दूसरी बार प्रायश्चित्त करने से सुधारकों ने साफ़

मना कर दिया और दोनों पक्षों का मतभेद दूर न हो सका। समय के प्रवाह से धीरे धीरे विपक्षियों में से द्वेषभाव दूर हुआ।

जब सन् १८७३ ई० में रानडे की पहली पत्नी का देहान्त हुआ तो उन्होंने अपना दूसरा विवाह प्राचीन प्रथा के अनुसार किया। किसी विधवा से विवाह न करने के कारण कितने ही लोगों के मन में यह शङ्का उठने लगी कि रानडे विधवा-विवाह पक्ष का बातों से ही समर्थन करते हैं, अन्तःकरण और कार्यरूप से नहीं। उन पर यह लोकापवाद लगाया गया था कि यदि वे स्वयं किसी विधवा से विवाह करते तो अपने स्वकार्य से दूसरों को उत्तेजित कर सकते और पक्ष को सबल कर देते; और एक विधवा के दुःख का निवारण कर उसको मुक्त कर सकते। यह अपवाद उन पर बहुत दिनों तक लगाया गया था। परन्तु वास्तव में विधवा से विवाह कर लेने में उनकी कोई अनिच्छा नहीं थी बल्कि वे किसी योग्य विधवा की तलाश में थे भी। परन्तु उस समय उनके पिता विद्यमान थे। उन्होंने रानडे का ऐसा विचार जान कर उनका बड़ा विरोध किया था। यदि रानडे ने अपनी इच्छानुसार विधवा से विवाह किया होता तो उनको अवश्य अपने पिता से, जिनके प्रति स्वाभाविक स्नेह के अतिरिक्त उनके बड़े उपकार का पितृऋण चुकाना अभी बाक़ी था, सदा के लिए अलग हो जाना पड़ता। जिस समय रेल नहीं थी उस समय कोल्हापुर से बम्बई जैसे दूरस्थान में भेज कर, स्वयं सब प्रकार

की कठिनाइयों को सहन कर, यदि उन्होंने रानडे को विद्याभ्यास के लिए न भेजा होता तो आज रानडे इतने बड़े विद्वान् और ऐसे सुविख्यात न होने पाते। इन कारणों से और स्वाभाविक पितृवात्सल्यता से उत्पन्न पितृभक्ति के कारण रानडे को अपने पिता से अलग हो जाने की बात असह्य हो गई। उनके लिए यह असम्भव था कि अपने पिता के अन्तःकरण को इतना दुःख देने के कारण होते। यदि पूर्ण रूप से रानडे अपने पिता की इच्छा के अनुगामी होते तो उनको कभी विधवाओं के कष्ट-निवारण का इतना अवसर न प्राप्त होता और इस पक्ष में वे बहुत न्यून भाग ले सकते। इससे उनके कर्त्तव्य-सम्बन्ध में एक बड़ी समस्या उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने इस बात की प्रतिज्ञा नहीं की थी कि मैं स्वयं विधवा से विवाह करूँगा; बल्कि विधवाओं से विवाह करने वालों के साथ खाने पीने का संसर्ग और व्यवहार जारी रखने का निश्चय किया था। पुत्र-धर्म को भंग कर और अपने प्रिय पिता की आज्ञा उल्लंघन कर, अपनी गृहशान्ति में सदा के लिए विघ्न डालना उनको नैतिक दृष्टि से उचित नहीं मालूम पड़ा। इस बात पर विचार करते हुए रानडे आक्षेप के पात्र नहीं मालूम होते। श्रीमती रमाबाई रानडे ने इस विषय को बड़ी रसिकता से विस्तार-पूर्वक अपनी पुस्तक में लिखा है जिससे मालूम होता है कि रानडे के पिता ने उन पर कैसा दबाव डाला था जिससे अपने सिद्धान्त को छोड़ उन्हें पिता की इच्छानुसार चलना

पड़ा था। इस प्रसङ्ग के उपरान्त उनका विधवा विवाह पक्ष किसी प्रकार शिथिल नहीं हुआ था। सदा ही इस कार्य में वे यथाशक्ति सहायता देते रहे। इस पक्ष के समर्थन में वा उसको उत्तेजित करने में और पुनर्विवाह के पक्षपातियों के साथ भोजन व्यवहारादि में वे कभी पीछे नहीं हटे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि विष्णुशास्त्री पण्डित की तरह यदि वे भी विधवा से पुनर्विवाह कर लेते तो उनका पक्ष विशेष बलवान् हो जाता परन्तु उपरोक्त कारणों से वे ऐसा न कर सके इस लिए वे लोगों की करुणा के पात्र हैं न कि आक्षेप के। जैसे 'रोम-साम्राज्य की अवनति और उसका अस्त' (Decline and Fall of the Roman Empire) के सुविख्यात और ऐतिहासिक अँगरेज़ ग्रन्थकार गिबन ने अपने पिता की आज्ञा के वशवर्ती होकर, एक सुन्दरी स्त्री से, जिसको वह बहुत चाहता था, विवाह नहीं किया और इतना कह कर अपना दुःख प्रकट किया—I sighed as a lover but obeyed as a son—उसी प्रकार रानडे को एक सुधारक होने के कारण इस प्रसंग से खेद हुआ परन्तु उन्होंने पितृ-आज्ञा का पालन योग्य रीति से किया। सन् १८९३ ईसवी के अक्तूबर महीने में एक सभा बम्बई में इस लिए हुई थी कि स्व० जस्टिस तैलंग का स्मारक बनाने के लिए विचार करे। उस समय रानडे ने जो व्याख्यान दिया था, उसमें उनके निज के सम्बन्ध में जो बात घटती मालूम होती है वह यहाँ दी जाती है:—

"हमारे मित्र स्वर्गीय जस्टिस तैलंग ने जो कार्य किये हैं उनका मुख्य सार यह है कि सामयिक दशा की आवश्यकताओं के अनुसार वे एक उत्तम आदर्श-चरित्र थे। इस बात की कल्पना करना आप लोगों के लिए सुगम नहीं है कि इस समय में आप में से बहुत से लोगों को समझदार होने के कारण एक प्रकार से दोहरा जीवन—अर्थात् दो प्रकार के सुधार, दो प्रकार के धर्म और दो प्रकार की प्रवृत्तियों के बीच में, जीवन—व्यतीत करना पड़ता है। हमको परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के अनुसार चलना पड़ता है। सम्भव है कि आप लोगों में कुछ सज्जन ऐसे हों जो यह समझते हों कि इस प्रकार विभक्त और परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों में ही जीवन बिताने की कोई आवश्यकता नहीं है। इनमें से बहुत से लोग प्राचीन प्रथा के अनुसार रहन सहन रखना चाहते हैं, यद्यपि गत काल और गत अवस्था के लौट कर आने की कोई आशा नहीं की जा सकती है। यह लोग समझते हैं कि समय ने किसी प्रकार फेरफार नहीं किया है और जिस प्रकार उनके पूर्वज दूसरे देशवासियों से अलग रहते हुए अपने सब काम काज कर सके थे वैसे ही हम भी सब कर सकेंगे और अपना हित-साधन विना किसी बाहरी संयोग या सहायता के कर सकेंगे। दूसरी ओर हममें से कुछ ऐसे हैं जिनको भूतकाल की कुछ याद ही नहीं रही और न उसका कुछ अपने से अब सम्बन्ध मानते हैं। अपने पूर्वजों के रहन सहन से किसी प्रकार सम्बन्ध

न रखते हुए वे समझते हैं कि हमको सब व्यवस्था वर्तमान और भविष्य काल की आवश्यकताओं को देख कर कर लेनी चाहिए। इन दोनों में मध्यवर्ती जनों की थोड़ी संख्या में हम भी हैं। हम भूतकाल की ओर सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और ईश्वर-कृपा से अपने कल्याण के लिए जो हम नवीन स्थिति में आ गये हैं इसी संयोग के अनुसार हम प्राचीन व्यवस्था में धीरे धीरे सुधार देखने की इच्छा करते हैं। हम प्राचीन व्यवस्था को बिलकुल त्याज्य नहीं समझते। पर उसके साथ साथ नवीन व्यवस्था का संयोग चाहते हैं। ऐसी दशा होने से हमारे मित्र और विपक्षी दोनों ही हमारे अभिप्रायों को अच्छी तरह नहीं समझ सकते। इस वर्ग के लोगों में जो प्राचीन और नवीन का संयोग चाहते हैं मिस्टर तैलङ्ग अग्रसर थे और इस कार्य के लिए स्वात्मार्पण करने वाले थे।"

अन्त में रानडे ने इस विषय पर यह कहा था—"मिस्टर तैलङ्ग और उनके मित्रों को इस सम्बन्ध में जो कष्ट उठाना पड़ता है उसे हमारे योरोपियन मित्र नहीं समझ सकते। उनको हमारी स्थिति में आकर इसका ज्ञान हो सकता है, या उस समय की दशा पर विचार कर हमारी दशा को जान सकते हैं। जब कि उनके पूर्वज वर्तमान संस्थाओं की सत्ता और नवीन विचारों का बल, इन दोनों शक्तियों के बीच झूलते थे। ग्रीस और रोम दोनों स्थिति-परिवर्तन चक्र में पड़ चुके थे। मेलाङ्कथन और इरेज़्मस दोनों ल्यूथर के समय में ही हो गये हैं। सर

टामस मोर और लार्ड बेकन भी कालवनिस्टो (Calvinisto) के प्रारम्भ काल में हो गये हैं। हमारी स्थिति उन लोगों से विशेष जटिल है। क्योंकि एक ही विषय या सम्बन्ध में नहीं बल्कि जीवन-व्यापार की अनेक दशाओं में—सामाजिक, धार्मिक, राजकीय और औद्योगिक ऐसी अनेक शाखाओं में—हम को वही कठिनाई होती है। कर्त्तव्य मार्ग में हम को बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है जिससे कि अमुक कर्त्तव्यों के पालन में दूसरे कर्त्तव्यों के पालन में विरोध न हो सके।"

एक सज्जन ने इस सम्बन्ध में कुछ आलोचना की थी उनको रानडे ने पत्र द्वारा लिखा था—"तुम्हारा यह मत है कि सामाजिक व्यवहार में भूतकाल बिलकुल भुला देने योग्य है। यह बात ठीक नहीं है। जो कुछ हमने पहले किया है उसका यथार्थ में नाश नहीं हुआ है। हमारे पूर्वज जो हमारे लिए कर गये हैं वह भी पूर्णतः नाश को प्राप्त नहीं हुआ है। यह सब गतकाल के कर्म हमारी उन्नति या अवनति के सजीव कारण हैं। अब इनको अपनी उन्नति के साधन बनाना या उसके विपरीत कारण बनाना हर एक मनुष्य के कर्माधीन है। वर्तमान समय में भी जितना हम चाहते हैं उतना नहीं कर सकते। तुम्हारे वर्तमान समय के कार्य इतने होने चाहिए कि तुम्हारे और तुम्हारे पूर्वजों के कार्य सब छिप जायँ। जो लोग वास्तव में बुद्धिमान हैं उनसे ऐसा होना सम्भव है और इसी पर हमारे उद्धार की आशा अवलम्बित है। यदि कोई भी कार्य निश्चय कर

लेने से ही पूर्ण हो जाता तो फिर शिक्षा की कोई आवश्यकता न रहती और न किसी प्रकार की कोई कठिनाई ही होती। यदि तुम यह ख़याल करते हो कि मिस्टर तैलङ्ग जैसे महानुभाव आन्तरिक इच्छा के अभाव से या लोकापवाद के भय से अथवा लोगों को बुरा न मालूम हो इस विचार से पीछे हटते थे तो तुम भूल करते हो। जो लोग प्राचीन प्रथा के अनुसार बर्तते हैं वह लोकप्रिय होते हैं और जो भूतकाल को बिसार कर नवीन पद्धति के अनुसार चलते हैं वह सुख भोगते हैं। मिस्टर तैलङ्ग या उनके से और सज्जन लोकप्रियता या सुख कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि भूतकाल के अनुसार वे पूर्ण रीति से चल नहीं सकते और उसको बिलकुल छोड़ भी नहीं सकते हैं। हमारे दृष्टि-स्थल में यही बड़ा फेर है।"

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि रानडे ऊपर जैसे कहे हुए लोगों में एक अग्रसर थे। प्रख्यात अँगरेज़ विद्वान् बर्क के शब्दों में कहें तो सब सांसारिक और धार्मिक बातों में 'प्राचीन की रक्षा और सुधार' दोनों ही साथ साथ चाहते थे। उनकी तीसरी पुण्य-तिथि के अवसर पर बम्बई के 'हिन्दू यूनियन क्लब' के समक्ष पढ़े गये एक निबन्ध में मिस्टर अगाशे ने लिखा था—"अपनी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था में जो न्याय-बुद्धि के प्रतिकूल न हो और अपनी वर्तमान दशा के सुधार में बाधक न हो, उसको यथावत् रक्षित रखने के पक्ष में रानडे थे। उनका यह मत था कि समाज-व्यवस्था के मध्य

भाग में अभी तक सत्व शेष है । जिन बातों से समाज में क्षीणता आती हो उनको वे दूर करना चाहते थे । जैसे पेड़ों के रस को चूस कर कीड़े उनमें घुन लगा देते हैं समाज में इसी प्रकार की जो हानिकारक बातें हैं उनको वे काट कर फेंकना चाहते थे ।" मिस्टर अगाशे ने यह भी कहा था कि 'Reform all along the line' and 'Reform on the line of least resistance' अर्थात् एक पद्धति से सब बातों में साथ साथ सुधार होना चाहिए और वह भी ऐसी रीति से कि उसके विपक्ष में न्यून से न्यून विरोध हो । रानडे के यह दोनों नीतिसूत्र थे । सब प्रकार के सुधार में यह उनकी पद्धति की कुञ्जी थी । वे आकाश-पाताल के कुलाबे नहीं मिलाते थे । इस बात पर उनका पूर्ण लक्ष्य रहता था कि क्या सम्भव है और क्या सम्भव नहीं है । कोई भी अच्छी बात या करने योग्य काम के पीछे वे सहसा दौड़ नहीं पड़ते थे । किसी सुधार का काम अपने माथे लेने के पहले 'क्या हम से वह हो सकेगा' ? 'उसके करने की योग्यता हम में है ?' इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करते थे ।

इंडियन नेशनल कांग्रेस नाम की संस्था सन् १८८५ ईसवी से भारतवर्ष में स्थापित है । इसमें देश के जुदे जुदे स्थानों से प्रतिनिधि लोग आकर हर वर्ष देश के मुख्य शहरों में एकत्रित होते हैं और राजनीति-सम्बन्धी विषयों पर बड़ी सूक्ष्मता और योग्यता से विचार करते हैं । इससे देश को बहुत लाभ होता है परन्तु राजनैतिक मामलों के साथ साथ सामाजिक दशा के सुधार की

भी आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना यथार्थ उन्नति नहीं हो सकती । जिन लोगों का यह मत है, उनमें रानडे अग्रगण्य थे । यह उनकी धारणा थी कि राजनैतिक विषयों में आन्दोलन के साथ यदि समाज-सुधार का प्रयत्न नहीं किया जायगा तो सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती । सन् १८९४ में सोशल कान्फ़रेन्स की बैठक जब मदरास में हुई थी तब उसके दो दिन पहले वहाँ के 'सोशल रिफ़ार्म एसोसियेशन' के समक्ष रानडे ने एक बड़ा विचार-उत्तेजक, विद्वत्तापूर्ण और सरस व्याख्यान दिया था जिसमें उन्होंने कहा था—"किसी मनुष्य की सफलता राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति, धार्मिक विचार और चरित्र पर अवलम्बित है । यदि उसमें इन बातों की कमी हो और निज कर्त्तव्य-पालन में इन साधनों से वह वञ्चित हो तो उन्नति के बजाय वह अवनति का कारण हो जाता है ।" रानडे का ऐसा विचार प्रथम से ही था कि राजनैतिक विषयों में सफलता प्राप्त करने के लिए सामाजिक दशा के सुधार की आवश्यकता है । इस लिए वे सुप्रसिद्ध राजनीति-विशारद दीवान सर टी० माधवराव और इन्दौर के भूतपूर्व दीवान रघुनाथराव दीवान बहादुर से इस विषय पर वार्तालाप किया करते थे । उनको यह बात भी सूझी कि प्रति वर्ष कांग्रेस में भारतवर्ष के प्रतिनिधि इकट्ठे होते हैं उस अवसर पर समाज-सुधार के प्रश्न जैसे कि पुनर्विवाह, बालविवाह, विदेश-यात्रा इत्यादि पर सब के समक्ष विचार करने से बहुत कार्य हो सकता है । इसी के अनु-

सार मदरास की सन् १८८७ ईसवी की कांग्रेस के साथ 'सोशल कान्फ़रेन्स' भी जोड़ दी गई और कांग्रेस होने के बाद उस मण्डप में सुधारक वर्ग की भी सभा हुई। तब से बराबर कांग्रेस का काम पूरा होने पर सुधारक सभा का भी काम उसी मण्डप में होता है। उसमें कांग्रेस के लिए आये हुए प्रतिनिधि और प्रेक्षकगण भाग लेते हैं और सुधारक सभा में उपस्थित होते हैं। इस सभा में समाज-सम्बन्धी अनेक विषयों पर विचार किया जाता है और मन्तव्य प्रस्तावरूप से पास किये जाते हैं। रानडे आरम्भ से ही इस सभा के मुख्य मन्त्री बनाये गये थे। इस पद का काम उन्होंने बड़े उत्साह से मरण पर्यन्त किया था। मदरास में जो व्याख्यान दिया था उसमें उन्होंने कहा था—"नेशनल कांग्रेस, जातीय महासभा, की सोशल कान्फ़रेन्स अर्थात् सुधारक सभा छोटी बहिन है। छोटी बहिन की सहायता बिना बड़ी बहिन अपने निर्दिष्ट कार्य में यथेच्छ सफलता प्राप्त नहीं कर सकती।" अर्थात् राजनैतिक विषयों में उन्नति करने के लिए समाज-सुधार की आवश्यकता है। परन्तु यह खेद से कहना पड़ता है कि लोगों का जितना ख़याल कांग्रेस की ओर है उतना कान्फ़रेन्स की ओर नहीं है। यह इतनी लोक-प्रिय नहीं है और न इसके सभासदों में वैसा उत्साह ही दीखता है। सोशल कान्फ़रेन्स इतनी लोक-प्रिय क्यों नहीं है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन काल से जो रीति-रिवाज चले आते हैं और जो संस्कार हमारे चित्त में बैठे हुए हैं उनको सहसा दूर

कर देना कोई सुगम कार्य नहीं है । इसके लिए स्वात्मार्पण और गहरी विचार-शक्ति की आवश्यकता है । कांग्रेस में इतने त्याग की आवश्यकता नहीं । दूसरे उसमें राजनैतिक स्वत्वों के पाने का लालच भी भाग लेने वालों को होता है । फिर भी यह कहे बिना हम नहीं रह सकते कि किसी न किसी प्रकार समाज-सुधार का आन्दोलन भी धीरे धीरे परन्तु दृढ़तापूर्वक अपने आप आगे बढ़ रहा है । मदरास में सोशल रिफ़ार्म एसोसिएशन के समक्ष जो व्याख्यान रानडे ने दिया था उसमें सोशल कान्फ़रेन्स के उद्देश्य बतलाते हुए उसकी सात वर्ष की कार्यवाही की आलोचना की थी । यह व्याख्यान रानडे के अनेक विचारपूर्ण व्याख्यानों का एक अच्छा नमूना है इसलिए उसका अंश यहाँ पर देना उचित है:—

"सज्जनो ! इस दक्षिण प्रदेश में जहाँ एक हज़ार वर्ष पूर्व से धार्मिक, सामाजिक और नैतिक सुधार-सम्बन्धी चर्चा आरम्भ हुई थी वहाँ आज हम सब प्रान्तों से एकत्र हुए हैं । पिछले सात वर्षों में हम लोग देश में जुदे जुदे स्थानों पर सम्मिलित हुए थे, आज यहाँ पर एकत्र होने का सन्तोषजनक अवसर आया है । इस प्रदेश के भक्तों ने तामिल भाषा में जो भजन बनाये हैं वे ऐसे महत्त्व के हैं कि उनको पाँचवें वेद का स्थान दिया जाता है । वैवाहिक और अन्य माङ्गलिक अवसरों और धर्मक्रियाओं में आचार्य लोग उनका प्रयोग करते हैं । बारह सौ वर्ष हुए, अद्वैत मत के महान् आचार्य ने बुद्ध और ईरानी

मतवादियों के मतों का खण्डन किया था। उनके दो सौ वर्ष बाद विशिष्टाद्वैत और द्वैत मत के आचार्य उत्पन्न हुए जिन्होंने बहुत कुछ सुधार किया और ज्ञान और योग-मार्ग से भक्ति-मार्ग को प्रधान बतलाया। यह महान् आचार्य इस प्रदेश के गत एक हज़ार वर्ष में जो धार्मिक उन्नति हुई है उसके मूल कारण थे। दूसरे वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द, बङ्गाल के चैतन्य और सिक्ख धर्म के स्थापक नानक इन सबने दक्षिणी तत्त्वज्ञानियों के सिद्धान्तों के आधार पर अपने मतों की योजना की और उनको फैलाया। रामानुजाचार्य और उनके बाद जो उनकी गद्दी पर बैठे उन्होंने समाज-सुधार का काम सबसे पहले किया। वे विधवा की दुःखदायिनी स्थिति पर करुण दृष्टि से देखते थे और उनसे जो हो सकता था वह उनके कष्टनिवारण के लिए किया। वे नीच वर्ण के हिन्दुओं पर दया करते थे और उनकी उन्नति के उपाय करते थे। इन सब बातों के होते हुए उसी दक्षिण प्रदेश के मुख्य स्थान में राजा सर टी० माधवराव के प्रयत्न से सोशल कान्फ़रेन्स का जन्म हुआ, यह भी उपयुक्त ही हुआ है। मेरा ख़याल है कि इसका जन्म होने से अब तक, सात वर्ष में, उसमें आशाजनक सामाजिक सुधार हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि गत सात वर्षों में राजनैतिक और सामाजिक सम्बन्ध में हमारा उद्योग व्यर्थ गया है और जो विज्ञप्ति हमने प्रजावर्ग से की है उसका कुछ असर नहीं हुआ। राजनैतिक विषयों में जो सफलता आपको

प्राप्त हुई है वह आप लोगों को विशेष रूप से मालूम हो चुकी है। सामाजिक दशा में जो सुधार हुआ है मैं उसके सम्बन्ध में कुछ कहने का साहस करता हूँ। हिन्दुस्तान के मध्यवर्ती देशी राज्यों की ओर देखने से मालूम होता है कि किसी न किसी प्रकार के समाज-सुधार का आरम्भ वहीं से हुआ है। और इससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्रजा सुधार की आवश्यकता समझने लगी है। रजवाड़े राजनैतिक और औद्योगिक आन्दोलनों में अग्रभाग लें यह सम्भव नहीं है तो भी उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, प्रतापगढ़, सिरोही, डूँगरपुर इत्यादि राजपूताने की १७ रियासतों के अधिपति 'वाल्टरकृत राजपुत्र-हितकारिणी सभा' के सभासद हुए हैं। उन्होंने ऐसे नियम बनाये हैं कि जिससे विवाहादि और कर्मक्रिया में जो अँधाधुन्ध अपव्यय होता है उसमें कमी हो और छोटे बड़े सभी अपनी मान-मर्यादा के अनुसार अपने काम कर सकें। और साथ साथ अपनी जाति और उसकी शाखाओं में उन्होंने बालविवाह-सम्बन्धी उत्तम नियम बनाये हैं और वे अपना काम बड़े उत्साह से कर रहे हैं। बड़ौदे के श्रीमन्त महाराजा साहब ने अपने राज्य और उसके आस पास के महाजन और कणबी-वर्ग की प्रार्थना पर उन लोगों की जाति में सुधार करने का प्रयत्न किया है। खंभात के नवाब ने भी ऐसा ही काम किया है। आपके दक्षिण प्रदेश के निकटवर्ती मैसूर राज्य के महाराजा ने भी अपनी राज्य-सभा की अनुमति से गत वर्ष ही ऐसा नियम बनाया है जिससे बालविवाह और

वृद्ध पुरुषों के साथ छोटी अवस्था की लड़कियों से विवाह न हो सकें। उस नियम के अनुसार आठ वर्ष से कम उम्र की कन्या का विवाह नहीं हो सकता और चौदह वर्ष से कम अवस्था की लड़की का विवाह पचास वर्ष से ऊपर अवस्था वाले पुरुष के साथ नहीं हो सकता। काश्मीर के महाराजा ने अपने राज्य में स्थापित सुधार-समिति के प्रमुख का आसन स्वीकार किया है। इतना ही नहीं बल्कि ऐसा प्रयास किया है कि किसी के मरने पर रोने पीटने वालों को किराये पर बुलाना, और विवाह कर देने के बाद पिता का अपनी पुत्री का मुँह न देख सकना, इस तरह की कुरीतियाँ दूर हो जायँ। और बड़ौदा, इन्दौर, कपूरथला, भावनगर, मोरवी, गोंडल, बर्दवान, कूचविहार और कोल्हापुर के राजा लोग तथा दूसरे कितने ही राजा महाराजा विलायत-यात्रा कर आये हैं और अपने साथ में निज कुटुम्बियों और सहचरों को लेकर समुद्र पार हो आये हैं और इस प्रकार विदेश-गमन का मार्ग खोलने में आगे बढ़े हैं। हमारा यह कहना नहीं है कि यह सब उन्नति कान्फ़रेन्स के कारण हुई है परन्तु जिस उत्साह के कारण इस कान्फ़रेन्स की आवश्यकता बताई जाती है उसी उत्साह से इस प्रकार के सुधार देशी रजवाड़ों में अपने आप होते चले जा रहे हैं। सुधार के लिए जुदे जुदे राज्यों में जुदे जुदे प्रकार से सफलतापूर्वक प्रयत्न हो रहा है। मैसूर में क़ानून से सुधार किया गया है और गायकवाड़ के राज्य में जाति की सूचना से वही काम किया गया है। और रजवाड़ों

में शासक-वर्ग की आज्ञा के अनुसार सुधार हुआ है। हमारी गवर्नमेंट परदेशी है, वह भी राजपूताने के सुधार की ओर लोगों का ध्यान होने से उत्तेजित हुए बिना रहेगी नहीं। परन्तु हम को इसकी आवश्यकता नहीं है। सरकार भी इस काम में पड़ना उचित नहीं समझेगी। सरकार तो विद्या का प्रचार कर हर विद्यार्थी को अपना कर्त्तव्य बता देती है। तो भी विशेष आवश्यकता समझने पर सरकार कुछ करने को तैयार हो जाती है। दक्षिण की नीच जातियों में अमुक देवता को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य की पीठ में लोहे का कड़ा डाल कर लटकाने की जो रीति थी उसको सरकार ने अपनी आज्ञा द्वारा बन्द किया है और बम्बई तथा वायव्य प्रान्तों में राजपूत और कणबी लोगों में विवाह में जो बहुत धन नष्ट होता था उसको कम करने के लिए भी व्यवस्था की है। प्रजा के हित के लिए सम्मति-वय का क़ानून भी बनाया है परन्तु उस क़ानून के बनाने के समय प्रजा ने उसका घोर विरोध किया था, उससे वह अप्रसन्न हो गई है। और अब समाज-सुधार के मामले में सरकार हाथ डालने में हिचकती है। परन्तु यह जान कर मुझे आनन्द होता है कि माननीय मधुस्वामी आयर की कमेटी के परामर्श के अनुसार सरकार मलाबार के विवाह-सम्बन्धी क़ानून के बिल पर विचार करना चाहती है और बङ्गाल में भी माननीय बाबू बिहारीलाल को धारा-सभा में सुधार-सम्बन्धी एक प्रस्ताव पेश करने की आज्ञा मिली है। इस प्रकार सरकार और देशी राज्य

भी सुधार की आवश्यकता और उसके महत्त्व को समझते जाते हैं। और ऐसा जान पड़ता है कि ईश्वर सब की प्रेरणा इस कार्य की ओर कर रहा है।

"कदाचित् आप लोगों में से कोई सज्जन यह कहेंगे कि सरकार की ओर से जो सुधार हो वह सच्चा सुधार नहीं है। प्रजा का ध्यान उस ओर आप ही आप जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में हमको अब यह बात देखनी चाहिए कि गत ७ वर्ष में प्रजा ने इस विषय में कुछ किया है या नहीं। हिन्दुस्तान के उत्तर पश्चिम—देश में ६—७ शहरों में इससे भी भारी सभा और बड़े उत्साह से हाल में होती है। उत्तर में कायस्थों की बड़ी सभा की बैठक मथुरा में गत वर्ष हुई थी। वैश्य कान्फ़रेन्स गत वर्ष लाहौर में हुई थी और इस साल शाहजहाँपुर में होने वाली है। भार्गवों ने अपनी सभा लखनऊ में की थी। उदीच्य-सभा बम्बई में और जैनों एवं मुसलमानों की अहमदाबाद में हुई थी। मुसलमानों की कान्फ़रेन्स में वेश्या के नाच और विवाह में अधिक धन-व्यय के प्रति अप्रसन्नता प्रकट की गई थी। पञ्जाब में जुदी जुदी जातियों ने अपनी अपनी सभायें स्थापित की हैं जिनमें सरणी, कायस्थ और खालसा-सभा मुख्य हैं। आपकी तरफ़ भी श्रीमाधव तीरपट में अपनी सभा कर रहे हैं। यह सब कार्य प्रत्येक जाति-मण्डल की ओर से हो रहा है और वे अमुक प्रस्तावों को स्वीकृत कर उनको कार्यरूप में परिणत करते हैं। इस कारण यह कान्फ़रेन्स

इन संस्थाओं से अपने उद्देश की पूर्ति में बड़ी सहायता की आशा रखती है।

"देश के कितने ही भागों में यदि अनेक सभायें सुधार के विषय में उपयोगी हो रही हैं तो दूसरी ओर धार्मिक संस्थायें भी जैसे आर्य-समाज, धर्ममहामण्डल और सनातन-सभायें तथा इस प्रकार की दूसरी समिति आदि भी स्वतन्त्र रूप से कोई न कोई सुधार का उपयोगी कार्य कर रही हैं। आर्यसमाज ने इस सम्बन्ध में आश्चर्यजनक कार्य किया है। उसकी ओर से मद्यपान-निषेधक सभा स्थापित हुई है और ऐसे विषयों पर गीत बनाये गये हैं जिनको शुभ प्रसंगों पर स्त्रियाँ गाती हैं। उसने पुनर्विवाह को उत्तेजना दी है, बालकों और कन्याओं के लिए कालेज और मदरसे बनाये हैं, और अनेक प्रकार से उदारता-पूर्वक यत्न किया है। संक्षेप से कहें तो समाज-सुधार के लिए जो कुछ करने की आवश्यकता है वह सब आर्यसमाज ने पंजाब में किया है। बङ्गाल में भी ब्रह्मसमाज के लोगों ने अपने लिए विवाह का विशेष क़ानून बनवा कर सुधार-विषयक कितनी ही बातों में हमसे आगे उन्नति कर ली है।

"जाति-सभा और धार्मिक संस्थाओं के अतिरिक्त तीसरे वर्ग की और संस्थाएँ भी हैं जिनमें से मदरास की हिन्दू सोशल रिफ़ार्म एसोसिएशन है, जिसके वार्षिकोत्सव में हम यहाँ एकत्र हुए हैं। बिलारी का सन्मार्ग-समाज, बरार सोशल रिफ़ार्म एसोसिएशन, अहमदाबाद और सिन्ध एसोसिएशन, बम्बई,

मदरास, वर्धा इत्यादि स्थानों में पुनर्विवाहोत्तेजक मण्डली और इसी प्रकार की अनेक संस्थायें हैं जो समाज-सुधार के लिए उद्योग कर रही हैं और अपने सभासदों तथा कार्य-कर्त्ताओं की प्रतिज्ञाओं पर विश्वास कर अपना काम कर रही हैं। पहले दोनों वर्गों की संस्थाओं के बराबर यद्यपि तीसरी संस्था सत्ता नहीं रखती है तो भी यह अपना कार्य कर रही है। इन तीनों प्रकार की संस्थाओं के उपरान्त देश में और भी संस्थाएँ हैं जैसे जुदे जुदे स्थानों में मद्यपान-निषेधक और सद्वर्तन-समिति आदि। यह भी आवश्यक कार्यों में योग देती हैं।

"इस जागृति का परिणाम यह मालूम होता है कि लोगों का ध्यान सद्व्यवहार, और परोपकार-वृत्ति के नीति-नियमों की आवश्यकता की ओर जाने लगा है। और यह बात सुधार-संबंधी हमारे उद्देशों की पूर्त्ति में बड़े महत्त्व की तथा आशाजनक मालूम होती है। प्रजा में इस वृत्ति के उपजाने की ओर सरकार का भी ध्यान गया है। इसी वृत्ति के कारण जीवित प्राणियों का वध, छूत रोगों का क़ानून, प्लेग में स्त्रियों पर होने वाले अनौचित्य इत्यादि के विरुद्ध प्रजा में आन्दोलन हुआ था। मद्य-पान का निषेध करने के लिए जो लोगों में चर्चा उठी है, उसका परिणाम यह हुआ है कि सरकार को इस विषय की जाँच करने के लिए दो कमीशन बिठाने पड़े हैं। धर्म के नाम पर जो असंख्य रुपये मन्दिर इत्यादि को दिये जाते हैं उनको विशेष उपयोगी कार्य में लगाने की हलचल हो रही है। वेश्याओं का नाच और

आचरण की शिथिलता के विरुद्ध जो लोगों का पक्ष होता जाता है वह भी इसी वृत्ति का कारण माना जा सकता है । इसी प्रकार नीच जातियों को सहायता करने और उनकी दशा सुधारने की लोगों में प्रवृत्ति देखी जाती है । बाल-विधवाओं की क्लेशदायक दशा की ओर भी लोगों का ध्यान विशेष आकर्षित होता जाता है । कलकत्ता, अहमदाबाद और पूना में विधवा-आश्रम खोले गये हैं और परीक्षा के लिए बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह भी कराये जा चुके हैं । एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने की रीति और लड़की बेचने का रिवाज दिन दिन उठता जाता है । परन्तु इसका एकदम अदृश्य होना असंभव है । ७५ से अधिक पुनर्विवाह मेरे प्रान्त में हुए हैं और भी होते जाते हैं । इन सब बातों से प्रत्यक्ष जान पड़ता है कि सुधारपक्ष बलवान होता हुआ उन्नति करता जा रहा है ।

"मुझे आशा है कि इन सब बातों से मैं यह दिखा सका हूँ कि गत सात वर्षों में हमारी कान्फ़रेन्स ने जो काम किया है, वह औद्योगिक और राजनैतिक सुधार से तुलना योग्य है । मदरास एसोसिएशन के सभासद चाहे थोड़े हैं तो भी समय के अनुसार वे अपना काम तन मन से कर रहे हैं । यह उनके लिए बड़े सन्तोष की बात है । वे लोग जलते हुए अंगारे की तरह हैं जिनकी अग्नि निरुत्साह से शान्त नहीं हो सकती । उनकी जैसी प्रवृत्ति भारतवर्ष में सब जगह देखने में आती है और यदि इस समय उनका पक्ष और उसके लिए

उनके कार्य और उत्साह लोगों को अप्रसन्न करते हैं परन्तु अन्त में उनको विजय प्राप्त होगी और यह लोग सफल-मनोरथ होंगे।

"मदरास एसोसिएशन की वेश्या-नाच के विपक्ष में जो हलचल हुई है उसको पञ्जाब वालों ने भी अपने सिर उठाया है। सारा पञ्जाब इस विषय में एकमत होने लगा है। अहमदाबाद के हिन्दू और मुसलमानों ने भी ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया है। रावलपिण्डी, धारवाड़, बेलारी, मछलीपट्टन आदि जगहों में भी यह बात प्रस्तावरूप से पास हुई है और उनके अनुसार कार्य करने का भी प्रयत्न हो रहा है।

"मैसूर राज्य ने बड़ी हिम्मत से जिस प्रकार बाल-विवाह के रोकने के लिए जो क़ानून बनाया है उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। राजपूताने में भी इस हानिकारक प्रथा को निर्मूल करने के लिए क़ानून बनाये जाते हैं। समस्त देश का ध्यान बाल-विवाह से होने वाली हानियों की ओर तथा उसमें आवश्यक सुधार की ओर आकर्षित हो रहा है। किसी किसी जाति ने तो लड़कों और लड़कियों की उम्र विवाह के लिए निश्चित कर दी है। जैसे भार्गवों ने १२, मथुरा के चौबों ने १३, और महाजनों ने १२ वर्ष की अवस्था लड़की के विवाह के लिए निश्चित की है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि इस विषय में सदा के लिए सुधार हो जाने में विशेष काल नहीं लगेगा। गत वर्ष बारह पुनर्विवाह हुए थे। कितनी ही जाति के पञ्च और सरदारों ने अग्रसर होकर पुन-

विवाह की आज्ञा माँगने के लिए अपने जाति-भाइयों से प्रस्ताव किये हैं ।

"विलायत-यात्रा कर आने वालों के साथ कैसा व्यवहार होने लगा है और उनको फिर जाति में ले लेने के बारे में एक मामला मदरास में और दो बङ्गाल में ऐसे हुए हैं जिनसे जाति वालों की ओर से सन्तोष होता है। मिस्टर चेटी आमूं ने हमारे देशी ब्राह्मणों को बिना विरोध के फिर जाति में ले लिया है। बङ्गाल की कायस्थ जाति ने मिस्टर उपेन्द्रनाथ दास को—जो विलायत हो आये हैं और अँगरेज़ स्त्री से अपना विवाह कर लाये हैं जिस से उनके पुत्र भी हुए हैं—बिरादरी में ले लिया। पञ्जाब के आर्यसमाज ने और एक सिक्ख-सभा ने बारह मनुष्यों को, जो मुसलमान हो गये थे, शुद्ध कर जाति में ले लिया है। सुधारक वर्ग में और प्राचीन प्रथा का अनुकरण करने वालों में, दोनों में परस्पर अच्छा सम्बन्ध होता जाता है, यह भी बड़े सन्तोष की बात है। मुझे शङ्का होती है कि मैंने आपका बहुत समय लिया है। हमने जो कार्य उठाया है उसको पूरा करने के लिए अन्तःकरण से प्रयत्न करने के अतिरिक्त ईश्वर पर श्रद्धा, अगाध धैर्य और परोपकार-वृत्ति जैसे महान् गुणों की भी आवश्यकता है। हम इन गुणों का सदा मनन करते हुए यदि दृढ़ता से कर्त्तव्य पालन करते रहें तो अपने पूर्वजों की उच्च स्थिति, जो इतिहास में वर्णित है, उसको प्राप्त कर सकेंगे। ऐसा करने से ईश्वर भी अवश्य सहायता करेगा। यदि हमको दुःख भोगना पड़ता है तो वह हमारे भूतकाल और

वर्तमान के पापों का फल है। अपने पापों को धो डालेंगे तो कीर्त्ति की किरण अपने आप प्रकाश करने लगेगी। ऐसी आशा के साथ यह भी हमको निश्चय समझ लेना चाहिए कि हम शुभ कार्य में भाग ले रहे हैं और जिस प्रमाण से हम यत्न करेंगे उसी प्रमाण से सफलता प्राप्त करेंगे।"

रानडे का यह कहना था कि समाज-सुधार का एक बड़े महत्त्व का साधन स्त्री-शिक्षा है और इसलिए इसके प्रचार की बहुत आवश्यकता है। इस कार्य में वे यथा-संभव योग देते थे और हर प्रकार से उसको उत्तेजना देते थे। पूना में कन्या हाई स्कूल की स्थापना करने में उन्होंने नेता होकर बड़ा भाग लिया था और यह हम ऊपर कह भी चुके हैं। जहाँ जहाँ रानडे को नौकरी के वश जाना पड़ा था वहाँ कन्या-पाठशाला का निरीक्षण करने या पारितोषिक आदि वितरण करने के समय पाठशालाओं की सभा में प्रमुखपद स्वीकार कर भाग लेने के लिए अपनी सहधर्मिणी का कर्त्तव्य सा निश्चय कर दिया था। स्त्री-शिक्षा के लिए रानडे अपनी पत्नी द्वारा स्त्री-सभा अपने मकान पर कराते और शहर की स्त्रियों को एकत्र कराते। इस प्रकार अनेक स्थानों में उन्होंने महिला-समाज स्थापित कराये थे। सन् १८९७ ईसवी में अमरावती में जो सोशल कान्फ़रेन्स हुई थी उसमें एक उत्तम वक्तृता रानडे ने दी थी और स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में यह कहा था—"जिसकी हमको अत्यन्त आवश्यकता है उस स्त्री-शिक्षा की स्थिति अब तक मन्द ही है। इतना अवश्य

हुआ है कि प्रजा की जागृति जो भारतवर्ष में अब देखने में आती है उसको सब लोग हितकर समझते हैं और अपनी बहिनों में नैतिक लक्षणों और मानसिक शक्तियों के विकाश की आवश्यकता सब मानते हैं। हमको आशा है कि हमारे देश की स्त्रियाँ थोड़े समय में ऊँचे प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर उत्तम गृहिणी बन कर समाज-सुधार में बड़ी सहायक होंगी।"

मिस्टर मलाबारी ने एक लेख 'बालविवाह और बलात् वैधव्य' पर लिखा था। उस पर से रानडे ने भी एक लेख 'सामाजिक विषयों में सरकारी व्यवस्था' नामक लिखा था। इस लेख में रानडे ने विधवाओं का पूर्ण रीति से पक्ष ग्रहण कर बलात् वैधव्य, बालविवाह और एक स्त्री के जीते जी दूसरी स्त्री से विवाह करने की रीति पर बड़ी कड़ी आलोचना की है। इस लेख में उन्होंने यह भी दिखलाया है कि सती और बालहत्या के रोकने के लिए यद्यपि क़ानून बना दिया गया है परन्तु यह पाप-कर्म अल्प समय के आवेश के कारण किये जाते थे इसलिए यह इतने दूषित कर्म नहीं हैं जितने कि यह दोनों हैं, क्योंकि यह सब जान बूझ कर किये जाते हैं। इस लिए यह दूषित कर्म विशेष गम्भीर हैं और इनका एक दम रोक देना आवश्यक है। पुरुष के लिए विवाह के योग्य वय कम से कम १८ वर्ष की होनी चाहिए और कन्या की १२ होनी चाहिए। ५० वर्ष से अधिक अवस्था वाले पुरुष का विवाह १४ वर्ष से कम की कन्या से नहीं होना चाहिए। किसी विधवा

का पुनर्विवाह होने पर उसका हक़ अपने मृत पति की जायदाद पर से उठा नहीं देना चाहिए । इन्हीं बातों का उल्लेख रानडे ने उस लेख में किया है ।

इस प्रकार रानडे समाज-सुधार के आन्दोलन में बड़ा भाग लेते थे और इस कारण उनको (Father of the Social Conference) सोशल कान्फ़रेन्स के पिता का नाम दिया गया है । सन् १८९१ ईसवी में जब सम्मति-वय का क़ानून बना था तब प्राचीन व्यवस्था के मानने वालों ने इसका बड़ा विरोध किया था और देश भर में इसकी खलबली मच गई थी; तो भी रानडे ने इस काम में अच्छी सहायता की थी । सन् १८८७ ईसवी से, जब से कि सोशल कान्फ़रेन्स की स्थापना हुई तब से, रानडे अपने मरण-पर्यन्त बराबर उसके जलसों में बहुत सी कठिनाइयाँ उठा कर भी जाते थे और अपने सरस, चित्ताकर्षक एवं बोध-युक्त प्रास्ताविक व्याख्यान सदा दिया करते थे । उनका हर एक व्याख्यान उनकी उच्च कोटि की प्रतिभा और अनुभव का नमूना है । उनके व्याख्यान को सुनते समय ऐसा जान पड़ता था कि श्रोतागण अपने दुनियादारी के काम काज से मुक्त होकर उच्च प्रकार की इच्छाओं और प्रेरणाओं के प्रदेश में आनन्द अनुभव करते हों । इन्हीं कारणों से उनके व्याख्यानों को रा० ब० मानकर ने 'वार्षिक बिमानारोहण' (Annual balloonings) की उपमा दी है । सन् १९०१ ईसवी की जनवरी में सोशल कान्फ़रेन्स के जन्मदाता का देहान्त हुआ था इस कारण

सन् १९०० की कान्फ़रेन्स में, स्वास्थ्य ठीक न होने से, रानडे नहीं जा सके थे। इस अवसर पर लाहौर जाने की उन्होंने तैयारी कर ली थी परन्तु तबीयत ठीक न होने से उन्हें जाने का विचार छोड़ देना पड़ा था। अपनी अनुपस्थिति में अपना लिखा हुआ लेख पढ़ने के लिए—जिस लेख को (Mr. Rande's last Message to the Hindu Community) 'रानडे का हिन्दुओं को अन्तिम सन्देश' कहा जाता है—माननीय मिस्टर गोखले को दिया था और उनके साथ अपने छोटे भाई को भी लाहौर भेजा था। यही एक ऐसा अवसर १८ वर्ष में प्राप्त हुआ था जब रानडे कान्फ़रेन्स में नहीं जा सके। इसका शोक गद्गद कण्ठ से, कलेजा भर आने के कारण, उन्होंने अपने निकटवर्त्ती लोगों को दर्शाया था। इस निबन्ध में रानडे ने यह दिखलाया है कि प्राचीनकाल में ब्राह्मण-क्षत्रियादिक वर्णों में परस्पर बेटी-व्यवहार का निकट सम्बन्ध था और इस बात के बहुत से प्रमाण भी दिये हैं। पुरातनकाल के ऋषियों के प्रति अपना पूज्यभाव प्रदर्शित करते हुए उनके समय की आधुनिक काल से तुलना की है और प्राचीनकाल के ऋषियों जैसे समर्थ गुरुओं की आवश्यकता समाज-सुधार के लिए बतलाई है। अपने उपस्थित न हो सकने का खेद प्रकट करते हुए कान्फ़रेन्स का कार्य सफलतापूर्वक होने के कारण उन्होंने अपनी प्रसन्नता मान० जस्टिस नारायण गणेश चन्दावरकर को, ४ जनवरी सन् १९०१ को, एक पत्र द्वारा दिखलाई थी।

रानडे का कान्फ़रेन्स के प्रति कैसा भाव था यह दिखलाने के लिए इस प्रकरण को समाप्त करने के पहिले उस पत्र का सारांश यहाँ दिया जाता है।

सानोली ता० ४ जनवरी १९०१

प्रिय मित्र नारायणराव,

मेरे भाई कल रात को लाहौर से वापिस आ गये हैं और मान० मिस्टर गोखले परसों आ गये हैं। तुमने अपने और आवश्यक कार्यों को छोड़ कर कान्फ़रेन्स की सफलता के लिए जो पूर्ण उद्योग किया वह सब उन्होंने मुझसे कहा है जिसे सुन कर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है। मुझे विश्वास हो गया है कि यह जलसा सब प्रकार से सफल रहा है। उसमें लोगों ने जो उत्साह दिखलाया था वह पहले जलसों से बढ़ कर था। तुमने अपनी ओर से कोई कमी नहीं रक्खी इसके लिए तुम्हारा अन्तः-करण से उपकार मानता हूँ। जब मैंने माननीय मिस्टर गोखले को अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा था तो उनसे निश्चयपूर्वक कह दिया था कि लाहौर में तुम्हारी उपस्थिति से बड़ी सहायता मिलेगी। जो समाचार मुझे मिले हैं उनसे मालूम हुआ कि मेरी आशा से भी बढ़ कर तुमने कार्य करने की कृपा की। इसलिए मैं तुम्हारा बहुत अनुग्रहीत हूँ। आज कल इतनी सरदी पड़ती है कि मैं उसे सहन नहीं कर सकता हूँ। मेरे वैद्य भी ऐसी सलाह देते हैं कि दो तीन सप्ताह पहले मुझे पूना नहीं

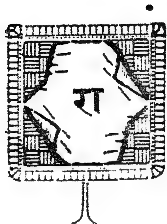
जाना चाहिए । इसलिए एक दो दिन बाद बम्बई आने का विचार रखता हूँ।

तुम्हारा सच्चा मित्र

एम० जी० रानडे।

पाँचवाँ अध्याय

धार्मिक विचार।



जा राममोहनराय एक प्रसिद्ध बङ्गाली थे। ७० वर्ष के लगभग हुए उन्होंने बङ्गाल में एक-ईश्वरवादी धार्मिक हलचल आरम्भ की थी। बाद में इस धार्मिक हलचल को 'ब्रह्म-समाज' का नाम देकर उसका अच्छा प्रचार किया था। इसके अनुसार बम्बई प्रान्त में भी 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना हुई है। रानडे प्रार्थना-समाज के उत्साही, भावुक और एक उद्योगी सभासद थे। वे समाज के नियमों का पूर्ण रीति से पालन करते थे। उसकी सभाओं में सदा उपस्थित होकर अग्रगण्य भाग लेते थे। ऊपर यह बात कही जा चुकी है कि जब वे पूना में थे तो उन्होंने समाज के लिए भवन बनवाया था और अनेक प्रकार से समाज को सहायता दी थी। बम्बई आ जाने पर वे वहाँ के प्रार्थना-समाज के प्रधान कार्यकर्त्ता हुए और प्रमुख बनाये गये। इस प्रमुख पद पर मरणपर्यन्त रह कर अपने सरल, विद्वत्तापूर्ण सरस व्याख्यानों से और दूसरे प्रकार से उन्होंने समाज को जागृत कर दिया था। श्रीमती रमाबाई रानडे ने लिखा है कि रानडे धर्मोपदेश बड़े प्रेम और गम्भीरता से करते

थे । सुनने वाले क्षणमात्र के लिए देह को भूल जाते और उपदेश में तन्मय हो जाते थे । कभी कभी शान्त और भक्तिपूर्ण वृत्ति के कारण उपदेश के समय रानडे का मुख तेजोमय दिखाई देता था । राजा राममोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, बाबू केशवचन्द्र सेन और बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार आदि प्रसिद्ध पुरुषों ने जो बङ्गाल में धार्मिक जागृति के लिए काम किया है वैसा ही काम परन्तु उससे कुछ उतरता हुआ बम्बई में रानडे और उनके सहाध्यायी डाक्टर भाण्डारकर ने किया है । अपने सहायकों के साथ अनुकरणीय जीवन से, अपने निष्कलङ्क चरित्र से, एक-ईश्वरवादी सिद्धान्त के दृढ़तापूर्वक पालन से, समाज-मन्दिर में अपने उत्कृष्ट व्याख्यान और प्रार्थनाओं से और अनेक प्रकार से रानडे ने 'प्रार्थनासमाज' की उन्नति के लिए बड़ा प्रयत्न किया था और इसी कारण वे समाज के स्थापकों में स्तम्भरूप गिने जाते हैं ।

प्रार्थनासमाज का मत एक-ईश्वरवादी है । जो लोग यह नहीं मानते हैं कि भविष्य में समस्त देश अज्ञेयवाद में डूब जायगा, उनकी ऐसी धारणा है कि यह मत समस्त भारतवर्ष का सामान्य धर्म होगा । क्योंकि इतिहास के देखने से मालूम होता है कि आदिकाल से पदार्थों की उत्पत्ति और मनुष्य-जीवन की भावी दशा के सम्बन्ध में निषेधात्मक प्रमाण से मनुष्य के मन को सन्तोष नहीं प्राप्त होता । मनुष्य के अन्तःकरण के सन्मुख अब तक पदार्थों की उत्पत्ति और उनके स्वरूप के सम्बन्ध में दो ही प्रकार के प्रमाण दिये गये हैं । एक तो निषे-

धात्मक और दूसरे भावात्मक अर्थात् Negative और Positive. इनमें से भावात्मक मन को विशेष ग्राह्य है और भविष्य में यही प्रमाण मुख्य रहेगा। और यदि इसके कुछ अंशों में अन्तर होगा तो उसी प्रमाण में जितना कि मनुष्य तर्कशास्त्र के मूल तत्त्वों में वा सुधार और ज्ञान की मात्रा में उन्नति करेगा। इसके अनुसार इस सिद्धान्त का स्वरूप बदल सकता है और ऐसी मानसिक उन्नति के साथ सिद्धान्त-विरुद्ध जो निर्मूल विश्वास वा निराधार विचार होंगे वे सब त्याज्य होंगे। प्रोफ़ेसर ए० सी० फ्रेज़र ने अपने 'गिफ़र्ड' व्याख्यानों में कहा है—"जिस मानसिक स्थिति में मनुष्य का मन शङ्कायुक्त रहता है उस स्थिति में बहुत काल तक मनुष्य नहीं रह सकता। ('संशयात्मा विनश्यति'—श्रीमद्भगवद्गीता के वाक्य के अनुसार है।) मनुष्य के जीवन के पशुमय अंश में कितनी ही वस्तुओं का भान होता है और उन वस्तुओं के जड़ और भौतिक स्वरूप में श्रद्धा रखने की आवश्यकता होती है। उदाहरण यह है कि हम खाये पिये बिना जीवित नहीं रह सकते और खाने पीने के पदार्थों को देख कर उनके स्वाद वा पौष्टिकत्व में विश्वास किये बिना उनका उपयोग नहीं कर सकते।" भावात्मक प्रमाण की श्रेष्ठता आर्य-भूमि में प्राचीन उपनिषद् काल से मानी जाती है। जगत् के कारण का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए छान्दोग्य उपनिषद् में जो श्वेतकेतु को उसके पिता ने उपदेश किया है वह और इसी प्रकार के दूसरे दृष्टान्त इस बात के प्रमाणरूप हैं।

रानडे का कहना था कि ब्रह्मसमाज वा प्रार्थनासमाज कोई बिलकुल नई धार्मिक संस्था नहीं है। आज कल जो धर्म प्रचलित हैं उनमें मूर्तिपूजा, अनेक ईश्वरवाद, कुरीतियाँ,—जिनके कारण यथार्थ ज्ञान का लोप हो गया है—शास्त्र की आज्ञाओं का अनर्थ, नीति के नियमों का और उनके अंकुशों का निरुपयोगी हो जाना,—जिसके कारण अन्तःकरण की भक्ति का लोप होकर रीति-रिवाज ही रह गये हैं—ऐसी ऐसी बातों का समावेश हो गया है। इन सब कुरीतियों और दुर्व्यवस्था पर आक्षेप करने वाली आधुनिक संस्था ब्रह्मसमाज है। वेद के समय से आधुनिक काल तक बराबर धर्म के दुरुपयोग के विरुद्ध उपनिषद्कारों ने समय समय पर ऐसे आक्षेप और आपत्तियाँ की हैं। यज्ञादिक में उत्तम फल देने की कोई शक्ति नहीं है और न कर्मकाण्ड की आवश्यकता है। संसार के दुःखरूप सागर को पार करने के लिए यह साधन नहीं हैं। और ज्ञानमार्ग से अर्थात् परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने से और उसके ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है न कि कर्मकाण्ड और यज्ञ-होमादि से। ऐसा उपनिषद्कारों का कहना है। डाक्टर भाण्डारकर ने ५ मई सन् १८९५ ईसवी को डेकन कालेज में विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान दिया था, उसमें इन्हीं बातों को बड़ी उत्तमता से कहा था। ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व, बौद्ध-धर्म के स्थापक शाक्यमुनि तो उपनिषद्कारों से भी आगे बढ़ गये। ज्ञान और कर्मकाण्ड को एक ओर छोड़ कर, मनोविकार को वश में कर उत्तम प्रकार की

अन्तःकरण-शुद्धि प्राप्त करने का उन्होंने उपदेश किया। पशु-हिंसा और यज्ञादिक का निषेध करते हुए उन्होंने जाति-भेद की कड़े शब्दों में आलोचना की। उन्होंने प्रेमभाव और अहिंसा के सिद्धान्त पर एक नये धर्म की व्यवस्था की। इसमें कुछ विकारों का समावेश हो गया है परन्तु अब भी मनुष्य-जाति का एक बड़ा भाग इसके आश्रित है। महाराष्ट्र में सोलहवीं सदी से तुकाराम, रामदास, नामदेव इत्यादि उत्पन्न होने लगे। उनका कहना यह था कि ईश्वर पर श्रद्धा रखने से और उसका बार बार नामोच्चारण करने से मोक्ष प्राप्त होता है। इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करने का प्राणिमात्र का मुख्य हेतु सिद्ध करने के लिए निरर्थक यान्त्रिक क्रियाओं और रीति-रिवाज के अनुकूल आचरण से पवित्र जीवन और निरभिमानता श्रेयस्कर हैं। उन्होंने प्रार्थना आदिक धार्मिक क्रियाओं में बोल-चाल की भाषा का, जो जनसाधारण की समझ में आती है, उपयोग किया है और संस्कृत की निरुपयोगिता को स्पष्ट बतलाया है। रानडे ने दक्षिण के इन साधुओं के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों का अच्छी तरह मनन किया था। उन्होंने अपने धर्म-सम्बन्धी ज्ञान को इन प्रसिद्ध साधुओं के ग्रन्थों को पढ़ कर और विदेशी विद्वानों की पुस्तकों को देख कर बहुत बढ़ाया था और इस विषय में उन्होंने बड़ा गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया था। रानडे प्रार्थनासमाज के अग्रगण्य और उत्साही सभासद गिने जाते थे, परन्तु उसके नियमों के पालन कर लेने से अपने को कृतकार्य नहीं मानते थे। मनुष्य

जाति के प्रति उनका पूर्ण बन्धुभाव था और ईश्वर पर अनन्य श्रद्धा रखते थे। प्रार्थनासमाज में और अन्य स्थानों पर अँगरेज़ी और मराठी में जो उनके अनेक धार्मिक व्याख्यान हुए थे वे बड़े बोधदायक और सार-गर्भित हैं। उनके व्याख्यानों से मालूम होता है कि वे केवल अँगरेज़ी में ही उत्तम व्याख्यान न दे सकते थे, बल्कि अपनी मातृ-भाषा मराठी में भी—जिसके कि वे एक पूर्ण पण्डित और अभ्यासी थे—वैसे ही उत्तम व्याख्यान दे सकते थे। स्वयं मराठी-साहित्य-भंडार से सुपरिचित होने के कारण वे देशी भाषाओं के बड़े पक्षपाती थे और यूनीवर्सिटी के अभ्यास-क्रम में उनको स्थान दिलाने के लिए उन्होंने बड़ी सिफ़ारिश की थी। इन सब व्याख्यानों में 'हिन्दुस्तान का सुधारक धर्म' के लिए मदरास के 'हिन्दू' पत्र ने लिखा था कि वह (Era-making) 'शक-प्रवर्तक' है। यह व्याख्यान उन्होंने सन् १८९५ ईसवी में बम्बई के प्रार्थनासमाज में दिया था। सचमुच वह भाषण रानडे के धार्मिक व्याख्यानों में एक नमूने जैसा है। उसका सारांश यहाँ दिया जाता है:—

"जिस धार्मिक हलचल को हमारे साधु धर्मोपदेशकों ने 'भागवत धर्म' का नाम दिया है, उसकी उत्पत्ति और गत २००० वर्ष में उसके प्रचार के विषय पर मैं कुछ वर्षों से अपने विचार आप लोगों के सन्मुख इस आसन पर से और दूसरे अवसरों पर प्रगट कर रहा हूँ। इसी 'भागवत धर्म' का एक प्रति-बिम्ब वा शाखारूप हमारा समाज भी है। 'भागवत धर्म' का मुख्य

लक्षण उसका Protestant होना है अर्थात् प्रचलित धर्म में जिन कुरीतियों और अत्याचारों का समावेश है उसके विरुद्ध आपत्ति करना है। यहूदियों की तरह हम लोगों में भी बराबर सत्पुरुषों का जन्म हुआ है। उन्होंने अपने जीवन, रहन सहन और उपदेशों से कुरीतियों और अत्याचारों का प्रतीकार किया है जिनके कारण वास्तविक धर्म और उसका यथार्थ स्वरूप ढक जाता है, इस कारण से 'भागवत धर्म' को हम निःसंकोच होकर प्रोटेस्टेन्ट वा संस्कृत हिन्दू-धर्म कह सकते हैं। इस धार्मिक हलचल के लक्षणों की ओर, जिसने हमारा बड़ा लाभ किया है और जो भविष्य में और विशेष रूप से करेगी, मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। हमारे विद्यार्थी योरप की प्रोटेस्टेन्ट हलचल को जानते हैं। परन्तु यह बात बहुत से लोग नहीं जानते कि अन्तःकरण की जिस शुद्धि और मन के संस्कार की जिस प्रवृत्ति का परिणाम प्रोटेस्टेंट धर्म था वैसी ही शक्तिशाली प्रवृत्ति इस देश में उसी समय उत्पन्न हुई थी और उसका भी परिणाम वैसा ही हुआ था। क्रिश्चियन-धर्म के प्रोटेस्टेंट लोग गिरजाघरों में और विद्यालयों में लेटिन भाषा के विरोधी हुए। मर्यादा-विहीन वैराग्यमय भावना, बात बात में धर्मक्रिया और पादरी की उपस्थिति की आवश्यकता, धर्मोपदेशकों के आचार-भ्रष्ट जीवन, यात्रा, उपवास, पादरी से अपने पापकर्मों के स्वीकार करने से क्षमा प्राप्त करना, और दोषादोष में धर्म-गुरुओं के मनमाने सिद्धान्तों को मानना—इन सब बातों का विरोध प्रोटेस्टेन्ट लोगों

ने किया था; और मूर्तिपूजा, मृत संतों की अस्थि का पूजन, और निरर्थक विधि-संस्कारों पर भी आक्षेप किया था। इस निषेध से वे लोग अपने समाज में ही केवल सुधार नहीं कर सके थे बल्कि उनके विपक्षी रोमन केथोलिक लोगों को भी बाध्य होकर अपनी बहुत सी कुरीतियाँ दूर करनी पड़ी थीं। और रोमन केथोलिक चर्च को बहुत से संस्कार कर लेने पर फिर वही पद और सत्ता प्राप्त हो गई जो कि एक प्राचीन और प्रतिष्ठित सम्प्रदाय को होती है। ल्यूथर, केलविन, नोक्स और लेटिमर, जो कि प्रोटेस्टेन्ट प्रवृत्ति के मुख्य लोग थे, इन लोगों के मर जाने पर भी सुधार की आवश्यकता रही थी। प्रचलित पन्थ में एक प्रकार की कठोरता आ जाया करती है और उसमें एक ऐसी दारुण सत्ता आ जाती है कि उसके रीत-रिवाज दृढ़ हो जाते हैं और धर्म के असली सिद्धान्त उनमें लुप्त हो जाते हैं। धर्म के भाव का अभाव हो जाता है और प्रचलित रीति वा नियमों का पूर्ण साम्राज्य हो जाता है। ऐसे ही प्रचलित धर्म में दूषण और मलीनता के विरुद्ध सत्रहवीं शताब्दी में प्यूरिटन्स और कवेनेन्टेटर लोगों ने प्रयत्न किया था और पिछली शताब्दी में वेसलेयन्स और मेथोडिस्ट्स ने किया था। अब हमारे देश में जो धार्मिक हलचल उत्पन्न हुई उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। मुझको यह कह देना आवश्यक है कि इस हलचल का हाल जो मैं आप लोगों के सम्मुख कहता हूँ वह साधु सन्तों के जीवनचरित्र पर अवलम्बित है। यह जीवनचरित्र हम उपस्थित

सज्जनों में से किसी के लिखे नहीं हैं। नानाजी, उद्धवचिद्धन, और प्रियदास के लिखे हुए हैं, जिनके आश्रय पर से महीपति ने १०० चरित्र एकत्र कर सौ वर्ष पूर्व एक पुस्तकरूप में लिखे हैं। महीपति के ग्रन्थ में १०० साधुओं के चरित्रों का वर्णन है जिसमें से ५० महाराष्ट्र के हैं और बाक़ी भारतवर्ष के हैं। इनमें से १० साधुनी हैं, १० मुसलमान हैं, ४० ब्राह्मण और बाक़ी ४० दूसरी जाति के हिन्दू हैं। इन पिछले ४० में सब जाति और पेशे के लोग शामिल हैं जैसे कि कसाई, जुलाहे, सुनार, नाई, महार, राजा, किसान, साहूकार और सिपाही। इससे स्पष्ट है कि इस धार्मिक हलचल में सब तरह के लोगों ने भाग लिया था। संसार भर में हमको ऐसी दूसरी मिसाल नहीं मिलती जहाँ कि धर्मोद्धार के लिए छोटी स्थिति के मनुष्यों ने ऐसा परिश्रम किया हो और उसमें अपने पवित्र जीवन और शील तथा नम्रता से न कि बाहुबल से ऐसी सफलता प्राप्त की हो। जब तक कि कोई आन्दोलन सर्वमान्य नहीं हो जाता है तब तक उसके निमित्त निराशा हुआ करती है। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज और हमारे प्रार्थना-समाज में भी यह न्यूनता है। अभी तक इन संस्थाओं का प्रभाव साधारण जन-समाज पर नहीं पड़ा है। केवल वही लोग इसके प्रभाव-क्षेत्र में आये हैं जिनका मन एक विशेष प्रकार के विचारों के अधीन रहा है। इसी कारण धार्मिक हलचल के इतिहास को जानना परम आवश्यक है। ऊपर जिन साधु सन्तों के नाम आये हैं वे सब पाँच छः

सौ वर्ष में हो गये थे और अब भी ऐसे साधुओं का होना सम्भव है। अब हमको यह देखना चाहिए कि इन महात्माओं ने अपने अपने समय और स्थिति के अनुसार धर्मोद्धार के लिए क्या क्या काम किये। इनकी धार्मिक हलचल से न तो कोई युद्ध हुए हैं, न रक्त की नदियाँ बहाई गई हैं; न किसी पर अत्याचार हुआ और न किसी को दण्ड दिया गया। जैसे दैवी शक्ति हममें अपना काम चुपचाप करती है इसी तरह उन्होंने भी अपना कार्य चुपचाप और स्थिरता से किया। इन महात्माओं ने संस्कृत-भाषा की अपेक्षा प्रचलित भाषा का आदर किया और अपने अपने समय में निज-भाषा साहित्य को उन्नत किया। प्राचीन भाषा और प्रचलित भाषा में जो झगड़ा है वह नया नहीं है। सदा से चला आता है। तुकाराम और एकनाथ की इस बात पर पण्डित लोग बेतरह बिगड़े थे कि उन्होंने शास्त्रीय ज्ञान और प्राचीन विद्या को प्रचलित भाषा में लिख कर मामूली आदमियों के समझने योग्य बनाया था। तुकाराम और एकनाथ के ग्रन्थों को पण्डितों ने पानी में डाल दिया था परन्तु ऐसा कहा जाता है कि वरुण देवता ने उनका नाश नहीं किया बल्कि रक्षा की। ऐसा ही विवाद वामन पण्डित और रामदास में और शल्यरसाल तथा नामदेव के बीच हुआ था। वामन संस्कृत का विद्वान् था इस लिए प्रचलित भाषा बोलने में अपमान समझता था। परन्तु रामदास के संसर्ग से उसका यह घमंड दूर हो गया। इसी प्रकार शल्यरसाल

ब्राह्मण ने रामायण का भाषान्तर किया था। अपनी विद्वत्ता का उसे बड़ा गर्व था। दैवी सूचना उसको यह हुई थी कि अपने ग्रन्थ को नामदेव नामक दर्ज़ी महात्मा से शुद्ध करावे। अन्त में इन महात्माओं को विजय प्राप्त हुई। भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में जो प्रचलित भाषा की उन्नति हुई है वह उस धर्मोद्धार के प्रमाण की सूचक है जो उस प्रान्त में ऐसे महात्माओं के कारण हुआ है। इन साधुओं ने इस बात पर भी आक्षेप किया था कि यांत्रिक धर्म-क्रियाओं से धार्मिक वृत्ति की वृद्धि होती है। धार्मिक क्रियाओं का प्रयोजन यह होता है कि वे धार्मिक वृत्ति के उन्नत होने में सहायक हों। परन्तु यदि इन का साधन रूप न जानते हुए यह व्यवहार में लाई जायँ तो वृत्ति को कुंठित कर देती हैं और हृदय के भक्ति-भाव और पवित्रता के साधन होने के बदले साध्य हो जाती हैं। प्रत्येक महात्मा ने अपने सदाचार से लोगों को शिक्षा दी है। इस कार्य में उनको इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई जितनी भाषा-सम्बन्धी कार्य में हुई परन्तु स्मृतिकाल के रिवाजों का आज कल की व्यवस्था से मिलान करने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि इन महात्माओं ने हमारी प्रचलित रीतियों को सुगम और सरल बना कर कितने महत्त्व का काम किया है। हठयोग और उस क्रिया से प्राप्त सिद्धि के विरुद्ध भी इन्होंने आक्षेप किये थे। इस काम में उनको पूर्ण सफलता हुई है। हमारे देश-भाई अब इस बात को समझ गये हैं कि सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न कैसी मूर्खता का है और यदि सिद्धि मिल

भी जाय तो उससे कुछ विशेष लाभ नहीं होता । ज्ञानदेव के साथ चांगदेव का और स्वयं ज्ञानदेव से नामदेव का जो झगड़ा हुआ था, वह इस बात का उत्तम दृष्टान्त है ।

(चांगदेव ने सिद्धि प्राप्त कर शेर पर सवारी की थी और उसको साँप के चाबुक से चलाया था; तो ज्ञानदेव ने दीवार पर सवारी की और उसको चला दिया । ज्ञानदेव ने अपने योग-बल से शरीर छोटा कर कुए में उतर कर पानी पी लिया तो नामदेव ने एक कुए में इतना पानी भर दिखाया कि वह ऊपर उमड़ कर आ गया ।)

चौथा आक्षेप जाति-भेद पर था । उनका यह प्रयत्न था कि इन भेदभावों में शिथिलता हो जाय । ऊपर जिन साधुओं के नाम लिये गये हैं उनमें नाई, चमार, महार और क़साई तक शामिल हैं । स्त्रियाँ और मुसलमान भी हैं । इस बात से मालूम होता है कि जैसी विशाल दृष्टि इन महात्माओं की थी वैसी कहीं देखने में नहीं आती । इस सम्बन्ध में एकनाथ, कबीर, रामदास और तुकाराम का प्रयत्न सर्वोत्तम था और यद्यपि इसमें यथेच्छ और स्थायी सफलता नहीं हुई है परन्तु फिर भी बहुत कुछ सुधार हुआ है । हिंसा, अपवित्रता, मनुष्य और पशु का बलि-दान, क्रूर देवताओं की उपासना, शाक्त पंथ—इन सब के विरुद्ध भी इन लोगों ने आक्षेप किये थे । और इसमें उनको पूर्ण सफ-लता प्राप्त हुई है । नानक और कबीर के विशेष उन्नत पंथों ने मूर्तिपूजा को त्याज्य माना है परन्तु और महात्माओं ने मूर्तिपूजा

का विरोध नहीं किया; पर अनेक ईश्वर का विरोध अवश्य किया है। यह सब महात्मा केवल एक ईश्वर के मानने वाले थे। अनेक और परस्पर द्वेषी देवी-देवताओं पर आक्षेप कर जो झगड़ा इन्होंने उठाया था वह वास्तव में बड़ी वीरता से उठाया गया था। उनका यह कहना था कि ईश्वर बड़ा दयालु है और उस को प्राणिमात्र की एक सी चिन्ता है। प्रत्येक प्राणी को वह मा-बाप से भी अधिक प्यार करता है। स्नेही ईश्वर अपने भक्तजनों से बातचीत करता हुआ, उनके साथ रह कर उनके दुःख को दूर करता है—ऐसी जो ईश्वर की भावना है वह हमारे लिए एक अमूल्य धनराशि है। इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर और उसके भक्तों के सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी झूठी कथायें और गल्प भी प्रचलित हैं कि जिनको सुन कर हँसी आती है। भारतवर्ष में जो धार्मिक सुधारों की हलचल उत्पन्न हुई थी उसके ये मुख्य लक्षण हैं। यदि हम में अपने पूर्वजों के लिए पूज्यभाव है तो इस भागवत धर्म की पद्धति के अनुसार ही हमको चलना चाहिए।"

जैसा कि श्रीयुत अगाशे ने कहा है, रानडे का मन भागवत धर्म में पूर्ण रीति से निमग्न था और उसके साहित्य से उनका पूर्ण परिचय था। धर्म के रहस्य का वे ऐसी तत्त्व-दृष्टि से विचार करते थे और समग्र प्रजा के एक धर्माधीन होने की कठिनाइयों को इस प्रकार समझते थे कि उनको दूसरे धर्मावलम्बियों के प्रति नाममात्र को भी द्वेष या घृणा नहीं थी। वे जानते थे कि उच्च-शिक्षा-प्राप्त मनुष्य के मन में भक्तिमार्ग की जो गूढ़ बातें

आ सकती हैं उन्हें अशिक्षित नहीं समझ सकता। इस कारण धार्मिक सुधार के लिए वे अधीर नहीं थे। 'इस प्रकार काम करना चाहिए जिसमें विरोध बहुत कम हो' यह उनकी पद्धति थी। जो लोग सुधार के विषय में उनके बराबर उन्नत विचार नहीं रखते थे उनको अपना सा बनाने में वे द्वेष या शत्रुता नहीं उत्पन्न होने देते थे। यदि विचारों की समता न होती तो भी लोकहित के दूसरे कार्यों में उसके साथ काम करना वे पसंद करते थे। चाहे जिस मत या धर्म का अनुयायी कोई क्यों न हो वे सबके साथ बन्धु-भाव से बर्ताव करते थे और इससे सब के प्रीति-पात्र हो सके थे। जब उनका देहान्त हुआ था तो अनेक स्थानों पर शोक प्रदर्शित किया गया था। बम्बई के एक खफ़ीफ़ा जज मि० मुहम्मदहुसेन हकीम ने अपने इजलास में शोक प्रकट किया था उसके उत्तर में एक पारसी वकील मि० अरदेसरबेजनजी ने कहा था "वे हिन्दू के लिए हिन्दू थे, पारसी के लिए पारसी और मुसलमान के लिए मुसलमान।" यह अभिप्राय बिलकुल सत्य था।

अंतरात्मा की ओर रानडे बड़ी सूक्ष्म दृष्टि रखते थे। वे बाहरी बातों पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। धार्मिक श्रद्धा के मूलतत्त्व को वे भली-भाँति जानते थे इसलिए दूसरे धर्मों में जो बात अच्छी होती उसको ग्रहण कर लेते थे। इस उदारता और विशाल दृष्टि के कारण पंढरपुर और आलंदी तीर्थस्थानों में वे गये थे और प्रार्थना-समाज के उत्साही सभासद होने पर भी

इसमें इन्होंने कोई दोष नहीं समझा। समाज के कितने ही लोगों ने इस बात पर अप्रसन्नता प्रकट की थी परन्तु फिर भी किसी बात की परवा न कर उन्होंने बम्बई के ठाकुरद्वार मन्दिर में जा कर तुकाराम, रामदास आदि संतों के चरित्र पर व्याख्यान दिये थे। और संस्कृत-पाठशाला, वेदशास्त्रोत्तेजक सभा, कोल्हापुर में उत्तरेश्वर के मन्दिर में मण्डप बनवाने में, आलंदी में धर्मशाला बनवाने में और पूना में पार्वती गिर की तरहटी में मीठे पानी की योजना करने में उन्होंने अच्छी तरह मदद की थी।

रानडे की राय थी कि हाल में जो एक ईश्वरवादीय धार्मिक हलचल ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और ऐसी ही दूसरी संस्थाओं के नाम से देश के जुदे जुदे प्रान्तों में देख पड़ती है वह किसी पाश्चात्य हलचल का अनुकरण नहीं है। वह हिन्दू धर्म के उत्तम अंश से उद्भूत हुई है। अपनी इस राय को उन्होंने विस्तार से "ईश्वरवाद का तत्त्वज्ञान" शीर्षक व्याख्यान में अच्छी तरह बतलाया है। यह व्याख्यान विलसन कालेज बम्बई में १३ सितम्बर सन् १८८६ को हुआ था। कालेज के प्रिन्सपल डा० मेकिन इस सभा के प्रमुख थे। उन्होंने रानडे को, मर्म-स्पर्शी व्याख्यान देने के लिए, धन्यवाद देते हुए कहा था— "रानडे ने अपने व्याख्यान में जड़वादियों (Materialists) और चेतनवादियों (Spiritualists) के मतों का अच्छा निरूपण किया है। और कितने ही धार्मिक विषयों पर धर्म और तत्त्व-

ज्ञान के पूर्णज्ञान से चर्चा की है।" अन्त में उन्होंने यह भी कहा था—"रानडे ने अपने व्याख्यान में दूसरे मतों और विचार वालों के प्रति बड़ी निष्पक्षता दिखलाई है और हर एक में से महत्त्व की बात ग्रहण करने की उनकी इच्छा भी मालूम होती है। इसके अतिरिक्त व्याख्यान में उच्च विचार और अभिलाषाओं का पूर्ण प्रवाह दिखाई देता है। यह हमारे ध्यान देने योग्य बात है।"

इस व्याख्यान में रानडे ने अपने विचारों का अच्छा निरूपण किया है, इसलिए उसका सारांश देना अयोग्य नहीं है। यह व्याख्यान डाक्टर फ्रेजर के 'ईश्वरवाद का तत्त्वज्ञान' नामक व्याख्यान के आधार पर है। परन्तु डाक्टर मेकिन के कथनानुसार उसमें रानडे के स्वतन्त्र विचार भी शामिल हैं। वह विचार कौन से हैं, उनको ही यहाँ लिखते हैं। डाक्टर फ्रेज़र ने अपने बोधदायक व्याख्यान में तीन प्रश्नों के निरूपण करने का उद्योग किया है। 'कहाँ से, किस ओर, और किस कारण से?' अर्थात् हम कहाँ से आये हैं, कहाँ जाना है और हमारी यात्रा का क्या प्रयोजन है? कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन्हीं तीनों प्रश्नों ने तत्त्वविचार के अरुणोदय से लेकर अर्वाचीन समय के प्रत्येक युग तक देश के विचारवान् और तत्त्वजिज्ञासुओं का ध्यान अपनी ओर खींचा है। इन महत्त्व के प्रश्नों के हल करने में बहुत से जवाब दिये गये हैं परन्तु इसमें ये तीन स्वीकृत पक्ष हैं। एक तो (ego) अहं शब्दवाच्य जीव—अभिमानी, दूसरे

अनहं (non-ego)—'मैं नहीं हूँ' अथवा इदम् शब्दवाच्य दृश्य-समूह, और तीसरे तत्त्वविद्या के दर्शनों में आधाररूप अमर्याद तत्त्व (the infinite))। कितने ही इन तीनों का अलग अलग स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं, कोई दो का और कोई कोई इनमें से केवल एक को ही मानते हैं। जैसे कि रामानुजाचार्य अहं शब्दवाच्य को चेतन वा जीव मानते हैं, अनहं को जड़तत्त्व, प्रकृति और अमर्याद तत्त्व को परमात्मा मानते हैं। अर्थात् चित्, अचित्, और ब्रह्म। विज्ञानवादी (Idealists) विज्ञानात्मा या अभिमानी को, जडवादी (Materialists) अनात्मा या प्रकृति को और चेतनवादी (Spiritualists) परमात्मतत्त्व को प्रधान मानते हैं। जब हम विज्ञानवादी, जो जीवात्मा को प्रधान मानते हैं, उनके सिद्धान्त पर लक्ष करते हैं या जड़वादियों के वस्तुप्रधान पर विचार करते हैं अथवा तीसरे, आत्म, और अनात्म दोनों का अलग अस्तित्व न मानने वाले और केवल परमात्म-तत्त्व को स्वीकार करने वाले, चेतनवादियों के तर्क को सुनते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि इन सब में सत्य का अंश है। प्रथम तो मनुष्य और प्राणिमात्र नाशवान हैं इसलिए, प्रकृति का भी अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। अतएव बहुत से तत्त्वज्ञानी कहते हैं कि दृश्य पदार्थों का मूल प्रकृति है और जो दृश्य सजीव वा निर्जीव सृष्टि में हमको दिखाई देते हैं वे परमाणुओं के रूपान्तर हैं। परन्तु हमारी ज्ञानेन्द्रिय पर इस रूपान्तर का जो प्रभाव पड़ता है उससे

विशेष प्रकृति के बारे में हम क्या जान सकते हैं? क्या हम यह नहीं जानते कि जब तक इन संस्कारों का द्रष्टा मन सजीव रहता है तभी तक वे संस्कार रहते हैं? तब ऐसे संस्कार जो मन या विज्ञानात्मा को दीखते हैं उससे स्वतंत्ररूप से अपना अस्तित्व रखते हैं—यह कैसे कहा जा सकता है? यदि मन को दूर कर दिया जाय तो संस्कारों का प्रभाव क्या रह जाता है? क्या वे शून्यरूप नहीं हो जाते? प्रकृति में जो विकार होते हैं उनके अतिरिक्त हम कुछ नहीं जान सकते और हमारे—अर्थात् द्रष्टा के, न होने पर प्रकृति के संस्कार नाश को प्राप्त होते हैं तो फिर हम मनुष्यों को, जो सृष्टि में सबसे अग्रगण्य हैं, प्रकृति का अस्तित्व मानने की क्या आवश्यकता है! ऐसा होने से भौतिक देह के नाश होने पर विज्ञानात्मा या चेतन जीवात्मा ही रह जाता है तो फिर हम उसी की ओर लक्ष क्यों न करें? प्रकृति को छोड़ कर मनुष्य या जीव को ही अच्छी तरह समझना मुख्य है। जड़वादियों को यह जवाब देने पर उनके सिद्धान्त निर्बल सिद्ध हो जाते हैं तब स्वाभाविक रीति से हमारा ध्यान प्रकृति को छोड़ कर अपनी ही ओर झुकता है और हम यही समझने लगते हैं कि सृष्टि का वास्तविक रूप समझने के लिए जीवधारी का अभ्यास करना चाहिए। यह साधन कुछ अंशों में बहुत ठीक है, परन्तु इसकी उपयोगिता भी निर्मित है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। 'Cogito ergo-sum' 'मैं विचार कर सकता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व अवश्य

है' यह सिद्धान्त विख्यात फ्रेंच तत्त्ववेत्ता डेकार्ट का है। इसके आधार पर एक मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए शङ्का-विहीन हो जाता है परन्तु इससे वाह्यसृष्टि का अस्तित्व सप्रमाण सिद्ध नहीं होता। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है कि वाह्यसृष्टि के चिरस्थायित्व पर ही शास्त्रीय ज्ञान निर्भर है। उसी के आधार पर विज्ञान की रचना है। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो शास्त्रीय सिद्धान्त किसी उपयोग के ही नहीं हो सकते। यदि शास्त्रीय सिद्धान्त का केवल व्यक्तिरूप आत्मा से सम्बन्ध हो तो फिर उनकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। और जो लोग यह मानते हैं कि व्यक्तिरूप विज्ञानात्मा ही केवल एक प्रमाण पदार्थ के अस्तित्व का है वे यह भूल जाते हैं कि इस सिद्धान्त के अनुसार एक जीवात्मा का दूसरे जीवात्मा से कुछ सम्बन्ध नहीं रहता और इसका परिणाम यह होता है कि जीवन के नियम और व्यवस्थायें-शिथिल हो जाती हैं। परन्तु एक मनुष्य को इतने से शान्ति नहीं होती; वह यह सोचता है कि उसके संसार में आने से पहले संसार था, उसके जैसे जीवधारी प्राणी भी थे और जब वह नहीं रहेगा तब भी ये सब पदार्थ और प्राणी रहेंगे। ऐसा विचार मन में आने से सृष्टि की रचना में प्रकृति या विज्ञानात्मा को प्रधान मानने वाले सिद्धान्त उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकते। उसका लक्ष्य उस परमात्मा की ओर स्वाभाविक रीति से जाता है जिसका अस्तित्व अविकारी है, जिसका आभासरूप सृष्टि और जीवधारी हैं; जिसकी अवस्था

से प्रकृति के नियम चलते हैं और जिसके अस्तित्व को लगभग सभी तत्त्व-ज्ञानियों ने स्वीकार किया है।

हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे अज्ञेयवादी को भी सृष्टि की विवेचना करने में परमात्म-तत्त्व को स्वीकार करना पड़ा है क्योंकि परिणामवाद के अनुसार अर्वाचीन शास्त्र-सिद्धान्त को भी एक गूढ़ शक्ति का मानना आवश्यक होता है। भेद इतना ही है कि ये लोग उस शक्ति को कोई व्यक्त रूप नहीं देते।

जिस मत में परमात्मा समस्त सृष्टि का मूल कारण शक्तिरूप से माना जाता है वही सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि जिस प्रकृति को और जिन शक्तियों को हम देखते हैं और अनुभव करते हैं उनकी अनंतता के सम्बन्ध में इस मत से समाधान हो जाता है और बहुत से प्रकृति-सम्बन्धी प्रश्नों के—जैसे उसके विकार, उसकी उत्पत्ति, और उत्क्रान्ति का विवेचन करने की आवश्यकता नहीं रहती। जिन मतों के अनुसार परमात्मा सृष्टि और मनुष्य से भिन्न माना जाता है और इन दोनों से केवल विशेष शक्तिमान् और विलक्षण माना जाता है उन मतों से यह सिद्धान्त—अर्थात् परमात्मा को समस्त सृष्टि और प्राणिमात्र का शक्तिरूप मूल कारण मानना विशेष उत्तम है। क्योंकि इसके अनुसार परमात्मा की भावना विशेष उच्च, प्रौढ़ और सत्य है।

वास्तविक शक्ति सिवाय परमात्मा के दूसरी कोई है ही नहीं। मनुष्य (चित्) और सृष्टि (अचित्) परमात्मा से भिन्न हो ही नहीं सकती। हमारी संकुचित दृष्टि के ही कारण उनका

भास पृथक् होता है। ऐसा मानने वाले व्यापक ईश्वरवादी या अद्वैतवादी कहलाते हैं। यूरप के अद्वैतवादी सिद्धान्तों में और यहाँ के सिद्धान्तों में कुछ भेद है। यद्यपि उनमें बहुत समभावना है। योरपीय लोग परमात्मा की पूर्ण सत्ता मानते हैं, वे अन्य पदार्थों की सत्ता बिलकुल नहीं मानते। भारतीय अद्वैतवादी के सिद्धान्त ईश्वरवादी से विशेष मिलते हैं क्योंकि ईश्वरवादी लोग प्रकृति और मनुष्य की सत्ता को मानते हैं और ईश्वर की सत्ता को उससे विशेष शक्तिमान् मानते हैं।

श्रीमान् शङ्कराचार्य ने भी सृष्टि के अस्तित्व का सर्वांश में निषेध नहीं किया है। उनका कहना यही है कि जैसा परमात्मा का अस्तित्व पारमार्थिक और वास्तविक है वैसा सृष्टि का नहीं है। सृष्टि का मायिक या व्यावहारिक है। श्रीशङ्कराचार्यजी के समाधिस्थ हो जाने पर उनके सिद्धान्तों में रामानुजाचार्य ने बहुत परिवर्तन कर डाला है जिसका परिणाम यह हुआ है कि देश में बहुत से वैष्णव पंथ उत्पन्न हो गये हैं जो ऊँचे प्रकार के ईश्वरवादी हैं। श्रीशङ्कराचार्य जीव और सृष्टि को मायिक या व्यावहारिक मानते थे। उनके मतानुसार सृष्टि, जीव और परमात्मा—तीनों एक सी सत्तावाले तीन पदार्थ नहीं हो सकते। इनका अद्वैत मत इस कारण, केवलाद्वैत कहा जाता है। रामानुजाचार्य जीव और सृष्टि को परमात्मा के अन्तर्गत मानते हुए, परमात्मा की तरह, उनको भी पारमार्थिक सत्तावान् मानते हैं। उनका मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

भारतवर्ष का अद्वैतवाद पश्चिमी अद्वैतवाद के दोषों से मुक्त है। पश्चिमी अद्वैतवाद के अनुसार परमार्थ वस्तु को अर्थात् तत्त्व को समस्त भौतिक पदार्थों से और विज्ञानात्मा से अभिन्न मानने के कारण एक के गुण दूसरे में मानने पड़ते हैं। अर्थात् जो गुण भौतिक वस्तु के हैं वही विज्ञानात्मा और परमात्मा के हो जाते हैं। पारमार्थिक वस्तु एक ही साथ अनंत और सान्त, वास्तविक और मायिक, हो जाती है! अपने चारों ओर जो कुछ सृष्टि का दृश्य देखते हैं वह केवल परमात्मा का आभास है, इस बात को मन स्वीकार नहीं करता। क्योंकि ऐसा मान लेने से देश और काल का अन्त हो जाता है, कार्य-कारण-सम्बन्ध का विध्वंस होता है; और पूर्णता-अपूर्णता, सद्गुण और दुर्गुण जो अखंड ज्ञान के विषय हैं उनका लोप हो जाता है। ऐसे स्वतन्त्र-व्यापक ईश्वरवाद को मानने से मनुष्य का मन निराश और श्रद्धाहीन हो जाता है। जीव का रहस्य नहीं मालूम होता और कुछ भी निश्चय न कर पाने से मन शंकाशील हो जाता है। यही स्थिति आज कल यूरप में हो रही है और इसी के कारण लोग अज्ञेयवादी हो गये हैं। यदि हम इस बात को जान लें कि जीव और सृष्टि के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास साधन है तो हमको अज्ञेयवाद की निराशा में डूबने की कोई आवश्यकता नहीं है। मानुषिक ज्ञान और शास्त्र की ऐसी बहुत सी बातें हैं जो केवल तर्क से ही सिद्ध नहीं हो सकतीं और उनके जानने के लिए हमको अपनी विवेक बुद्धि, निश्चय

और संभविता पर आधार रखना पड़ता है। परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि जो बातें तर्क से सिद्ध नहीं हो सकतीं उनके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ जाना ही नहीं जा सकता।

रानडे ने अपने भाषण में कहा था कि प्रकृति के नियमों में हम एक प्रकार का नियम देखते हैं और उसके कारण हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह श्रद्धा तर्क से सिद्ध नहीं हो सकती। इस अखण्ड विकार या अविच्छिन्न नियम के कारण हमको श्रद्धा उत्पन्न होती है और हम प्रकृति को एक वास्तविक पदार्थ मानते हैं। यही सब शास्त्रों का आधार रूप है। विश्व के वास्तविक अस्तित्व की ओर यह श्रद्धा प्राचीन-काल से चली आती है। अर्वाचीन-शास्त्र अर्थात् विज्ञान इस श्रद्धा के मूलकारण की अवगणना नहीं करता। इस प्रकार, मनुष्य और प्रकृति में एक सम्बन्ध है और प्रकृति के अविच्छिन्न नियम में श्रद्धा उसकी एक शृंखला रूप है। यह शृंखला हमारे और प्रकृति के ही बीच में केवल संबंध स्थापित नहीं करती बल्कि दोनों का सम्बन्ध अनन्त सत्ता के साथ करती है। हमारी ज्ञानमय और श्रद्धायुक्त दृष्टि से उस अनन्त सत्ता के प्रयोजन, दूरदर्शिता, कल्याणकारक व्यवस्था, सुन्दरता, और अपार शक्ति स्पष्ट दीख सकती है। और इस प्रकार शास्त्र, धर्म के रहस्य को, श्रद्धा-रूपी प्रकाश से दिखा देता है। यदि इस श्रद्धारूपी प्रकाश का लोप हो जाय तो ईश्वरवाद और शास्त्र दोनों की हानि होती है। क्योंकि शास्त्र का आधार प्रकृति के अविच्छिन्न नियमों में श्रद्धा है।

इस प्रकार सत्ता वा अस्तित्व के तीन स्वीकृत पक्ष हैं मनुष्य, प्रकृति और अमर्याद तत्त्व। ये एक दूसरे से व्यक्त और जुदे हैं। परन्तु ये तीनों एक यन्त्र के अलग अलग भाग की तरह नहीं हैं। पहले दोनों तत्त्व—अर्थात् मनुष्य और प्रकृति, तीसरे के अधीन हैं। रानडे का कहना है कि इसके सम्बन्ध में विचार करने में तत्त्वज्ञानियों ने अपना लक्ष्य किया है। सृष्टि की व्यवस्था में जो अगाध ज्ञान, अपार शक्ति, सुन्दरता और कल्याणकारी योजना आदि हम देखते हैं, वे पण्डित और अज्ञानी दोनों को डंके की चोट विश्वनियन्ता के सद्भाव की सूचना देते हैं और नास्तिक को भी जागृत करते हैं। जगत्कर्त्ता के विषय में मूर्त्ति-पूजा और अनेक ईश्वरवाद से लेकर जो ऊँची से ऊँची भावना और कल्पना मनुष्य ने की है, वह सब उसकी जुदी जुदी स्थिति के कारण है। शास्त्रीय ज्ञान की उन्नति के साथ साथ भावनायें भी उच्च होती गई हैं। और अब प्रत्येक पदार्थ में, जड़ हो या चेतन, परमात्मा अन्तर्यामी की तरह स्थित माना जाता है।

'प्रकृति में अन्तर्यामी रूप से स्थित परमात्मा' इसका अर्थ एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। जैसे एक जगह से तार दूसरी जगह भेजा जाता है तो तार द्वारा देश और काल के अन्तर को लाँघ कर समाचार दूसरे के पास पहुँच जाते हैं; इसी प्रकार प्रकृति की शक्ति द्वारा एक दिव्य ज्योति या तत्त्व—सृष्टि की रचना, नियम, उसका सौन्दर्य, और औदार्य इन सब की नियमानुकूल योजना करके—मनुष्यों को धर्म और शास्त्र

के रहस्य समझाता है। यही दिव्य ज्योति अन्तर्यामी प्रभु है। इससे केवल प्रकृति ही दिव्य नहीं बनती, किन्तु मनुष्य भी अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति और बुद्धि के द्वारा (जो जानवरों में नहीं होती) अपने में भी उस दिव्य-ज्योति के होने का दावा कर सकता है। जो गुण मनुष्य में हैं और पशुओं में नहीं, वे ही गुण समस्त सामाजिक व्यवस्था, राज्यतन्त्र, नीति इत्यादि और भक्ति और धर्म के आधार हैं। इन विशेष गुणों के कारण मनुष्य ऊँची पदवी को प्राप्त है और उसको उत्तरदाता भी बनना पड़ता है। मनुष्य में जो आन्तरिक प्रकाश है वही उसको अपना कर्त्तव्य दिखाता है। उसी के कारण परमात्मा और मनुष्य में योग होता है, और मनुष्य कर्त्तव्य की सिद्धि होने पर सुख अनुभव करता है, और जब सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है तो योग्य शिक्षा प्राप्त करता है।

जब मनुष्य अपनी समझ या स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को अपनी कर्त्तव्य-बुद्धि से नियन्त्रित कर लेता है तो उसकी इच्छा-शक्ति अमानुषिक या दैवी हो जाती है और जब मनुष्य परमात्मा से अपने संबन्ध का नीति और व्यक्तिरूप से विचार करता है तो प्रकृति जिन रहस्यों को बतलाती है उनसे भी उच्च प्रकार के रहस्य मनुष्य की समझ में आ जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान और श्रद्धा का योग होता है। इससे विश्व के गूढ़ रहस्यों का दर्शनमात्र तो अवश्य ही होता है और मरणशील पुरुष को अमरभाव प्राप्त होता है।

बौद्ध-धर्म में यह प्रचलित भावना है कि जो पूर्णता को प्राप्त हुआ हो और सब मानुषी सद्‌गुण जिसमें हों और जिसमें कोई अवगुण या दोष न हों उस मनुष्य को ईश्वर समझना चाहिए। यह भावना दोषयुक्त है। क्योंकि उसके अनुसार परमात्मा को एक वृद्ध पुरुष समझ कर पृथ्वी पर अवतार दिलाया जाता है। इससे विश्व की व्यवस्था में नियमभंग होता है। इसी भाव के न्यूनाधिक होने से मूर्त्तिपूजा का रूपान्तर होता है जिसका आर्यसमाज ने सबल विरोध किया है। उपनिषद् में भी कहा है "जो यह समझता है कि मैं परमेश्वर को जानता हूँ, वह नहीं जानता और जो समझता है कि मैं नहीं जानता वह जानता है। परमेश्वर के पद से मन और वाणी निराश होकर पीछे हट जाती है। केवल श्रद्धा, भक्ति और वीर्य से ही उसके पास पहुँचा जाता है।"

रानडे का कहना है कि यह शिक्षा प्रकृति-सिद्ध ईश्वरवाद की है। प्रकृति-सिद्ध ईश्वरवाद की पुष्टि परमेश्वर के ऐतिहासिक प्रादुर्भाव से होती है। इसी प्रादुर्भाव पर समस्त धर्म और धार्मिक हलचलों का आधार है और यह प्रादुर्भाव सब देशों में और समय में महात्मा तथा संत पुरुषों के जीवनचरित्र, शिक्षा और बोध से होता है। देश-काल के अनुसार व्यवस्था होने से उसमें कुछ भेद हो जाया करता है परन्तु उसका उद्देश एक ही है कि ईश्वर-सम्बन्धी जो हमारी भावनाएँ हैं वे विशुद्ध और पूर्ण हों। और साथ साथ हमारी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति भी हो। भारतवर्ष में सन्त पुरुष और महात्मा हुए हैं और अब भी होते

हैं; उनके द्वारा प्रभु के प्रादुर्भाव से धर्म की विशुद्धि होती चली जाती है। आकाशादि भौतिक पदार्थों के पूजन की जगह और उनको मनुष्य रूप समझने के बदले, प्राचीन पौराणिक अथवा काल्पनिक देवों में जैसी भव्यता नहीं थी वैसी भव्यतायुक्त परमेश्वर की व्यापक सत्ता की—जो सब भौतिक पदार्थों पर नियम का अंकुश रखती है—उपासना होती है। धर्म की विशुद्धि करने के बाद उपनिषद् का दूसरा काम मनुष्य के आत्मा की शक्ति का विचार करने का था। इसका परिणाम यह हुआ कि विचार करने वालों को परमात्मा और जीवात्मा में अभेद जान पड़ा। परन्तु बुद्ध के अनुयायियों ने इस गहन विषय का यथोचित विचार नहीं किया और जगत् में जिस ज्ञान का उपयोग हो सके उसी की ओर लक्ष रक्खा। उन्होंने मनुष्य की नीति का सुधार किया, निरुपयोगी और क्रूर पशु-यज्ञों का विरोध किया; और मनुष्य में जो पशुभाव है उसका उच्छेदन करने का प्रयत्न किया। उन्होंने मनुष्य में जो विकार हैं उन पर विजयी होने को सबसे बड़ा धर्म और उपासना समझी। और उस विजय को ही यज्ञादिक क्रिया के बदले मोक्ष का साधन माना। इसके बाद बहुत काल बीतने पर हिन्दुस्तान में मुसलमान आये। उनका धर्म, विजेता की तलवार की तरह, प्रकट हुआ। परन्तु मुसलमानों का धर्म भागवत धर्म का कुछ देनदार था। मुसलमानी धर्म ने यह सिखाया कि केवल विचारों में ही एकीश्वरवादी नहीं होना चाहिए, बल्कि व्यवहार और आचार में भी उसका पालन करना चाहिए।

क्रिस्तान धर्म ने भी अपने सद्गुणों का उपदेश किया। उसने व्यवस्था करने की शक्ति, दुष्कर्म के प्रति मौन के बदले प्रकट रूप से धिक्कार देना, स्त्री-पुरुष की यथार्थ महत्ता का मान, क्रियाओं में औदार्य प्रकट करना और भ्रातृभाव करना सिखाया। ये सब क्रिस्तान धर्म के प्रभाव से भागवत धर्म में प्रविष्ट हुए हैं। ईसाई और भागवत धर्म की तुलना रानडे ने की है। दोनों धर्मों में परमात्मा को चेतन समुद्र रूप मानने का भाव एकसा है। और दोनों में त्रिमूर्ति, अवतार और पर-दुःख-हरण के लिए अपना बलिदान देने की भी समानता है। परमेश्वर के सच्चिदानन्द नाम से पूर्ण अस्तित्व, चेतनमयता और आनन्द का भाव स्पष्ट होता है। इस नाम से क्रिस्तान धर्म के Holy Trinity की समानता बतलाते हैं। हमारे धर्म में जो सत् वह उनके धर्म के पिता के पूर्ण अस्तित्व के समान है, चिद् अंश उनके पुत्र के समान है और आनन्द उनका Holy Comforter पवित्रात्मा है। इस प्रकार हिन्दुस्तान का ईश्वरवाद स्वाभाविक रीति से सारग्राही है तो भी उसने अपने लक्षणों को नहीं खोया है। दूसरे धर्म के सद्गुणों का प्रभाव उस पर पड़ता है परन्तु उसका यथार्थ रूप नहीं बदलता। यही हमारे धर्म की सनातनता है। किसी पैग़म्बर या महात्मा के ऐतिहासिक सम्बन्ध से उसका आविर्भाव नहीं हुआ है परन्तु वह किसी भी धर्म के अनुयायी किसी भी महात्मा के उपदेश का सम्मान करता है। दूसरा लक्षण हमारे धर्म का यह है कि पर-

मात्मा के साथ जीवात्मा का साक्षात् सम्बन्ध यह धर्म स्वीकार करता है। तीसरा लक्षण जो किसी धर्म से नहीं मिलता वह यह है कि जीव को ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल एक ही जन्म नहीं मानता। अनेक जन्म का मानने वाला है। चौथे यह कि केवल मनुष्य मनुष्य में ही सद्भाव रखने की शिक्षा नहीं देता किन्तु जीव मात्र पर दया करना सिखाता है। रानडे ने भारतीय ईश्वरवाद के जो लक्षण बताये हैं उनको ध्यान में रख कर मद्रास के रेवरेन्ड डाकृर मिसर ने अपने एक उत्तम भाषण में कहा था कि क्रिस्तान धर्म के आने के पहले से ही यहाँ ईश्वर की सत्ता अपना काम कर रही है और हिन्दू धर्म में बहुत से दोष होने पर भी उसमें सत्य के अंश भी हैं। क्रिस्तान पादरियों को यह आशा छोड़ देनी चाहिए कि भारतवासी अपना धर्म छोड़ देंगे। हाँ, इतना हो सकता है कि क्रिस्तान धर्म के उपदेशों में से वे दैवी गुणों को अपने धर्म में मिला लेंगे।

ऊपर के लेख से यह तो स्पष्ट मालूम हुआ होगा कि रानडे विशुद्ध और तत्त्व-विचार-युक्त ईश्वरवाद को मानते थे; इस प्रकार का ईश्वरवाद केवल सुशिक्षित लोगों के योग्य है। साधारण जन समुदाय को वह अनुकूल नहीं हो सकता। क्योंकि साधारण लोगों की समझ में निराकार रूप नहीं आ सकता, वह तो विचार-दृष्टि से देखा जा सकता है। इस कारण इस धर्म के प्रचार की गति धीमी है। जैसे जैसे शिक्षा और सुधार की उन्नति होगी वैसे ही वैसे इस धर्म का प्रचार बढ़ेगा

जायगा। परन्तु इस देश में शिक्षा का प्रचार भी बहुत ही मन्द गति से हो रहा है इसलिए यदि इस धर्म का बाह्य रूप लोगों का ध्यान न खींचे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्राचीन धर्म के अनुयायियों के सामने तो इस धर्म के मानने वाले नहीं के बराबर हैं। दूसरा कारण जो इसके प्रचार में विघ्न रूप है वह यह है कि बहुत से सुशिक्षित लोग भी इसके अनुयायी नहीं होते क्योंकि जो बातें तर्क-सिद्ध नहीं होतीं उनको वे नहीं मानते और इस धर्म में परमार्थ पदार्थ के लिए यह कहा ही जा चुका है कि उसके अनुभव के लिए भावना की आवश्यकता है। सुशिक्षित लोग यूरप के अज्ञेयवाद के फेर में पड़ जाते हैं और कभी कभी ऐसा भी होता है कि शङ्का और भ्रम में पड़े रहने से किसी एक धर्म के अनुयायी नहीं होते। यद्यपि निर्भ्रान्त होकर यह नहीं कहा जा सकता कि रानडे जिस धर्म को मानते थे वह किसी दिन समस्त भारतवासियों का धर्म होगा परन्तु बङ्गाल में ब्रह्मसमाज, पञ्जाब में आर्यसमाज और बम्बई में प्रार्थनासमाज आदि धार्मिक हलचलों से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईश्वरवाद भविष्यत् धार्मिक सुधार पर महत्त्व-पूर्ण प्रभाव डालेगा।

बम्बई के 'गुजराती' पत्र ने २० जनवरी १९०१ के अंक में रानडे के धार्मिक विचारों के सम्बन्ध में लिखा था:—

"ऋषि-प्रणीत आर्य सनातन धर्म का प्रारम्भ में यथार्थ ज्ञान न होने से रानडे बाइबिल के उन नियमों का उपदेश किया

करते थे जो देशवासियों के योग्य हों। परन्तु फिर उनका यह विचार बदल गया था। उन्होंने उपनिषद्, शाङ्करभाष्य, तथा पुराणों का बहुत सूक्ष्म अध्ययन किया जिससे उपनिषदों पर उनको बहुत आस्था हो गई। वह यहाँ तक कि उन ग्रन्थों में से वे शास्त्री लोगों के सामने ऐसे प्रश्न उपस्थित करते थे कि उनसे जवाब देते नहीं बनता था। और रानडे जो निश्चय करके बतलाते थे उसको जान कर वें मोहित हो जाते थे। सन्देह दूर करने के लिए वे अच्छे अच्छे शास्त्रज्ञों को अपने यहाँ बुलाते थे और उनका सत्कार करते थे।"

रानडे के धार्मिक विचारों का यहाँ तक विवेचन किया गया। अब एक और प्रसङ्ग का वर्णन करते हैं जिससे ज्ञात होगा कि उनको ईश्वर पर कैसी अपूर्व श्रद्धा थी और उनका भक्तिभाव कैसा महान् था। मान० गोखले महोदय ने रानडे की पुण्य-तिथि को हिन्दूयूनिअन क्लब में एक व्याख्यान दिया था, उसमें उस प्रसंग का अच्छा वर्णन किया था। उन्होंने कहा था:—

"सन् १८९७ ईसवी में अमरावती की कांग्रेस समाप्त होने पर जब हम इधर लौट रहे थे तो एक रात को मैं और रानडे अकेले एक डब्बे में थे। प्रातःकाल ४ बजे के लगभग कुछ गाना सुन कर मैं एकाएक जाग उठा और जब आँखें खोलीं तो देखता क्या हूँ कि मि० रानडे सीधे बैठे हुए हैं और तुकाराम के दो अभङ्गों को बार बार गा रहे हैं। गाते जाते हैं और दोनों हाथों से ताली भी बजाते हैं। यद्यपि स्वर कुछ मधुर नहीं था परन्तु

वे ऐसे भाव से गा रहे थे कि मुझे उस समय रोमाञ्च हो गया और मैं उठ कर बैठ गया । मुझसे सुने बिना नहीं रहा गया । वे अभङ्ग ये हैं:—

जे कां रंजले गांजले । त्यांसी ह्मणे जो आपुले ।
तोचि साधू ओळखावा । देव तेथेंचि जाणावा ॥
करिं मस्तक ठेंगणा । लागें संतांच्या चरणा ।
जरि व्हावा तुज देव । तरि हा सुलभ उपाय ॥

अर्थः—जो थके हुए और दुःखी मनुष्य को अपना जाने और सहाय करे वही सच्चा साधु है । उसी के पास प्रभु है, यह समझना चाहिए । तुम नम्र हो कर सन्तों की कृपा के पात्र हो । जो तुम प्रभु से मिलना चाहते हो तो यही एक सुलभ उपाय है ।

इन अभङ्गों को मैं बैठा बैठा ध्यानपूर्वक सुनता रहा । उस समय मुझे इस बात का यथार्थ बोध हुआ कि मि० रानडे इस उपदेश के अनुसार बर्तने के लिए कैसा उद्योग करते थे और उससे उनकी जीवन-प्रवृत्ति की पद्धति कैसी सरल और उत्कृष्ट थी । मुझे अपने जीवन में यह एक अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ था । उस दृश्य को मैं कभी नहीं भूलूँगा ।''

श्रीयुत अगाशे ने जो अपना निबन्ध पढ़ा था उसमें उन्होंने कहा था:—''बहुत से नासमझ लोग शिक्षित लोगों को और विशेष कर सुधारकों को घोर नास्तिक समझा करते हैं । मूर्त्ति-पूजा पर अश्रद्धा करने, अथवा प्रचलित रीति नीति का विरोध

करने को वे लोग अधर्म समझते हैं। यद्यपि रानडे मूर्त्ति-पूजक नहीं थे और न वे जाति पाँति को ही मानते थे परन्तु थे बड़े भावुक। इसलिए जो लोग उनको अच्छी तरह नहीं जानते थे वे उनको साधारणतः नास्तिक समझ लेते थे। सन् १८७३ ईसवी में स्वर्गीय श्रीयुत जे० एस० गाडगील ने 'ईश्वर के अस्तित्व का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है' इस विषय पर व्याख्यान दिया था सभापति थे मि० रानडे। मि० रानडे ने गाडगीलजी की बातों का बड़े कड़े शब्दों में उत्तर दिया था और उनके पक्ष का विरोध किया था। उत्तर देते समय रानडे को बड़ा जोश आ गया था। उस अवसर की मुझे अच्छी तरह याद है और उससे इस बात का पता लगता है कि रानडे की ईश्वर पर कैसी अपार श्रद्धा थी। मान० गोखले महाशय ने गत वर्ष अपने भाषण में मिस्टर रानडे के रेल में सुविख्यात तुका-राम के अभंग गाने की बात कही थी। मैंने सन् १८७५ ईसवी में उनको भक्ति के आवेश में देखा था। ज्येष्ठ वदी में एक संध्या को वर्षा हो रही थी, उस समय मैं और मिस्टर रानडे पूना की नेटिव जनरल लाइब्रेरी में समाचारपत्र पढ़ रहे थे। अँधेरा हो चला था। मैंने धीरे से, उनसे, नित्य की तरह, टहलने को चलने के लिए कहा। उस समय इतना अँधेरा हो गया था कि बिना प्रकाश के कुछ पढ़ नहीं सकते थे। उनके हाथ में समा-चारमत्र था परन्तु उसको हाथ में लिये हुए वे ऐसे बे सुध खड़े थे कि उनके पास जाकर देखा तो मालूम हुआ कि उनकी

आँखों में आँसू भरे हुए हैं । ऐसी असाधारण बात देख कर मैं चौंक पड़ा, मेरी समझ में कुछ नहीं आया । उस समय तुकाराम के उत्सव के निमित्त सवारी निकल रही थी । हमेशा की तरह वहाँ पर हज़ारों विठोबा-भक्त नाचते और गाते थे । और सैकड़ों मशालें जल रही थीं । रानडे के मन पर, इन भावुक भक्तों की अगाध श्रद्धा देख कर, बड़ा प्रभाव पड़ा था । उन्होंने अपने आँसू पोंछ डाले और सवारी की तरफ़ इशारा करके मुझसे कहा 'गणपतराव, तुम देखते नहीं हो, यह कैसा देखने योग्य दृश्य है । तुकाराम अपने जीवन-काल में कैसे प्रतापी और पुण्यात्मा होंगे जिनके मरने पर ३०० वर्ष बाद भी हज़ारों आदमी उनके नाम और स्तुति का गान करते हैं ! ईश्वर की कृपा बिना उनके शब्दों में इतना प्रभाव कैसे हो सकता है । तुम, मैं और हमारे जैसे कितने ही अन्य लोग व्याख्यानों और लेखों से यद्यपि, लोगों को इतना उपदेश करते हैं परन्तु कोई उसकी परवा भी नहीं करता । अहा ! तुकाराम के वाक्य कैसे प्रभावशाली हैं । इतने वर्ष बीत जाने पर भी उनके शब्द लोगों के हृदय पर सत्ता रखते हैं ।' इसी भक्तिमय बात को सुन कर और उनके आवेश को देख कर मैं एक विचार में लीन हो गया । वे भी अपने विचारों में मग्न रहे और हम दोनों कठ-पुतलियों की तरह अपने मार्ग में चलने लगे ।"

इन सब बातों से मालूम होगा कि तुकाराम, रामदास आदि महाराष्ट्र के महान् सन्तों के सिद्धान्तों के रानडे उत्साही, अनु-

यायी और अभ्यासी थे। और ऊपर जैसे अवसरों पर जिनका वर्णन किया गया है रानडे सोते, जागते, उठते बैठते उनके बोधदायक अभंगों का स्मरण कर चिन्तन करते थे और उनके मनन करने में कभी कभी ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि उनको अपनी देह की भी सुध नहीं रहती थी। वे अपने धार्मिक व्याख्यानों में प्रायः अभंगों का उपयोग करते थे। कितने ही उत्तम उत्तम अभंगों पर तो उन्होंने बड़े ही मार्मिक और बोध-दायक व्याख्यान दिये हैं।

रानडे के अनेक धार्मिक व्याख्यान उन लोगों के लिए पढ़ने और मनन करने योग्य हैं, जो कि धर्म में प्रवृत्ति चाहते हैं। उन व्याख्यानों को पढ़ने से बड़ा आश्चर्य होता है। वे बोध-दायक और मर्म-स्पर्शी तो हैंहीं, साथ ही आर्य-धर्म के उपनिषद् आदि अनेक ग्रन्थों, तथा दक्षिण के साधु सन्तों के भजन-संग्रह भी हैं; और वे अर्वाचीन धर्मों के अनेक पवित्र ग्रन्थों का लगातार पठन-पाठन करने और मनन करने से तथा संशोधन द्वारा साररूप विशुद्ध विचारों का अपने मस्तिष्क में संग्रह रखने वाले एक नैसर्गिक बुद्धि-वैभव-सम्पन्न और भक्तियुक्त अन्तः-करण वाले महान् पुरुष की विभूतियाँ हैं। उनमें से बहुत से ऐसे हैं कि उनका विवेचन यहाँ पर किया जाय परन्तु स्थाना-भाव के कारण नहीं हो सकता। तो भी थोड़े से व्याख्यानों का सार संक्षेप में दिया जाता है।

जिस 'भागवत-धर्म' का वर्णन ऊपर किया जा चुका है उसके

सिद्धान्तों का पालन रानडे पूर्ण रीति से करते थे। 'भागवत-धर्म' में सिवाय महाराष्ट्र के साधु-सन्तों के बताये हुए अनन्य भक्ति-मार्ग के और कुछ नहीं है। रानडे कहा करते थे कि यह धर्म आध्यात्मिक विज्ञानरूपी वृक्ष का मधुर फल है। उस वृक्ष की जड़ का पता उपनिषदों में मिलता है। इस सम्प्रदाय का एक सिद्धान्त यह है कि जीवन ईश्वरदत्त एक विश्वास धन है, कर्त्तव्य पालने के लिए पवित्र आमंत्रण है, विश्वकर्त्ता की सेवा और यशोगान के लिए पवित्र यात्रा है और इस भौतिक देहरूपी जाल में से अमर आत्मा का मुक्त होना उच्च प्रकार के आध्यात्मिक जीवन की योजना है।

रानडे ने इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वसाधारण का यह विश्वास छोड़ दिया था कि मृत्यु के बाद सर्वसुख की प्राप्ति होगी या दुःखों की निवृति होगी। अपने एक व्याख्यान में आपने सुख दुःख की तुलना घोड़े की दोनों लगामों से की है जिससे आत्मा सारथि की तरह मनरूपी घोड़े को अपने अधीन करता है। रानडे का अभिप्राय यह था कि धर्म का अन्तिम हेतु हमारे आध्यात्मिक गुणों का विकास करना और हमारी नीच वासनाओं का नाश कर परमात्मा से आत्मा की एक-रूपता कराना है। आध्यात्मिक परिपूर्णता केवल ज्ञान, कर्म और योग से सहज में नहीं प्राप्त होती। उसको सिद्ध करने के लिए अंधे, लूले, लँगड़े, युवा और वृद्ध—सब के लिए एक खुला मार्ग भक्ति का है जिसमें जाति-भेद आदिक का कोई झगड़ा हीं

नहीं है। भक्ति-मार्ग की ऐसी विशाल और उदात्त भावना से, तथा बड़े संशोधन के बाद भागवत धर्म में आस्था होने से उनके चित्त को शान्ति प्राप्त हुई थी।

इस भक्तिभाव की उन्नति और विकास कैसे करना चाहिए इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश किया है, उसके अनुसार रानडे चलते थे। वे समझते थे कि भक्ति का मूलतत्त्व यह है कि हम अपनी व्यक्तिगत आत्मा को परमात्मा की इच्छा के, सम्पूर्ण रीति से, अधीन कर दें। हम अपने को पूर्ण रीति से ईश्वर की इच्छा के शरण में कर दें। कर्म, ज्ञान, और भक्ति से क्रमानुसार ईश्वर-शरणता प्राप्त करके अन्त में कर्म फल से आसक्ति विहीन होना ही सिद्धि है।

'विज्ञान' विषय के व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि पुस्तकों के पढ़ने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। हमारे अन्तःकरण में जो दिव्य ज्योति है उसके प्रकाश से, सत्यासत्य की तुलना कर, अपना निरीक्षण करना ही सत्य विज्ञान है। इस विज्ञान से निश्चयपूर्वक यह बात हमारी समझ में आती है कि सब प्राणियों को सुखी होना चाहिए; हमारे विचार पवित्र और सृष्टि में सर्वत्र शान्ति तथा प्रेम का साम्राज्य होना चाहिए। इन महान् सत्यों का केवल बुद्धि से ही स्वीकार नहीं करना चाहिए किन्तु सद्गुणों के आचरण से सदा जीवन बिताना चाहिए। उत्तम आचरण से जीवन को भव्यता प्राप्त होती है और उससे आध्यात्मिक एवं नैतिक बल की वृद्धि होती है।

स्वर्ग और नरक को रानडे नहीं मानते थे । श्रीमद्भगवद्गीता के १६ वें अध्याय के २०-२१-२२ श्लोकों में काम-क्रोध-लोभ को नरक के द्वार बतलाये हैं जिनसे आत्मा भ्रष्ट होता है और अधोगति में पहुँचता है । इन्हीं को रानडे नरक मानते थे और उन शब्दों का जो गुप्त अर्थ है उसको समझते थे । सब मतों और धर्मों में आत्मा का अविनाशी होना माना जाता है और यही ईश्वरदत्त सबसे बड़ा उपहार है जिसके कारण आध्यात्मिक उन्नति होती है । मृत्यु तो केवल शरीर का नाश है । तुकाराम ने भी कहा है 'मरण माझें मरोन गेलें । मज केलें अमर ॥ अर्थात् मेरी मृत्यु मर गई है और मैं तो अमर हो गया हूँ । इस संसाररूपी प्रवाह में जिसने ईश्वर का सहारा पा लिया वही पार होता है । इसलिए सदाचारी होकर सब वासनाओं का त्याग करना चाहिए । तभी मृत्यु से और दुःख से हम निवृत होते हैं और तभी तुकाराम की तरह अनुभव प्राप्त होता है । सांसारिक मोह में पड़ने से आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती । तुकाराम ने यह शिक्षा दी है कि हम अपने शरीर का भान भूल जाएँ जिस से हममें किसी प्रकार की वासना न रहे । गायक और उसका गान सुननें वाले जिस तरह कभी कभी सुध बुध भूल जाते हैं तथा किसी प्रश्न के विचार में जैसे किसी समय विद्यार्थी अपने आप को भूल जाते हैं और तल्लीन हो जाते हैं उसी प्रकार हम को भी सांसारिक परिस्थिति में बराबर रहते हुए इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे उसमें लिप्त न हो जायँ । हमको

इस बात पर सदा ध्यान दिये रहना चाहिए कि आध्यात्मिक शक्ति के विकास के साथ सुख रूपी स्वर्ग की प्राप्ति होती है और अवनति से दुःख मिलता है।

'ऐसे भाग्य कई लाहता होईन। अवघें देखे जन ब्रह्म रूप' इस तुकाराम के अभंग पर रानडे ने व्याख्यान दिया था। ऊपर की पंक्ति का अर्थ है—'मैं ऐसा भाग्यवान् कब होऊँगा कि मनुष्यमात्र को परमात्मा के जुदे जुदे आभास समझकर देखूँ।' रानडे ने कहा था कि सृष्टि की अन्य वस्तुओं और प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में परमात्मा का अंश विशेष है। नाट्य-भूमि में जो पात्र एक वेश धारण करता है वह अपने असली स्वरूप को कुछ भूल नहीं जाता; परन्तु संसाररूपी नाट्यशाला में आकर मनुष्य अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है। हम सब प्रभु की आज्ञानुसार काम करते हैं परन्तु जब हम अन्तःकरण में स्थित आध्यात्मिक उपदेशक की उपेक्षा करते हैं तो हमारा जीवन कुमार्ग-गामी हो जाता है। अपने में जो परमात्मा का अंश है उसे भूल जाते हैं और दूसरे लोगों के दोष देखने लग जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य में जो दिव्य ज्योति है उसको यदि हम देखें तो यही पृथ्वी हमारे लिए स्वर्ग-समान हो जाय।

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'—इस उपनिषद्-वाक्य पर रानडे ने जो व्याख्यान दिया था उसमें कहा था कि सृष्टि में सर्वत्र परमात्मा की छाया पड़ रही है इसलिए

हमको सब के साथ स्नेह करना चाहिए । क्योंकि इससे हम ईश्वर में भक्ति करना सीखेंगे । निस्स्वार्थ प्रेमही वास्तविक प्रेम है । इस संसार में नीति और न्याय परमात्मा के अन्तर्गत हैं । हमारा स्नेह दूसरों के प्रति ऐसा शुद्ध होना चाहिए कि हमारे और ईश्वर के बीच में कोई स्वार्थ न आ जाय । दूसरे मनुष्यों से प्रेम रखने में हम ईश्वर के समीप हो जाते हैं । सृष्टि में सर्वत्र प्रेम का साम्राज्य है । इस संसार में प्रेम-भाव स्वार्थ सिद्धि के हेतु देखा जाता है । आध्यात्मिक कर्तव्य में हमको संसार के पदार्थों की वासना पर अंकुश रखना चाहिए और अदृश्य आत्मस्वरूप के प्रति अपना प्रेम बढ़ाना चाहिए । इस सुख की अभिलाषा उत्पन्न करना कठिन है परन्तु एक बार उसका विकास होने से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है ।

ऐसे प्रेम के विकास के लिए मन की शुद्धता आवश्यक है । आध्यात्मिक उन्नति और सुधार में हम अपने मित्रों की अपेक्षा रखते हैं और उनसे सहायता पाने की आशा करते हैं परन्तु वास्तव में सहायता प्रतिपक्षियों से मिलती है । हमारे दोष, जो हमको मालूम नहीं हो सकते, उनको हमारे प्रतिपक्षी बतलाते हैं । इससे यदि हम धैर्य और सहन-शीलता रक्खें तो हमारे विरोधी हमारी विशेष लाभकारी सेवा करें । बार बार हम यह समझते हैं कि हम तो न्याय-तत्पर और सद्गुणी हैं और दूसरे लोग इसके ठीक विपरीत हैं और ऐसा करने से हम अपने प्रतिपक्षियों की संख्या बढ़ाते जाते हैं । अन्य

मनुष्य में सब प्रकार के दोषारोपण करने से जैसी हम अपनी हानि करते हैं वैसी हमारे प्रतिपक्षी नहीं कर सकते। इस बात का विवेचन करते हुए रानडे ने निम्न लिखित मनन करने योग्य विचार दर्शाये थे :—

(१) यदि हम दूसरों के साथ भले रहेंगे तो वे भी हमारे लिए भले ही रहेंगे।

(२) हम सामान्यतः इस तरह अपना बर्ताव रखते हैं मानों अन्य लोग हमसे विरोध-भाव रखते हों।

(३) इससे विपरीत यदि हम अपने को दूषित समझें और दूसरों को शुद्ध अन्तःकरण से देखें तो शत्रु भी हमारे मित्र हो जायँ।

(४) जैसे हम अपने कपड़े इतने साफ़ नहीं धो सकते जितना कि धोबी धो सकता है इसी तरह हम अपने दोष आप ही नहीं देख सकते।

(५) हमारी जिह्वा के अग्र-भाग में बिच्छू के डंक और साँप के विष से भी उग्र विष रहता है।

(६) हम एक बड़ी भारी भूल बार बार करते हैं। वह यह है कि स्वयं अपने को सुधारने की जगह दूसरों को सुधारने का प्रयत्न करते हैं।

(७) जो हमारा हृदय शुद्ध हो तो जो दुःख, हमको दूसरों ने दिया है वह हलका मालूम हो।

(८) सब सत्य धर्मों का तत्त्व यही है कि हमको अपना हृदयं

ऐसा शुद्ध करना चाहिए कि जिससे हमारे शत्रुओं की संख्या कम हो।

'परकृति कशी पहावी'—'दूसरे के काम का अवलोकन कैसे करना चाहिए'—नामक व्याख्यान में रानडे ने दूसरों में ईश्वरीय अंश को देखते रहने की शिक्षा दी है और कहा है कि दूसरों के दोष, दम्भ, दर्प आदि देखने में हम ईश्वर के उस अंश की अवज्ञा करते हैं जो हममें मौजूद है। हमको दूसरों के गुण देखते रहने की आदत डालनी चाहिए। दूसरों का हित साधने में हम अपना जितना श्रेय कर सकते हैं उतना किसी दूसरी तरह नहीं हो सकता।

'नाहीं देवापाशीं मोक्षाचें गाठोडें' (भगवान के पास मोक्ष की गठड़ी नहीं है)—यह तुकाराम का अभंग भी रानडे के एक व्याख्यान का विषय था। उसमें उन्होंने यह बतलाया है कि अपनी उन्नति करने या मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति हम में ही है। हमसे बाहर मोक्ष नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। रानडे का यही विश्वास था। उसको उन्होंने बार बार बतलाया है और यही बोध किया है कि अपने विकारों को वश में करके, मनोबल को प्राप्त करना मुख्य कर्तव्य है।

योग की चर्चा रानडे ने प्रायः की है परन्तु संसार-त्याग करके जो योग साधन किया जाता है उसके वे बड़े विरोधी थे। सर चन्दावरकर ने इस विषय में कहा है, क्षणभंगुर संसार से

दु:खी होकर जो लोग बिलकुल विरक्त हो आजकल संन्यासी हो जाते हैं उनसे रानडे का मत बिलकुल नहीं मिलता था। जिस मत का सम्बन्ध मनुष्यमात्र की प्रवृत्ति और उन्नति से नहीं है उसको वे निरुपयोगी समझते थे। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश रणक्षेत्र में दिया था उसी के अनुसार मनुष्य के जीवन, और उसके कर्तव्य के प्रति युद्ध में विजयी होने की भावना रानडे में थी और उसी सूत्र को उन्होंने पूर्णतः स्वीकार किया था। एक व्याख्यान में रानडे ने मनुष्य की उच्च अभिलाषाओं को पाण्डव और मनोविकारों को कौरव बतलाया था और कहा था कि हम में जो कौरव रूप मनोविकार हैं उन पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

मनुष्यमात्र पर उनका कैसा प्रेम था, वह सर चन्दावरकर के कथन से अच्छी तरह जान पड़ता है, "न यह सुना ही गया है और न जाना गया है कि किसी मनुष्य के लिए उन्होंने एक भी कटुशब्द कहा हो।" रानडे ने एक अवसर पर कहा था— "किसी मनुष्य से यह कहने की क्या आवश्यकता है कि तुम किसी काम के नहीं हो और तुमसे किसी अच्छे काम करने की आशा करना व्यर्थ है? जिस संसार में वह रहता है उसके लिए उसे उपयोगी बनाना और उससे अच्छा काम कराना चाहो तो उसमें सत्कार्य करने की जो गुप्त शक्तियाँ हैं उसे उनका ज्ञान तुमको करा देना चाहिए।"

इस प्रकार रानडे के चरित्र को अच्छी तरह देखने से जान

पड़ता है कि उन्होंने अपने अनेक व्याख्यानों से समभाव रखते हुए और आसक्ति-विहीन होकर कर्तव्य-पालन करने का उपदेश किया है। यही नहीं, बल्कि प्रारम्भ से ही उन्होंने आत्मनिरीक्षण द्वारा अपना चरित्र भी इसी शिक्षा के अनुसार बना लिया था। बाहर के बहुत से लोग उन पर और उनके कामों पर आक्षेप किया करते थे। पर रानडे ने किसी बात की परवा नहीं की और न बुरा माना। वे अपने निर्दिष्ट मार्ग पर शान्ति से बराबर चलते ही गये और उसका परिणाम यह हुआ कि उनके मरने पर क्या मित्र और क्या प्रतिपक्षी, सबने उनकी एक सी प्रशंसा की। उनके एक जीवनचरित्र के लेखक ने लिखा है "मि० ग्लेडस्टन की तरह मि० रानडे की शिक्षा, उत्साह, आवेश और प्रवृत्तियों का मूल उनकी भक्तिमय मनोवृत्ति थी।"

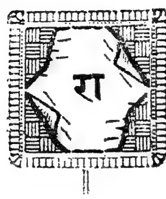
उदात्त प्रेमभाव रानडे की समस्त प्रवृत्तियों का आधार था। और इस भावना को छोड़ कर कोई काम करना उनको अच्छा नहीं मालूम होता था। न्यायमूर्ति चन्दावरकर ने सन् १९०० ईसवी में बम्बई यूनिवर्सिटी के कान्वोकेशन पर, वाइस चैन्सलर की हैसियत से जो व्याख्यान दिया था उसमें इस बात को एक हास्यमय वार्ता से बतलाया था:—

"कितने ही वर्ष हुए जब न्याय-मूर्त्ति रानडे और उनके मित्र धार्मिक तथा सामाजिक सुधार के विचारों का प्रचार लेखों और व्याख्यानों से करते थे, उस समय जब दोनों पक्षों में बहुत विरोध बढ़ गया था तब एक पारसी सज्जन ने रानडे से पूछा

था कि मिस्टर रानडे, आप धर्म को क्यों छेड़ते हैं ? यदि लोग उसमें कोई सुधार करना नहीं चाहते तो उसके लिए आप क्यों प्रयत्न करते हैं ? 'ईश्वर' और 'स्वर्ग' इन बातों में परिश्रम करने से तो दुनिया की दूसरी उपयोगी बातों में परिश्रम करना विशेष उपयोगी होगा।" रानडे ने इसका बड़ा ही अर्थ-सूचक उत्तर दिया था। उन्होंने कहा था—"भारतवर्ष धर्मों की जन्मभूमि है। अच्छा हो या बुरा, हम तो सदा धर्म और ईश्वर का ही विचार करते हैं। और ऐसा करने से हम रुक नहीं सकते। ईश्वर और धर्म जन्म से ही हमारे रक्त में मिले हुए हैं। हम उनको छोड़ना भी चाहें तो भी वे हमारा पीछा नहीं छोड़ेंगे।"

छठा अध्याय

राजकीय प्रवृत्ति ।



नडे मृत्यु-पर्यन्त सरकारी नौकरी करते रहे, इस कारण यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि उन्होंने 'राजनैतिक विषयों में कैसे भाग लिया था।' इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकरण के पढ़ने से मिलेगा । रानडे की जीवन-प्रवृत्ति अनेक विषयों में थी और मरण-पर्यन्त वह सब विभागों में लगातार चलती रही थी। रानडे अपने सब काम विवेक और मर्यादा से करते थे और सदा शान्ति-पूर्वक विचार करके किसी काम में हाथ डालते थे । उनकी कार्यशैली हर एक विषय में ऐसी ही थी और इसी प्रकार पूना की 'सार्वजनिक सभा' के राजनैतिक कार्य में भी उन्होंने अग्रसर होकर भाग लिया था। वे सभा के उत्साही सभासद् थे । उन्होंने कितने ही महत्त्व के राजनैतिक विषयों पर विचार और विवेचन किया तथा उनके सम्बन्ध में उत्तम भाषा में प्रार्थना-पत्र लिख कर सरकार के यहाँ भेजे।

यह सभा सन् १८७० ईसवी में स्थापित हुई थी। इसके मुख्य स्थापक थे श्रीयुत गणेश वासुदेव जोशी । वे अपने देश के सच्चे भक्त थे और बड़े उत्साह से उसकी सेवा करते थे। प्रजा

की शिकायतें और उसकी इच्छाओं को सरकार तक पहुँचाना इस सभा का उद्देश था। इस सभा के सभासद् चुनाव से बनाये जाते थे। इसमें प्रवेश करने के लिए वार्षिक चन्दा देने के अतिरिक्त यह भी नियम था कि वही मनुष्य सभासद् हो सकता है जो अमुक पचास मनुष्यों द्वारा चुना जाय और उनके प्रतिनिधि की हैसियत से सभा में रहे। इस कारण इसके सभासद् बड़े बड़े ताल्लुक़ेदार, जागीरदार, साहूकार, व्यापारी, वकील, पेन्शन-प्राप्त सरकारी कर्मचारी, अध्यापक, और दक्षिण प्रान्त के सरदार जैसे प्रतिष्ठित सज्जन थे। सभा का कार्य एक व्यवस्थापक समिति और प्रमुख-द्वारा होता था जिसका चुनाव प्रतिवर्ष हुआ करता था। रानडे को इस सभा के स्थापन का मान नहीं दिया जाता, परन्तु यह सर्वमान्य बात है कि रानडे इस सभा के जीवन रूप थे। कोई काम उनकी सलाह-सम्मति बिना नहीं होता था। २२ वर्ष, जब तक वे पूना में रहे तब तक यह सभा ऐसे महत्त्व की हो गई थी कि भारतवर्ष भर में किसी संस्था का इतना मान प्रजा और सरकार की निगाह में नहीं था जितना कि इसका हो गया था। रानडे ने सन् १८७८ ईसवी से सार्वजनिक सभा का त्रैमासिक पत्र निकालने का प्रबन्ध इसलिए किया था जिससे सभा का काम प्रजामात्र को नियमित रूप से मालूम होता रहे और राजनैतिक प्रश्नों पर सभासदों के विचार प्रकट होते रहें। इसमें दूसरे लेखकों के लेख राजनैतिक विषयों पर प्रकाशित होते थे और प्रत्येक अंक में रानडे के दो एक लेख राजनैतिक

समाज-सुधार तथा अर्थशास्त्र-विषयक, अवश्य रहते थे। मान० मि० गोखले ने कहा है कि इस पत्र के १७ वर्ष के जोवन में जितने लेख निकले हैं उनमें से दो तिहाई रानडे के लिखे हैं।

यद्यपि सभा का काम इस प्रकार शान्तिपूर्वक चलता था परन्तु प्रारम्भ से कुछ वर्षों तक सरकारी अफ़सर उसको राज्य-विद्रोही समझते थे। इस कारण उसके लेखों और मन्तव्यों पर सरकार ध्यान नहीं देती थी। किन्तु इसी अवस्था में बम्बई के 'टाइम्स आफ् इंडिया' ने सभा के त्रैमासिक पत्र के पहले चार अंकों की समालोचना करते हुए लिखा—"मालूम होता है कि पूना सार्वजनिक सभा को गुप्त नहीं तो एक राज-विद्रोही संस्था बतलाने की लोगों को एक आदत सी हो गई है। परन्तु उसके जो चार अंक समालोचना के लिए हमारे सामने मेज़ पर रक्खे हैं, उनको निष्पक्षता से देखने पर मालूम होता है कि बाह्य कारणों से उस पर जो शङ्का की जाती है वह निर्मूल है। सरकार के मन्तव्यों पर उसमें स्वच्छन्द आलोचना की गई है और वह भी बड़ी गम्भीरता से तथा विषय के पूर्णज्ञान के साथ। उसमें ऐसी बात कहीं नहीं मिलती है जिसमें सरकार की आज्ञा-भङ्ग करने या राज्य-द्रोही होने के लिए लोगों से कहा गया हो। बल्कि इसके विरुद्ध स्थान स्थान पर राज्य-भक्ति का पक्ष स्वीकार किया गया है। देशी समाचार-पत्रों के क़ानून का विरोध करते हुए उसमें स्वाभाविक रीति से सरकार के प्रतिकूल विचार प्रकट किये गये हैं। उसी लेख में अँगरेज़ी सरकार और रूस की

तुलना करते हुए यह भी कहा गया है कि भारतवर्ष को दूसरी जातियों और देशों के सन्मुख उच्च स्थान देने के लिए एक अँगरेज़ी सत्ता ही है।"

डा० विलियम वर्ड्सवर्थ पूना डेकनकालेज और बम्बई एलफ़िन्स्टन कालेज़ में अध्यापक रहे थे और फिर बम्बई यूनिवर्सिटी के वाइसचेन्सलर भी हो गये थे। अन्त में आप अपने अगणित शिष्यों और मित्रों को शोकातुर कर, सन् १८९० ईसवी में, पेंशन ले विलायत को गये थे। उन्होंने इस त्रैमासिक के अधिपति को एक पत्र सन् १८७९ में लिखा था। उसमें लिखा था—"आप की सभा के उद्देश बड़े सराहनीय हैं। जिस रीति से आप सभा के मन्तव्य प्रजा और सरकार को बतलाते हैं वह कदापि निन्दा के योग्य नहीं। यह बात अब स्पष्ट होती जाती है कि भारतवर्ष की व्यवस्था पर लोगों का विशेष ध्यान जाने लगेगा और मेरा विश्वास है कि सरकार को प्रजा की इच्छा और उनके अभिप्रायों पर विशेष ध्यान देने का समय बहुत जल्दी आने वाला है। मैं इस बात को जानता हूँ कि कभी कभी लोगों की बातें सरकार के मानने योग्य नहीं होतीं परन्तु दूसरी ओर यह भी याद रखने की बात है कि जिनका लाभ सरकार की रक्षा में है उनकी आर्थिक दशा देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि सरकार को अपनी अमलदारी में पूरी सफलता हुई है; और प्रजा की ओर से जो सूचनायें की जाती हैं उनकी उपेक्षा करने से काम चल सकता है। यदि मैं कोई राज्य-

मन्त्री होता तो सभा की ओर से जो प्रार्थना-पत्र आबपाशी के क़ानून और काश्तकारों की दशा के सम्बन्ध में सरकार के पास भेजे गये थे उन पर पूरा ध्यान देता और उनको बहुत मूल्यवान् समझता। अँगरेज़ अफ़सर प्रायः बाहरी बातें देखते हैं और जो सत्य है तथा जो वास्तविक हेतु है और तदनुसार जो प्रजा का यथार्थ अभिप्राय है उसको वे नहीं समझते। आपके पत्र ने कितने ही प्रश्नों पर प्रकाश डाला है और उसमें अकाल के सम्बन्ध में जो सामग्री जमा की थी वह अवश्य ध्यान-पूर्वक देखने योग्य है।"

जब सर विलियम वेडरबर्न सन् १८७६ में अहमदनगर के जज थे तब उन्होंने सभा को एक पत्र लिखा था जिसमें सभा के कार्य की प्रशंसा करते हुए उसको राज्य-विद्रोह से निर्दोष बताया था। उनके भाई सर डेविड वेडरबर्न का भी यही मत था। बम्बई के गवर्नर लार्ड रे जब विलायत गये तो उनको सभा ने सम्मान-पत्र दिया था। उसके जवाब में उन्होंने कहा था—"आपकी सभा ने मेरे कार्य-काल में अपनी समालोचना से मुझे लाभ पहुँचाया है। मि० लीवर्नर के कुशलता-पूर्ण व्याख्यान में जो बातें कही गई हैं उनके अनुसार यदि आलोचना की जाय तो उससे मैं डरता नहीं हूँ। वैसी समालोचना को मैं उपयोगी समझता हूँ। मैं लार्ड हैरिस से कहूँगा कि ऐसा मित्रता का व्यवहार रखने से राज्य-कार्य में बड़ी सुगमता होगी। एक समय था, जब कि यह सभा अर्ध-राज्य-भक्त समझी जाती थी। मैं

यह बात बिना अतिशयोक्ति के कहता हूँ। परन्तु मैं समझता हूँ कि उस समय सरकारी अमलदारी पर विद्रोहयुक्त आलोचना की जाती थी। अब तो राज्यद्रोह केवल कल्पना के रूप में रह गया है।"

इन सब लोगों की राय से मालूम होगा कि यह सभा राज्य-विद्रोही थी या नहीं। परन्तु यह बात अवश्य माननी होगी कि सन् १८७६,-७७ में, जब दक्षिण प्रदेश में अकाल पड़ा था तो, सभा ने सरकार को सलाह देकर पीड़ित मनुष्यों के कष्ट का निवारण करने में बड़ी सहायता की थी। मनुष्यों और पशुओं की आपत्ति दूर करने के लिए बहुत सा धन जमा कर ख़र्च किया था। सरकार ने इस सेवा से प्रसन्न हो सभा की बड़ाई की थी और तबसे संदेह-पूर्ण दृष्टि से उसे देखना बन्द किया था। अब तो सभा के प्रार्थनापत्रों पर भारत और बम्बई सरकार पूरा ध्यान देने लगी है और लोकहित-सम्बन्धी प्रश्नों पर इससे राय भी पूछी जाने लगी है। बम्बई के क़ानून-लगान की दफ़े २६ को रद करने की लोगों ने प्रार्थना की थी। उस विषय में पूना के कलेक्टर की मारफ़त सरकार ने सभा से राय ली थी। इस तरह, जो सभा-विद्रोही समझी जाती थी उसने एक बार सरकार की दृष्टि में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। परन्तु फिर भी किसी किसी अवसर पर सरकारी अफ़सरों के मन में पुरानी शङ्का जागृत हो आती है। लार्ड हैरिस के समय में ऐसा ही हुआ था और यह कहा गया था कि यह सभा दक्षिणी ब्राह्मणों की एक राज्य-द्रोही

मण्डली है। उस समय यह आशा की गई थी कि जैसे रानडे के नेतृत्व में सभा ने अपना काम किया था उसी प्रकार न्याय-वृत्ति, राज्यभक्ति और विवेक के साथ काम करने से सभा को फिर सरकार की ओर से प्रतिष्ठा प्राप्त हो जायगी। परन्तु पूना से रानडे के विदा हो जाने पर यह आशा दुर्भाग्यवश निष्फल हुई। जैसा कि ऊपर कहा गया है, सार्वजनिक सभा की ओर से जो प्रार्थना-पत्र बम्बई और भारतवर्ष की सरकार को तथा पार्लीमेन्ट को भेजे गये थे उनमें से बहुत से रानडे की सलाह से और कोई कोई तो उन्हीं के लिखे हुए थे। ये प्रार्थना-पत्र बड़े महत्त्व के होते थे और बड़े परिश्रम से तैयार किये जाते थे। उदाहरण के लिए अकाल का विस्तृत वर्णन, दुर्भिक्ष-कमीशन को अकाल से मृतजनों की संख्या-सम्बन्धी पत्र, वाइसराय के पास भेजा हुआ देशी छापेख़ानों और समाचारपत्रों का क़ानून सुधारने के लिए प्रार्थनापत्र, हिन्द सरकार को भेजा हुआ वह पत्र जिसमें दक्षिण के किसानों के संकट-निवारण-क़ानून की चर्चा की गई थी, महाराजा गायकवाड़ और उनके दीवान सर० टी० माधवराव को अपने राज्य की व्यवस्था सुधारने के लिए सूचना, भारतवर्ष के विद्यार्थियों को विद्याभ्यास के लिए विलायत भेजने की प्रार्थना—इत्यादि हैं। ऐसे ही अनेक लेख सभा की ओर से रानडे ने लिखे थे।

रानडे जिन प्रार्थना-पत्रों और सूचनाओं को तैयार कर सरकार में भेजते थे उनके लिए उनको कैसा परिश्रम करना पड़ता था,

यह बात उनके मित्र मिस्टर अगाशे ने बतलाई है। वह यहाँ लिखने योग्य है। वे कहते हैं:—"सरकारी अफ़सर हमारी प्रार्थना को मानें और उसे ध्यान से सुनें इसके लिए मिस्टर रानडे यह आवश्यक समझते थे कि उसमें लिखी गई सब बातों की होशियारी से जाँच की जाय और स्पष्ट रीति से दृढ़तापूर्वक मानयुक्त भाषा में दर्शाई जायँ। हम लोग अपने गृहस्थी के काम-काज में भी इतनी सावधानता नहीं रखते जितनी रानडे राजकीय विषयों के अध्ययन में रखते थे। वे प्रत्येक दिन के तार-समाचार और सम्पादकीय लेख को बड़े ध्यान से पढ़ते थे और अपने मित्रों से उनके सम्बन्ध में बातचीत करते थे। प्रति दिन कोई न कोई नवीन विचार, प्रार्थनापत्र के वर्णन में नवीन युक्तियाँ और किसी प्रकार का आवश्यक सुधार उनको ज़रूर सूझता था और इससे यह मालूम हो जाता था कि अमुक प्रार्थना-पत्र कितने परिश्रम और सूक्ष्म विचार से और कितने समय में तैयार हो सका। एक विकसित पुष्प की तरह सार्व-जनिक सभा के कार्यक्रम का या उसकी उन्नति का विचार रानडे के मन में उत्पन्न होता और क्रमानुसार प्रकाश में आता था।

किसी विषय में यथार्थ बात और उसका सब हाल जानने में रानडे बड़े सावधान थे। और किसी राय के क़ायम करने के पहले, जो कुछ उस मामले में मालूम होता, उन सब बातों पर वे पूरा विचार कर लेते। और सब बातों की तुलना कर उसमें संशोधन कर लेते। इसी प्रकार प्रार्थना-पत्रों में जिन शब्दों का

उपयोग करते उसमें बड़ी सावधानी रखते थे । हर एक वाक्य को बार बार पढ़ कर उसके शब्दों की तुलना करके वे यह देखते कि उसका अर्थ क्या समझ में आता है, और कानों को वे शब्द कैसे मालूम होते हैं । इन सब बातों का विचार करते और उसके बारे में लोगों से सलाह लेते; और जब इस तरह से वाक्य-रचना की पूरी जाँच हो जाती तभी उसका उपयोग किया जाता था । कहा जाता है कि एक प्रार्थनापत्र की रचना में उनको न केवल शब्दों के उपयोग का ही यत्न करना पड़ता था बल्कि शब्द शोधन के लिए भी मनोयोग करना पड़ता था । जब वे किसी मसौदे को सुधार कर फिर से पढ़ते थे तो उसको सुनना और उनके सुधारने को लक्ष से देखना एक शिक्षा रूप था ।"

कहा जाता है कि जब तक रानडे सरकारी कर्मचारी रहे तब तक उनको सार्वजनिक सभा से और उसके पत्र से कोई सम्बन्ध रखना उचित नहीं था । यदि सभा राज्यद्रोही होती, या उसकी व्यवस्था ठीक न होती तो अवश्य उससे सम्बन्ध रखना उचित नहीं था । पर सभा में कोई बात न्याय-विरुद्ध नहीं थी और उसकी व्यवस्था भी नियमानुसार थी । प्रजा की आवश्यकताओं और उसकी कठिनाइयों की ओर सरकार का ध्यान खींचना; जिस काम को सरकार लोकहित के लिए करे परन्तु उसका परिणाम उलटा हो और उससे प्रजा को सन्तोष न हो तो उसके कारण शासक-वर्ग को बताना, और ऐसे ही

दूसरे कामों से सरकार की सेवा करना ही इस सभा का उद्देश था। हम यह भी देख चुके हैं कि 'टाइम्स' जैसे समाचारपत्र और दूसरे प्रतिष्ठित तथा सुप्रसिद्ध लोगों का यही मत था कि सभा राज्य-विद्रोही नहीं है। फिर सब लोग जानते ही थे कि रानडे का सभा से सम्बन्ध है। यदि सरकार को यह बात नापसन्द होती तो वह रानडे को उससे सम्बन्ध तोड़ देने के लिए बाध्य कर सकती थी। पर सरकार ने अथवा किसी कर्मचारी ने कभी ऐसी सूचना रानडे को नहीं दी थी। यह भी हम देख चुके हैं कि रानडे के बुद्धि-प्राबल्य, गम्भीर विचारशक्ति और महान् विद्वत्ता के कारण तथा उनकी सलाह से काम होने के कारण सभा सीधे पथ पर चल सकी थी; और विवेक एवं राज्यभक्ति से अँगरेज़ी राज्य के लाभों को प्रामाणिक रीति से स्वीकार करती हुई ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकी थी जो देश की किसी दूसरी संस्था ने नहीं पाई थी। हम इस बात को भी जानते हैं कि सभा के काम-काज के कारण रानडे ने सरकारी काम में कभी कोई कसर नहीं की थी। यह बात हम जानते ही हैं कि सरकारी काम में उन्होंने बराबर कैसी सफलता प्राप्त की थी कि वे एक के बाद दूसरा चढ़ता हुआ पद प्राप्त करते गये और अपने हाकिमों को कैसा सन्तोष देते रहे तथा सदा उनकी प्रशंसा के पात्र बने रहे।

रानडे ने सभा द्वारा देश की बहुत बड़ी सेवा की। परन्तु सबसे महत्त्व की सेवा जो उन्होंने सभा की ओर से की वह

सन् १८७६—७७ के दुर्भिक्ष के समय की थी। इसमें कोई भी शङ्का नहीं कर सकता। उस समय, अलावा मदरास प्रान्त के, बम्बई प्रान्त के ६४००० वर्ग मील में जिसकी आबादी ९० लाख थी—अकाल पड़ा था। नाज बहुत मँहगा हो गया था; और घास चारे की भी बड़ी कमी हो गई थी। इस कारण मनुष्य और जानवर दोनों की दशा बड़ी शोकजनक हो गई थी। ऐसे कुसमय में रानडे ने अगाध परिश्रम से सभा द्वारा दक्षिण के लोगों की जो सेवा की थी उसका यथा-स्थिति वर्णन सभा के पत्र के अंकों से मालूम होता है। सभा को अकाल-पीड़ा के जो समाचार मिलते थे उनके अधार पर सरकार को प्रार्थना-पत्र भेजने में ही उसने सन्तोष नहीं माना किन्तु उसने अपने व्यय से पूना, सोलापुर, सतारा, अहमदनगर, बीजापुर आदि ज़िलों में अपने आदमियों को वेतन देकर इस लिए भेजा कि वहाँ की अकाल-पीड़ित प्रजा का और वहाँ की दशा का हाल लिख कर वे भेजा करें जिससे कि सरकारी अफ़सरों को प्रजा और पशुओं की अवस्था का हाल मालूम हो। रानडे प्रत्येक ज़िले की आवश्यकतानुसार प्रार्थना-पत्र सरकार में भेजते थे और सरकार भी उन पर योग्य ध्यान देती थी तथा संकट निवारण में सहायता करती थी। सभा के नौकर, पत्र द्वारा, कैसे समाचार भेजते थे वह पूना ज़िले के पतास ग्राम के संवाद-दाता के पत्र से मालूम होगा:—

"पतास—ता० १२ अक्तूबर १८७६—वर्षा कम है। बाजरे की बाल

जल गई है। रबी की फ़सल नहीं बोई गई। इतना पानी है जो दो महीने तक चल सकेगा। नाज का भाव ११½ सेर है। बस्ती का ⅛ हिस्सा इलाके से भाग गया है और इससे भी ज़्यादा भागने के लिए तैयार बैठा है। पके पकाये भोजन की और धान की छोटी छोटी चोरियाँ होती हैं। बहुत से मवेशी तो मर गये, जो हैं वे पीपल के पत्तों से निर्वाह करते हैं। ¼ परदेश में भेज दिये गये हैं। संकट-निवारण के लिए धोबी-तालाब और सरकारी बँगले के पास के तालाब के खुदवाने का काम शुरू होने वाला है। मामूली मरम्मत के सिवाय संकट-निवारण के लिए और दूसरी मज़दूरी के काम अभी जारी नहीं हुए हैं।"

इस तरह भयङ्कर अकाल को बहुत विस्तार से फैला हुआ देख कर पूना-निवासियों ने समझा कि प्रजा का दुःख निवारण करने के लिए सरकार की ओर से जो प्रयत्न होता है उसमें लोगों की सहायता की भी आवश्यकता है। इस विचार से उन्होंने १२ अक्तूबर सन् १८७६ ई० को पूना के कलक्टर, मि० नार्मन के सभापतित्व में एक सभा की और अकाल से पीड़ित प्रजा की सहायता के लिए चन्दा जमा किया। सार्वजनिक सभा ने रानडे के नेतृत्व में अनेक प्रकार से दुष्काल में प्रजा की सेवा की थी। रानडे ने अकाल-सम्बन्धी कितने ही प्रार्थनापत्र और प्रजा की दशा बताने के लिए लेख इत्यादि लिख कर सरकार में भेजे थे। उनमें से दो विशेष उल्लेखनीय हैं। एक तो वह लेख जिसमें दिखलाया था कि अकाल में प्रजा की क्या दशा हो गई थी, और दूसरा वह लेख जो अकाल के कारणों की जाँच

करने के लिए बिठाये गये फ़ेमिन कमीशन के पास भेजा गया था। इसमें रानडे ने इस विषय का अच्छा विवेचन किया और पूरी हालत संख्याओं सहित दी थी। यह लेख सभा के त्रैमासिक की पाँचवीं पुस्तक में छपा है। इन लेखों में रानडे ने सरकार की ओर से किये गये उस प्रयत्न की भी प्रशंसा की है जो अकाल का कष्ट निवारण करने के लिए हुआ था और जहाँ सरकार ने त्रुटि की उसका भी वर्णन सभ्य भाषा में कर दिया है।

सरकार रानडे के लेखों को स्वीकार कर उन पर विचार करती थी। उन्होंने अकाल-पीड़ित लोगों के जो हाल सरकार में भेजे थे उनको स्वीकार करते हुए बड़े सेक्रेटरी मि० चेपमैन ने रानडे को लिखा था—"अकाल-पीड़ित लोगों की जो स्थिति आप समय समय पर लिख भेजते हैं और जो सूचना करते हैं उस लाभ के लिए सरकार बहुत प्रसन्न है।"

मिस्टर अगाशे ने कहा था कि रानडे ने अनेक असुविधायें सह कर, केवल सार्वजनिक सभा का काम होशियारी से चलाने में ही सन्तोष नहीं माना था; बल्कि उन्होंने इस सभा की मातहती में काम करने के लिए बहुत सी संस्थायें उत्पन्न कर दी थीं जिनके परिणाम से बहुत से ज़िलों में सभायें बन गई थीं। जब म्यूनिसिपेलिटी और ज़िला बोर्ड को स्थानिक स्वराज्य के थोड़े से अधिकार दिये गये थे तब रानडे ने वोट देने वालों की मण्डलियाँ बनवाई थीं जिनके सन्मुख चुङ्गी के या बोर्ड के

उम्मेदवार अपना व्याख्यान देते थे। इस प्रकार उन्होंने इन अधिकारों को राजकीय शिक्षा का साधन बना दिया था। 'पंचायत' के वे पक्षपाती थे। पञ्चायती कचहरी की स्थापना उनके प्रयत्न से कितनी ही जगह हुई थी।

सार्वजनिक सभा के नेता होकर रानडे ने देश की बड़ी सेवा की। सरकार को राज्य-कार्य में प्रजा के मतानुसार सहायता देने के लिए जो नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई थी उसके स्थापन-कार्य में रानडे का बड़ा भाग था। यद्यपि फिर वे कांग्रेस में भाग नहीं ले सकते थे तो भी महत्त्व के राजकीय विषयों पर नेता-गण उनकी सलाह लिया करते थे। सार्वजनिक सभा के बाद सन् १८९५ ई० में 'डेकन सभा' स्थापित हुई थी। उस में भी उन्होंने अग्र-भाग लिया था और उसके नियम स्वयं आप ने बनाये थे। ये दोनों सभाएँ और बम्बई का 'प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन' और ऐसी दूसरी सभा उनकी बहुमूल्य सलाह से लाभ उठाती थीं।

रानडे जिस काम को प्रारम्भ करते या किसी संस्था की स्थापना करते तो उसके फल के लिए बहुत उत्सुक नहीं होते थे। यदि किसी संस्था में शिथिलता आ जाती या काम निष्फल होता तो वे निराश या उत्साहहीन नहीं होते थे। यह मनोवृत्ति उनके सब कामों में दिखाई देती थी। राजकीय प्रवृत्ति के विषय में एक बार उनकी बात-चीत मान० मि० गोखले से हुई थी; वह जानने योग्य है। सन् १८९१ ई० में सोलापुर और बीजापुर ज़िलों में बड़ी महँगी हो रही थी। उस समय मि० गोखले सार्वजनिक सभा

के मंत्री थे। उन्होंने एक प्रार्थनापत्र बड़ी मेहनत से तैयार किया और उसमें इन ज़िलों की दशा का पूरा परिचय दिया। सरकार के पास जब यह प्रार्थनापत्र भेजा गया तो वहाँ से दो पंक्तियों का छोटा सा उत्तर आया कि सरकार ने प्रार्थनापत्र की बातों को नोट कर लिया है। मि० गोखले ने कहा था कि इस उत्तर से हम बड़े निराश हुए और दूसरे दिन जब रानडे के साथ घूमने गये तो उनसे कहा कि यदि सरकार को नोट कर लेने के सिवा और कुछ जानने की इच्छा नहीं है तो प्रार्थना-पत्र तैयार करने में इतनी मेहनत करना और उनको भेजना सब व्यर्थ ही है। रानडे ने जवाब दिया—"तुम यथार्थ रीति से यह नहीं समझे हो कि इस देश के इतिहास में हमारी क्या स्थिति है। यह प्रार्थना-पत्र तो नाम के लिए सरकार में भेजे जाते हैं। पर असल में तो वे प्रजा के ही लिए लिखे जाते हैं, जिससे लोगों को यह मालूम हो जाय कि इन विषयों पर किस तरह विचार करना चाहिए। यह काम, बहुत वर्ष तक, इसी तरह करना होगा और उससे परिणाम की आशा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि देश में इस तरह की राजकीय प्रवृत्ति बिलकुल नई है। और इसके अलावा अगर सरकार हमारी बात को नोट भी कर ले तो यही काफ़ी है।"

असाधारण कार्य-दक्षता और बुद्धि-बल के कारण रानडे की तुलना प्रख्यात मराठी-राज्य-व्यवहार-कुशल नाना फड़नवीस से बार बार की जाती है। परन्तु इन दोनों महापुरुषों में तुलना करने के पहले इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि रानडे

को सब प्रकार से अनुकूलता मिली होती तो वे कैसे बड़े काम कर सकते । नाना फड़नवीस एक बड़े राज्य का मुख्य मंत्री था और उसको अपने कामों में पूरी अनुकूलता थी जिससे वह अपनी बुद्धि के अनुरूप जो महत्कार्य करना चाहता था, उसे कर सका । पर रानडे के लिए यह बात नहीं थी ।

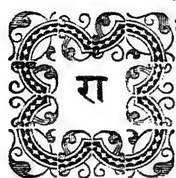
रानडे और नाना फड़नवीस में ठीक सौ वर्ष का अन्तर था। यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है । नाना फड़नवीस का जन्म सन् १७४२ ई० में हुआ और मृत्यु १८०० ई० में हुई । रानडे का जन्म सन् १८४२ में हुआ और अवसान सन् १९०१ ई० में । दोनों की आयु बराबर थी । यह तो ऊपर की बात रही, महत्त्व की बात यह थी कि ईश्वर ने दोनों को परमोच्च कोटि की बुद्धि प्रदान की थी । दोनों ही अपने निरन्तर-उद्योग, सूक्ष्मदृष्टि और दूर दर्शिता के लिए प्रख्यात थे । बुद्धि-प्राबल्य में दोनों अपने अपने सम-कालीन पुरुषों में सर्वोपरि गिने जाते थे । ऐसा मालूम होता है कि लोगों पर अपनी सत्ता चलाने और अपने आज्ञाकारी लोगों को अपने पास इकट्ठा करने के लिए दोनों का जन्म हुआ हो । हृदय के गुणों में कुछ अन्तर पाया जाता है । रानडे में ऐसे गुण थे जिनसे एक साधु की शोभा हो । पर नाना फड़नवीस राज्य का मंत्री था इसलिए उसको अपने काम-काज में राजनीति का प्रयोग करना पड़ता था यद्यपि उसमें और भी अच्छे गुण मौजूद थे । उसमें राजनीतिज्ञ लोगों के बहुत से गुण विद्यमान थे और वह अठारहवीं सदी के पिछले ५० वर्ष में;

महाराष्ट्र में सर्वोपरि सत्ता भोगने के लिए शक्तिमान हुआ था तथा हिन्दुस्तान में सब से बड़ा राजनीतिज्ञ माना जाता था। परन्तु रानडे के साथ यह बात नहीं थी। उनको अपनी मानसिक शक्ति और प्रवृत्तियों का पूर्ण रीति से प्रयोग करने के लिए पूरा अवकाश ही नहीं मिला था। सरकारी नौकरी में हाईकोर्ट के जज तक हो सके; क्योंकि इससे ऊँचा पद हिन्दुस्तानियों को मिलता नहीं था। इस उच्चतम पद को—जो एक भारतवासी को मिल सकता है—प्राप्त कर रानडे ने राजा और प्रजा को सन्तुष्ट किया और साथ ही साथ देशहित के अनेक कार्यों में भाग लेकर लोगों में अनेक प्रकार की प्रवृत्ति को जागृत कर दिया; और उन प्रवृत्तियों में स्वयं अपना समय देकर उत्साह और दृढ़ता से वे कार्य में लगे रहते थे।

यह बात निःशंक रूप से कही जा सकती है कि यदि रानडे को और भी कोई ऊँचा पद दिया जाता तो वे अपने कर्त्तव्य पालन से सरकार की विशेष प्रीति सम्पादन कर सकते।

सातवाँ अध्याय

विद्या-देवी की उपासना ।



नडे सरस्वती—विद्या देवी—के परम उपासक थे। देशोन्नति के लिए अनेक प्रकार की हलचल में भाग लेते हुए विद्याव्यसन को उन्होंने जारी रक्खा था। उन्होंने इतिहास और अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर तथा राजकीय, सामाजिक, धार्मिक और औद्योगिक विषयों पर अनेक पुस्तकें, निवन्ध और लेख लिखे हैं। एक प्रसिद्ध समाचारपत्र के मुख्य सम्पादक रह कर और बम्बई यूनिवर्सिटी के अग्रगण्य फ़ेलो होकर विद्यादेवी की बड़ी सेवा की है। उनकी सव पुस्तकों और लेखों में 'मराठी सत्ता का उदय' नाम की पुस्तक ऐतिहासिक ग्रन्थों में पहली श्रेणी की है। यह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष में अँगरेज़ी में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के लिखने के लिए रानडे ने २२,००० हस्तलिखित पृष्ठों का अवलोकन किया था और दूसरी पुस्तकों से भी पेशवाओं का इतिहास पढ़ा था। यह पुस्तक रानडे के महाराष्ट्रीय इतिहास के विशाल ज्ञान का फल है। इसको देखने से रानडे के महान् परिश्रम, नवीन विचार को जन्म देने की असाधारण

शक्ति, तीव्र अवलोकन-शक्ति और सूक्ष्म शोधक-वृत्ति का यथा-स्थित दर्शन होता है। इस कारण, गत शताब्दी के पिछले भाग में जो विद्वत् शिरोमणि बम्बई प्रान्त में उत्पन्न हो गये हैं उनमें रानडे भी गिने जाने योग्य हैं। यह भी कहा जा सकता है कि हमारे ग्रेजुएटों को जो यह दोष दिया जाता है कि वे किसी उत्तम ऐतिहासिक ग्रन्थ को नहीं लिख सकते, उसको उन्होंने निर्मूल सिद्ध किया है। सन् १८६२ ई० में बी० ए० पास कर तुरन्त ही 'इन्दुप्रकाश' नामक मराठी-अँगरेज़ी पत्र के—जो उन्हीं दिनों निकलने लगा था—अँगरेज़ी विभाग का सम्पादन-कार्य उन्होंने अपने सिर लिया और विद्या के विषय में देशसेवा आरम्भ कर दी। पहले यही लिखना आवश्यक है कि इस पत्र के साथ उनका सम्बन्ध क्योंकर हुआ।

जिस समय रानडे ने बी० ए० पास किया उस समय देशी पत्र बाल्यावस्था में थे। उस समय महाराष्ट्र में पत्र जो निकलते थे वे सब मराठी में होते थे। उनके सम्पादक इतने शिक्षा-प्राप्त नहीं थे कि अपनी ज़िम्मेदारी अच्छी तरह समझ सकते और उसको अच्छी तरह पूरा कर सकते। यह कहा जा सकता है कि उनके लेख निर्माल्य और छिछोरी बातों से भरे रहते थे। इससे यदि उनकी ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता था और उनका सम्मान नहीं होता था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस कारण कुछ सज्जनों का यह विचार हुआ कि एक ऐसे समाचारपत्र को निकालने की आवश्यकता है

जिसमें वर्तमान समय की स्थिति पर और तत्सम्बन्धी विषयों पर विवेक, दीर्घदृष्टि तथा पूर्ण रीति से चर्चा की जाय; एवं जिसके सम्पादकीय लेख अमुक विषय या मनुष्यों पर उच्च भाव से लिखे जायँ; तथा जो प्रजा के सङ्कटों का वर्णन सभ्य और प्रामाणिक रीति से सरकार के समक्ष करे और सरकार से सहायता माँगते हुए प्रजा के दुःखों को दूर करने के लिए प्रार्थना करे; तथा जो राजा और प्रजा दोनों के बीच न्यायी और विवेकी मध्यस्थ होकर उभय पक्ष की सेवा करे; और जो न केवल राजकीय विषयों पर ही ध्यान दे, बल्कि सामाजिक और साम्पत्तिक उन्नति की ओर भी पूरा ध्यान रक्खे। किसी ऐसे योग्य सम्पादक के मिलने से जो कार्यकुशल, विद्वान् और विचारवान् हो, ऐसे पत्र के सब हेतु पूर्ण हो सकते थे। भाग्य-वश, पत्र के प्रकाशकों की दृष्टि रानडे पर पड़ी जिन्होंने थोड़े ही दिन पहले बी० ए० की परीक्षा नामवरी से पास की थी। और इस प्रकार वर्तमान पत्र 'इन्दुप्रकाश' रानडे के सम्पादकत्व में निकलने लगा। रानडे को पत्र का सम्पूर्ण भार अपने माथे लेने का अवकाश नहीं था क्योंकि उनको एम० ए० की परीक्षा देनी थी और कालेज के 'फ़ेलो' होने से वह काम भी करना पड़ता था। इसलिए उनको केवल अँगरेज़ी विभाग का सम्पादन दिया गया और मराठी विभाग का प्रबन्ध पत्र के सञ्चालकों ने अपने ज़िम्मे लिया। अब 'इन्दुप्रकाश' में रानडे के अँगरेज़ी लेख प्रकाशित होने लगे। इनमें से एक लेख की बड़ी प्रशंसा हुई।

वह पानीपत की लड़ाई के सौ वर्ष पूरे होने पर लिखा गया था। इनके लेख ओजस्विनी और सरल रसीली भाषा में होते थे। लेखक की असाधारण-शक्ति, ज्ञान और उदार विचारों के कारण उनकी बड़ी प्रशंसा होती थी और उनकी ओर केवल देशी भाइयों का ही नहीं, बल्कि अँगरेज़ों का भी ध्यान जाने लगा। इस पत्र को शीघ्र ही वह प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई जो समकालीन पत्रों में किसी को नहीं मिली। रानडे ने तीन चार वर्ष तक इसका सम्पादन-कार्य किया परन्तु जब उन्हें नौकरी के लिए बाहर जाना पड़ा तो पत्र से भी सम्बन्ध छोड़ना पड़ा। रानडे ने, अपने अल्पकाल के सम्बन्ध से ही, पत्र को ऐसा प्रसिद्ध कर दिया कि उसकी गणना मुख्य पत्रों में होने लगी और अब भी यह पत्र अपनी पदवी की रक्षा कर रहा है। विवेक, गम्भीरता और विचारपूर्ण होने से तथा साथ ही टटके विषयों पर पूर्ण रीति से टीका टिप्पणी करने से अब तक इस पत्र ने अपना उच्च पद बना रक्खा है। रानडे के बाद क्रम से इसके बहुत से सम्पादक हुए। उनमें से किसी का रानडे की बराबरी का होना कठिन था; क्योंकि उनकी बराबर मेहनत करने वाला कौन हो सकता है? परन्तु फिर भी उच्च शिक्षा-प्राप्त सम्पादकों के होने से रानडे ने पत्र को जो ऊँचे दरजे पर पर चढ़ा दिया था उसकी रक्षा करने का पूरा प्रयत्न होता रहा है और अब भी उसकी गणना साधारण श्रेणी के पत्रों में नहीं है।

अब 'मराठी सत्ता का उदय' नामक रानडे के ग्रन्थ की चर्चा करते हैं। इस पुस्तक में वीर शिवाजी और उनके वंशजों की सत्ता में, १७ वीं १८ वीं सदी में मराठी राज्य के उत्पन्न होने के कारणों का वर्णन बड़ी सरल, ओजस्विनी और छटादार भाषा में किया गया है। उन्होंने दूसरे इतिहासकारों की तरह राजकीय विषयों का वर्णन विस्तार से नहीं किया। उन्होंने यह मान लिया है कि पाठकों को राजकीय विषयों का थोड़ा बहुत ज्ञान पहले से है। रानडे ने प्रस्तावना में लिखा है—"इसका हेतु मराठी राज्य के—जिसने कम से कम सौ वर्ष तक दूसरे राज्यों पर सर्वोपरि पदवी प्राप्त की थी—उदय और उसकी उन्नति के इतिहास का संक्षिप्त विवरण अँगरेज़ और देशी पाठकों के सम्मुख रखने का है।" आगे उन्होंने यह भी लिखा है "इस पुस्तक के लिखने से मेरा यह मतलब है कि एक भारतीय की दृष्टि के अनुसार इतिहास की मुख्य बातों का विवेचन करूँ; और बहुत सी उन व्यर्थ बातों को दूर करूँ जिनके कारण वार्ता के नैतिक रस और इतिहास का (जो राजकीय बोध होता है) उसका असर कम हो जाता है और साथ ही विजयी अँगरेज़ों का जो भाव, अस्त हुई, मराठी सत्ता के प्रति है उस पर खेद प्रकट करना है।" डा० आर० जी० भांडारकर को छोड़ कर, जिन्होंने 'दक्षिण का पूर्व समय का इतिहास' नामक पुस्तक लिखी है, और किसी महाराष्ट्र इतिहासकार ने—ग्रान्ट डफ़ ने भी—इन बातों का वर्णन नहीं

किया जिनका रानडे ने किया है। उस समय लोगों की जो सांसारिक और धार्मिक व्यवस्था थी उसका वर्णन रानडे ने किया है और इससे सब महाराष्ट्र इतिहासों में यह बड़े महत्त्व का और अनुपम है। उसमें यह बात स्पष्ट दिखलाई गई है कि लुटेरों और ठगों के राज्य का, सौ वर्ष से अधिक काल तक सत्तावान् रहना असम्भव है। यदि शिवाजी और उनके वंशज केवल लुटेरे थे—जो औरङ्गज़ेब के मरने पर मुग़लों के राज्य का नाश करने के लिए टूट पड़े थे और उस राज्य के नष्ट करने में सबसे साहसी थे और इसी कारण जो अपनी उन्नति कर सके—तो वे इतने समय तक हिन्दुस्तान में न राज्य कर पाते और न सर्वोपरि सत्ता भोग सकते। रानडे का कहना है कि मराठों के उत्थान में एक नैतिक रहस्य है जिसको अँगरेज़ और मुसलमान इतिहास-कारों ने नहीं समझा है। इतिहास देखने से मालूम होता है कि औरङ्गज़ेब के मरने के बाद जब मुग़लों के राज्य का नाश होने लगा और कोई व्यवस्था ठीक नहीं रही उस समय महाराष्ट्र के सरदारों ने अपनी सत्ता स्थापित नहीं की थी। किन्तु औरङ्गज़ेब की ज़िन्दगी में ही, जब मुग़लों के राज्य का अन्त समय आने को था तभी, शिवाजी ने महाराष्ट्र राज्य की नींव डाली थी; मुग़लों से लड़ाइयाँ लड़ी थीं और सब साधनों से सुसज्जित मुग़लों की बलवान् फ़ौज का मुक़ाबला किया था और उनके धावों को निष्फल कर दिया था। औरङ्गज़ेब का दबदबा होने से बहुत काल पहले ही, मरहठी प्रजा में एक

वेगवान उत्साह उत्पन्न हो गया था जो औरङ्गज़ेब के काल में दृढ़ होकर प्रकट हुआ। शिवाजी ने और उनके वंशजों ने जो सफलता तथा विजय प्राप्त की उसका यही रहस्य था। जैसे मध्ययुग के अन्त में योरप की प्रजाओं में धर्मसम्बन्धी-सुधार के लिए हलचल मच गई थी उसी प्रकार सामाजिक और धार्मिक उन्नति के वेग ने महाराष्ट्र की प्रजा को भी व्याकुल कर दिया था। इस पुस्तक में ऐसी उपयोगी बातों के होने से यहाँ उसका विस्तार से वर्णन किया जाता है।

पुस्तक के पहले प्रकरण में रानडे ने इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि महाराष्ट्र राज्य के इतिहास में नैतिक रहस्य का किसमें समावेश है और दूसरे देशी राज्यों के इतिहासों से महाराष्ट्र का इतिहास विशेष महत्त्व का क्यों है। इस बात की आलोचना करते हुए उन्होंने उस विप्लव के कारण बतलाये हैं जो शिवाजी के समय में हो रहा था। इससे यह बात मालूम होती है कि यह सब हलचल देखने में यद्यपि राजकीय थी परन्तु उसका मूलहेतु भाषा, जाति, धर्म और साहित्य से—परस्पर एक दूसरे से—बँधा होने पर भी, एक-मत होकर राजकीय उन्नति और बल प्राप्त कर सामाजिक तथा धार्मिक उन्नति करने का था। इस उन्नति की जो अग्नि, अन्दर ही अन्दर, दो तीन शताब्दियों से जल रही थी वह औरंगज़ेब के ज़ुल्मों के कारण और धर्मान्धता के कारण प्रकाश-रूप से भभक उठी और उसने भयंकर रूप धारण कर लिया। मुग़ल-राज्य का नाश इसका

परिणाम रूप था। फिर महाराष्ट्र की उन्नति हुई और इस सत्ता ने सौ वर्ष से अधिक काल हिन्दुस्तान में राज्य किया। आरम्भ में उन्नति का वेग धार्मिक सुधार के लिए था सही परन्तु बाद में राजकीय, सामाजिक और साहित्य-विषयक सुधार के लिए भी यह वेग फुर्ती से बढ़ने लगा। वास्तव में यह हल चल कितने ही प्रकार के सुधारों के लिए थी। इसके नेता १३ वीं सदी से पहले के महाराष्ट्र के साधु संत, और भगवद्गीता पर कविता में 'ज्ञानेश्वरी' टीका करने वाले ज्ञानेश्वर थे। इनके बाद शिवाजी के समकालीन तुकाराम, रामदास, वामन पंडित आदि साधु पुरुष हुए। महाराष्ट्र में इन साधु-संतों के नाम बड़े पूज्य भाव से लिये जाते हैं। उनके ग्रन्थों का प्रजा पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा है। उनके पढ़ने से संकट के समय आशा और सान्त्वना का संचार होता है। शिवाजी और उनके वंशज तथा सरदार इस हलचल के राजकीय भाग के नेता हुए थे।

रानडे ने लिखा है कि इन साधु संतों ने, योरुप के प्रोटेस्टेन्ट सुधारकों की तरह, प्रचलित भाषा में अपने प्रभावशाली ग्रन्थ लिखे हैं। वे लोग बोल-चाल की भाषा में ही ईश्वर का भजन करते और प्राचीन ब्राह्मणों में प्रचलित धर्म-क्रियाओं को तथा जातिभेद को ना पसंद करते हुए अपने अंतःकरण को विशुद्ध और भक्ति-पूर्ण बना कर प्रचलित धर्म पर निर्मल श्रद्धा रखना पसंद करते थे। राजकीय हलचल के नेता भी इससे दूर नहीं रह सके; वे उसके अनुसार ही बर्तते थे और साधु संतों को अपना गुरु

मान कर उनसे शिक्षाग्रहण करते थे। इनमें से, रामदास नामक संत को शिवाजी ने अपना गुरु बनाया था। इसके अतिरिक्त तुकाराम के बनाये हुए भजन और पद सुनने के लिए भी शिवाजी उपस्थित होते थे। पेशवाओं में सबसे प्रसिद्ध बाजीराव, अपने हर एक कार्य में, धावड़शी के ब्रह्मेन्द्र स्वामी की आज्ञानुसार चलता था। राजकीय हलचल के नेता धार्मिक नेताओं की आज्ञानुसार चलते थे परन्तु धार्मिक हलचल पर राजकीय हलचल का भी बड़ा प्रभाव अवश्य पड़ता था। इससे धार्मिक वेग को वे राजकीय विषयों में प्रवाहित करने लगे। राजकीय हलचल के नेताओं ने धार्मिक उत्साह और वेग का आश्रय लेकर अलंघनीय रुकावटों को भी पार कर डाला; और एक के बाद एक विजय प्राप्त करते हुए वे पश्चिम में सिंधु नदी से पूर्व में हुगली तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में तुंगभद्रा तक मराठी राज्य का सिक्का जमा सके थे। इससे यह मालूम होता है कि शिवाजी यदि एक ठग या लुटेरे होते तो एक बलवान राज्य को इस तरह स्थापित न कर सकते। और ऐसी कुशलता से, जिसकी आज तक प्रशंसा होती है, अपनी 'अष्टप्रधान मंडली' की मदद लेकर राज्य चलाने का विचार उनको न सूझा होता। उसी तरह शिवाजी के वंशजों को भी धार्मिक और नैतिक विचारों के वेग की सहायता न मिली होती तो वे अपना राज्य न तो बढ़ा सकते और न उसको क़ायम ही रख सकते।

शिवाजी के जुदे जुदे स्थानों के सरदारों से 'अष्ट-प्रधान

मंडली' बनाई गई थी। अपने राज्य-कार्य में सरदारों की सलाह की आवश्यकता जान कर शिवाजी ने इस मंडली या कौन्सिल को बनाया था। परन्तु रानडे ने लिखा है कि इस मंडली की योजना में महाराष्ट्र राज्य को स्थायी बनाने की, और उसका नाश करने की, दोनों ही बातें संयुक्त थीं। क्योंकि शिवाजी के समय में जैसे मुख्य सत्ता जब तक बलवान रही तब तक सब सरदार मिलकर उसके मत के अनुसार सामान्य हेतु के अर्थ काम करते रहे; परन्तु जब वह सत्ता निर्बल होने लगी तो स्वार्थ-वृत्ति के वश होकर एक एक करके सब सरदारों ने अपने अपने अलग राज्य स्थापित करने की योजना कर ली। इससे मुख्य सत्ता का बल जाता रहा और उसका अन्त समय आ पहुँचा। यही रानडे के इतिहास के प्रथम प्रकरण का सार है।

दूसरे प्रकरण में इस बात का वर्णन है कि महाराष्ट्र राज्य की उन्नति के लिए कौन कौन सी अनुकूलताएँ थीं और उसके बीज-वपन के लिए क्षेत्र कैसा तैयार था। ग्रान्टडफ़ के मतानुसार इस राज्य की स्थापना और उन्नति केवल आकस्मिक कारणों से हुई थी। पर रानडे इस बात को नहीं मानते। उन्होंने यह स्पष्ट करने का यत्न किया है कि दक्षिण पर मुसलमानों की चढ़ाई होने के पहले ही से वहाँ पर कुछ गुप्त कारण उपस्थित हो गये थे और उन्हीं का फल महाराष्ट्र-सत्ता थी। सह्याद्रि, सत-पुड़ा और विन्ध्याचल पर्वतों तथा उनकी शाखाओं के होने से महाराष्ट्र एक पहाड़ी देश मालूम होता है। पहाड़ी जल-वायु

के कारण वहाँ के लोग भी मज़बूत होते हैं। इसलिए उनको दूसरे राज्यों पर हमले करने की बड़ी अनुकूलता थी और जो उन पर चढ़ कर आते उन्हें लड़ाई में पीछे हटाने की भी उन्हें सुगमता थी। फिर देश की सीमा पर जो सुदृढ़ क़िले बने हुए थे उनकी सहायता से मुग़लों की फ़ौज को भी महाराष्ट्र सरदारों ने ख़ूब भिकाया था। एक तो वहाँ के लोग प्रकृति से ही सुदृढ़ और बहादुर हैं, फिर उत्तर के आर्य और दक्षिण के द्रविड़ लोगों के साथ उनका मिश्रण होने से दोनों जातियों के गुण भी उनमें आगये हैं। महाराष्ट्र लोगों के रीति-रिवाज भी आर्य लोग और द्रविड़ लोगों की रीतियों के मिश्रण से बने हुए हैं। इस कारण वे केवल धर्मान्धता या जातिद्रोह से लड़ने वाले नहीं हैं। उत्तर और दक्षिण में जो धर्म प्रचलित हैं उनकी धर्मान्धता और विरुद्धता महाराष्ट्र के धर्म में नहीं पाई जाती। और इस बात में, दूसरे देशों से महाराष्ट्र एक प्रकार अलग ही है। रानडे का कहना है कि बहादुर और बलवान् प्रजा की उत्पत्ति के लिए इस देश की प्राकृतिक रचना अनुकूल है इस कारण से, और वहाँ के लोगों की रीति, रिवाज, रहन सहन, के कारण, उनके मन में स्वराज्य प्राप्त करने और स्वतंत्र होने की प्रबल इच्छा हुई थी। इस वेगवती इच्छा के कारण, सिथियन लोगों को परास्त करने वाले शालिवाहन राजा के समय से कोई भी राज्यसत्ता वहाँ पर ठहर नहीं सकी थी। मुसलमानों के राज्यकाल में महाराष्ट्र लोगों ने मुल्की और फ़ौजी ऊँचे ऊँचे ओहदे प्राप्त

किये थे और राज्य-व्यवस्था की कला में निपुणता प्राप्त की थी। इससे मालूम होता है कि शिवाजी के जन्म से पहले ही महाराष्ट्र के लोग एक बड़े राज्य की स्थापना करने के लिए तैयार हो चुके थे। इससे लाभ उठा कार शिवाजी ने औरंगज़ेब के काल में प्रजा में ऐक्य फैला दिया; और मुसलमानों की धर्मान्धता से जो हिन्दू प्रजा भयभीत हो रही थी उसको इस प्रकार तैयार कर दिया कि वह मुसलमानों से लड़ कर उन्हें पीछे हटा सके। शिवाजी ने हिन्दुओं के सामान्य भय के कारण और उच्चहेतु से मराठी सत्ता के जो बिखरे हुए तत्त्व थे उनको इकट्ठा कर दिया और ऐसी देश-सेवा की जिसके लिए शिवाजी का सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता है।

तीसरे प्रकरण में रानडे ने यह बतलाया है कि मराठी-सत्ता का क्षेत्र जो इस प्रकार तैयार होचुका था उसमें बीज किस तरह बोया गया। जब शिवाजी देश में सर्वोपरिसत्ता प्राप्त करने के लिए लड़ाई के मैदान में उतरे, उस समय देश की राजकीय परिस्थिति कैसी थी—इस बात का रानडे ने वर्णन किया है। उस वर्णन से मालूम होता है कि चाँदबीबी ने अहमदनगर के राज्य को मुग़लों से बचाने का बड़ा प्रयत्न किया था परन्तु सन् १६३७ ई० में वह राज्य राजकीय रंगभूमि से निकल गया। बीजापुर की भी यही दशा होने वाली थी परन्तु उसने मुग़लों से लज्जाजनक वायदे कर लिये और इस तरह वह मुग़ल राज्य में मिलाये जाने से बच गया। गोलकुंडा की भी ऐसी ही स्थिति हो गई थी और

बरार तथा बेदर राज्य तो मुग़ल राज्य में शामिल कर ही लिये गये थे। पोर्चगीज़ लोगों की सत्ता बिलकुल निर्जीव हो गई थी। अँग्रेज़ों की सत्ता जो कि भविष्य में समस्त देश पर प्रभुत्व प्राप्त कर शान्ति, विद्या, सुव्यवस्था की वर्षा करने वाली थो वह अभी एक बिन्दु रूप में ही थी। अँग्रेज़ों ने एक कोठी व्यापार करने के लिए सूरत में बनाई थी और अब वह लोगों की नज़रों में आने लगी थी। यह स्थिति थी। शिवाजी को डूबते हुए बीजापुर राज्य से और महाबलवान मुग़ल राज्य से लड़ना पड़ा। पहले का मर्दन करने में तो शिवाजी को बड़ी मेहनत नहीं करनी पड़ी परन्तु दूसरे पर प्रभावयुक्त छाप जमाने के लिए और अपनी सामर्थ्य दिखाने के लिए शिवाजी को अपनी अविचल हिम्मत और विशाल मन:शक्ति आदि सब साधनों की आवश्यकता हुई थी। अन्त में शिवाजी अपनी धारणा अंशत: पूरी कर सके थे क्योंकि औरंगज़ेब को उन्हें राजा मानना पड़ा था। यह पराक्रम केवल शिवाजी की बहादुरी वा बुद्धि का ही फल नहीं था; प्रत्युत उनके शिक्षक कोंड़देव और गुरु रामदास की शिक्षा का तथा धर्म-रक्षा एवं प्रजा के उत्साह का फल था। शिवाजी इसे दैवीप्रेरणा का कारण बताते थे। इँग्लिस्तान का प्रतापी वीर ओलिवंर क्रामवेल शिवाजी का समकालीन था। उसने सन् १६४६ ई० से १६६० ई० तक विलायत में प्रजातंत्र की व्यवस्था कर दी थी और स्वयं उसका प्रधान था। जैसे क्रामवेल यह माना करता था कि अपने देश को राजा, और पोप की सत्ता से मुक्त करने के

लिए उसका जन्म हुआ है, उसी प्रकार शिवाजी का भी यही विश्वास था कि स्वधर्म-शत्रुओं का नाश कर धर्म की रक्षा के लिए और उसकी वृद्धि के लिए उनका जन्म हुआ है। उनको यही मालूम होता था कि देवी भवानी की प्रेरणा से ही उनको अपना कार्य सूझता है और उसी की कृपा से विजय-प्राप्ति होती है। यह दोनों महापुरुष अपनी महान् शक्ति से, अपने में और अपने अनुयायियों में जो धार्मिक उत्साह उत्पन्न हो गया था उसकी सहायता से, अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर सके थे।

इस प्रकार का, अपने जीवन का हेतु मान कर शिवाजी हर एक प्रसंग पर देवी-भवानी का ध्यान करके उससे आज्ञा लेते थे और फिर जिस काम को उठाते उसके लिए अपने प्राण तक अर्पण करने के लिए तैयार हो जाते थे। रोम के इतिहास-प्रसिद्ध होरेशस की वीर प्रतिज्ञा स्मरण हो आती है—

And how can man die better
Than facing fearful odds,
For the ashes of his fathers
And the temples of his gods ? (Macaulay).

भावार्थ—अपने पूर्वजों के स्मृति-चिह्न और देवालयों की रक्षा के लिए प्राण देने से बढ़ कर कौन सा आत्मोत्सर्ग हो सकता है ?

मालूम होता है कि शिवाजी की धार्मिक प्रवृत्ति बड़ी प्रबल थी

और उनके जीवन में वह तीन अवसरों पर ऐसी प्रदीप्त हुई थी कि, संसार से मुक्त हो अपना सर्वस्व त्याग कर, वे मोक्ष पाने के लिए तैयार हो गये थे। बड़ी कठिनाई से उनके गुरु और प्रधान ने उनको रोका; और संसार में रह कर अपना कर्त्तव्य पालन करने एवं कार्य सिद्ध करने का उनको उपदेश किया था। एक अवसर पर तो शिवाजी ने अपने गुरु रामदास * स्वामी को सब राज-चिह्न

---

* संध्या समय एक साधु हरिकथा कहता था। शिवाजी उसको बड़े ध्यान से सुन रहे थे। नारदमुनि ने ध्रुव को जो उपदेश किया था उसकी कथा आई। उसे सुन कर शिवाजी के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे किसी गुरु के चरण-कमल की तलाश करने के लिए बड़े उत्सुक हो उठे। उन्होंने सुना था कि रामदास स्वामी सतारा के आस पास घूमते रहते हैं और उन्होंने चाफल में एक मठ की स्थापना भी की है। परन्तु स्वामी महाराज को जङ्गलों में विचरना बहुत प्रिय था। इससे वे मठ में सदा नहीं मिलते थे। शिवाजी ने स्वामी के दर्शनार्थ प्रयत्न किया परन्तु बहुत दिनों तक दर्शन न हुए। फिर शिवाजी एक दिन चाफल गये। वहाँ स्वामी को न पाकर वे बहुत निराश हुए। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि स्वामी के दर्शन किये बिना हम अन्नजल ग्रहण नहीं करेंगे। दिन भर उपवास किया। रात को नींद में स्वामी महाराज को अपने आगे खड़ा देखा। यद्यपि शिवाजी ने स्वामी को कभी देखा नहीं था परन्तु जागने पर उन्होंने स्वामीजी का हुलिया ठीक ठीक बतला दिया। स्वप्न में स्वामी के चरण पर मस्तक रख कर शिवाजी हाथ जोड़ कर खड़े रहे। स्वामी ने उनको कलेजे से लगाया और उनके सिर पर अपना हाथ फेरा। उन्होंने आशीर्वाद दिया और निशानी के तौर पर एक नारियल भी दिया। फिर हिन्दू राजा और वीर योद्धा शिवाजी को, मुसलमानों से जो धर्म की हानि हो रही थी उसकी रक्षा के लिए, कर्त्तव्य की सूचना की। यह सूचना कर गुरु अदृश्य हो गये। शिवाजी आनन्द में

भेंट कर अपना राज्य उनके अधीन करना चाहा था। परन्तु भगवद्गीता में जैसे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया और संसार में ही रह कर अर्जुन से क्षात्र-धर्म पालने के लिए कहा था उसी प्रकार गुरु रामदास ने भी शिवाजी से फिर राज-चिह्न धारण करवाये और सांसारिक व्यवहार में उन्हें प्रवृत्त किया।

इस तरह विवेचन करते हुए रानडे ने इस प्रकरण को इस प्रकार समाप्त किया है कि अपनी जाति का मान भुलाने वाला

अश्रु-पूर्ण हो गये और आंख खुल गई। पास में कहीं गुरु के दर्शन तो न हुए; परन्तु गुरु का दिया हुआ नारियल प्रत्यक्ष उनके हाथ में था। अब तो शिवाजी गुरु के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए बड़े उत्कंठित हुए और बड़े उत्साह से चल पड़े। जगह जगह भटकते हुए आख़िर वाई में उनको स्वामी महाराज के पास से एक पत्र मिला। यह पत्र अब भी सुरक्षित है। उसमें बड़ी हँसी और दिल्लगी की बातें हैं। शिवाजी ने उत्तर में अपना प्रार्थनापत्र भेजा और यह समझ कर, कि स्वामी के दर्शन होंगे, स्वयं चाफल को गये। वहाँ मालूम हुआ कि स्वामीजी शिङ्गणवाड़ी में मारुति के मन्दिर में हैं; और यह भी मालूम हुआ कि शिवाजी का पत्र पहुँचाने के लिए कल्याणगोसाईं भी वहीं गया है। रामदास स्वामी के जो शिष्य मठ में रहते थे उन्होंने मध्याह्न होने के कारण शिवाजी से भोजन करने के लिए कहा; परन्तु उन्होंने कहा कि मैं मन्त्रोपदेश का अभिलाषी हूँ और आज गुरुवार है, इसलिए उपवास करूँगा। शिवाजी वहाँ से भी चल पड़े। अन्त में एक बाग़ में उनको स्वामीजी के दर्शन हुए। वहाँ उन्होंने बड़ी नम्रता से उपदेश के लिए प्रार्थना की। कल्याणगोसाईं ने भी सिफ़ारिश की कि शिवाजी मन्त्रोपदेश के पात्र हैं। तब गुरु ने मङ्गलवार की रात्रि को जो नारियल दिया था उसका स्मरण कराया। शिवाजी ने आतुर होकर नमन किया और कहा कि वह बात तो सत्य है परन्तु मुझे मुँह माँगा वरदान दीजिए। भक्ति-भाव से गुरु प्रसन्न हुए। उन्होंने उनको दीक्षा दी और शिष्य बनाया।

धर्म का आवेश, दैवी शक्ति की प्रेरणा पर विश्वास और उससे उत्पन्न हुई साहसिक वृत्ति, चुम्बक की तरह आकर्षित करने वाली ऐक्य-बुद्धि, विरल-समय-सूचकता, सङ्कल्प की दृढ़ता, चालाकी और युक्ति की सूझ, शुद्ध स्वदेशाभिमान और दयायुक्त न्याय-बुद्धि आदि साधनाओं ने शिवाजी को एक ऐसी सत्ता का बीज-पवन करने के लिए सामर्थ्यवान् किया था कि जिस सत्ता को प्राप्त कर शिवाजी की सब योजनाएँ उनके वंशज सिद्ध कर सके थे। इस प्रकार हिन्दुस्तान के इतिहास में इन्होंने एक महत्त्व का अध्याय बढ़ाया है।

चौथे प्रकरण में इस बात का वर्णन है कि शिवाजी का बोया हुआ बीज किस तरह उग निकला। भाग्य-वश, क्षेत्र उत्तम होने से अल्प समय में ही बीज उग निकला। शिवाजी के सहायक उत्तम शक्ति-प्राप्त मनुष्य थे। उनके जीवन का यथावत् वर्णन इस प्रकरण में दिया हुआ है। शिवाजी की माता जीजाबाई बड़ी कुशल स्त्री थीं और अपने पुत्र को निराशा के समय उत्साहित कर कार्य में प्रवृत्त होने के लिए तैयार करती थीं। शिवाजी के गुरु दादाजी कोंडदेव ने बाल्यावस्था में उनको शिक्षा दी थी और उनकी उच्छृङ्खल वृत्ति का दमन कर उनको उत्तम कार्य में लगाया था। रानडे ने इन दोनों (माता और गुरु) का भी हाल दिया है। शिवाजी ने मावली, ब्राह्मण और परभू जाति के लोगों में से अपने सहायक छाँट निकाले थे। राज्य-प्रबन्ध और सेना-विभाग में ये लोग शिवाजी की सेवा करते थे। शिवाजी

को इन पर पूर्णविश्वास था । ज्यूलियस सीज़र, नेपोलियन बोनापार्ट और लार्ड क्लाइव जैसे वीर पुरुषों की तरह शिवाजी अपने दृष्टान्त से अनुयायी पर विचित्र प्रभाव डाल सकते थे, जिसके कारण लोग अपने प्राण का भय भूल कर चाहे जिस काम को करने के लिए तैयार हो जाते थे ।

सन् १६४६ ईसवी में, केवल १९ वर्ष की अवस्था में, शिवाजी ने तोर्ना (तोरण) का क़िला जीता था तबसे जो जो पराक्रम किये उनका वर्णन पाँचवें और छठे प्रकरण में दिया है । रानडे ने ३४ वर्ष के कार्य-काल के चार विभाग किये हैं । पहला विभाग सन् १६४६-१६५२ ईसवी का है । इन छः वर्षों में शिवाजी ने जो डुंगरी के क़िले सर किये थे, उनका हाल दिया है । दूसरा १६५३-१६६२ ईसवी तक का है । इन दस वर्षों में बीजापुर से शिवाजी को लड़ाई जारी रखनी पड़ी थी । इस विभाग में उन सब का विस्तार से वर्णन किया गया है । अगले विभाग में सन् १६६२-१६७४ ईसवी तक का हाल दिया हुआ है । यह वह बारह वर्ष हैं जिनमें बीजापुर से जीतने के बाद शिवाजी ने तैयारी करके मुग़ल बादशाहों से लड़ाई ठानी थी । चौथे विभाग का आरम्भ उस समय से होता है जब शिवाजी ने मुग़लों पर विजय प्राप्त कर अपना राज्याभिषेक किया था और मुग़ल बादशाह को भी उन्हें महाराष्ट्र का राजा मानना पड़ा था । इसमें उन लड़ाइयों का भी संक्षिप्त वर्णन है जो शिवाजी को अपने अन्तकाल तक के छः वर्षों में लड़नी पड़ी थीं ।

इन विभागों में दूसरा और तीसरा विभाग बड़े महत्त्व का है और दोनों बड़ी हृदयभेदक वार्ताओं से भरपूर हैं। रानडे ने भी इनका बड़ा मर्म-स्पर्शी वर्णन किया है। बीजापुर के सरदार अफ़ज़लख़ाँ वाली घटना सुप्रसिद्ध ही है। मुसलमान और अँगरेज़ लेखक तो विश्वासघात का दोष शिवाजी को लगाते हैं परन्तु रानडे ने शिवाजी पर से यह आरोप हटाने का सफल प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है:—शिवाजी को यह ख़याल हो गया था कि करनाटक की लड़ाई में अफ़ज़लख़ाँ शाहजी के दुश्मनों से मिल गया था और उसने शिवाजी के बड़े भाई को मरवाया था। दूसरे यह कि अफ़ज़लख़ाँ ने बीजापुर के दरबार में सबके सामने शिवाजी को 'पहाड़ी चूहा' कहा था; और उसने इस बात का बीड़ा उठाया था कि वह शिवाजी को जीता, या मार कर कैसे ही, अवश्य पकड़ेगा। उसने बहुत से मन्दिरों को तोड़ा था और उनकी मूर्तियों को खण्डित किया था। इन कारणों से दोनों ओर ख़ूब जोश बढ़ा हुआ था। इस अवसर पर, शिवाजी ने पहले तो यह प्रयत्न करना चाहा था कि अफ़ज़लख़ाँ को हरा कर पीछे हटाया जाय; परन्तु ऐसा करने के पहले उन्होंने भवानी का स्मरण किया और फिर देवी की सूचना के अनुसार अफ़ज़ल ख़ाँ से सुलह कर मुलाक़ात करने का निश्चय किया। अफ़ज़लख़ाँ यह चाहता ही था कि किसी तरह शिवाजी को क़िले में से बाहर निकाल कर क़ैद कर लूँ। इसलिए उसने शिवाजी से अकेले मिलने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मुसलमान इतिहासकारों

का कहना है कि शिवाजी ने अपने 'वाघनख' और 'भवानी' तलवार से पहले हमला किया; परन्तु मराठी इतिहासकार, सभासद और चिटनीस दोनों ही यह लिखते हैं कि पहले अफ़ज़लख़ाँ ने बाँएँ हाथ से शिवाजी का गला दबाया था और उनको खींच कर दबा लिया था। तब, विश्वासघात होता देख कर, शिवाजी ने वार किया था। ऐसा कहा जाता है कि इस तरह विश्वासघात करना उस समय साधारण बात थी और अफ़ज़लख़ाँ तथा शिवाजी दोनों ही के मन में इसकी शङ्का थी। परन्तु ऐसा जान कर भी उन्होंने मिलना तय किया था। शिवाजी को यह शङ्का होने के कितने ही कारण थे। अपने भाई के मरने का, और देवालयों के खण्डित करने का बदला लेना था। वह यह भी जानते थे कि बारह वर्ष का किया हुआ सब काम इसके बिना चौपट हो जायगा और अफ़ज़लख़ाँ से लड़ कर जीतना आसान नहीं था। युक्ति से अपना काम निकाल लेने के लिए शिवाजी के पास सबल कारण थे। अफ़ज़लख़ाँ को मारने के बाद शिवाजी ने एक दम उसकी फ़ौज पर हमला कर दिया और उसको तितर बितर कर दिया। इससे यह बात मालूम होती है कि शिवाजी ने पहले से यह योजना कर रक्खी थी। शङ्का दोनों ही ओर से थी जिसने असावधानी की, उसे बुरा फल भोगना पड़ा। शिवाजी की तरह अफ़ज़लख़ाँ तैयार नहीं था परन्तु अनिष्ट करने की इच्छा दोनों ओर से थी।

जो हो, और यदि यह भी मान लिया जाय कि शिवाजी

ने जान बूझ कर विश्वासघात किया तो उनके हेतुओं से और ऊपर लिखे हुए कारणों से यह नहीं कहा जा सकता कि शिवा जी ने उस समय की नीति के अनुसार कोई बुरा काम किया। उस समय की नीति को समझने के लिए यह भी ध्यान रखना चाहिए कि औरङ्गज़ेब ने मित्र भाव से बुला कर शिवाजी को क़ैद कर लिया था।

तीसरे प्रकरण में शिवाजी और औरङ्गज़ेब की लड़ाइयाँ, शिवाजी और उनके पुत्र सम्भाजी का निमन्त्रित हो दिल्ली जाकर वहाँ क़ैद होना, इन सब बातों का वर्णन किया गया है। आगे चल कर विस्तार से यह भी वर्णन किया गया है कि शिवाजी दिल्ली से किस प्रकार छूटे; और फिर औरङ्गज़ेब ने उनको राजा मान कर सम्भाजी को, पाँच हज़ार सवारों का सरदार बनाया। यह करके भी उसने फिर शिवाजी से लड़ाई ठानी जिस पर उन्होंने दूसरी बार सूरत को लूटा और बरार तथा खानदेश से चौथ वसूल कर विजय प्राप्त की। चौथे प्रकरण में शिवाजी के राज्याभिषेक का हाल है और राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए जो योजनाएँ और सुधार किये गये थे उनका वर्णन करते हुए उन लड़ाइयों का भी हाल दिया है जो बीजापुर और गोलकुण्डा को मुग़लों के विरुद्ध मदद देकर लड़नी पड़ी थीं।

रानडे ने अपनी पुस्तक के सातवें प्रकरण में शिवाजी की राजकीय व्यवस्था का वर्णन किया है। उसके पढ़ने से मालूम

होता है कि शिवाजी केवल एक वीर योधा ही नहीं थे, बल्कि नेपोलियन की तरह चतुर राजकर्त्ता भी थे। उन्होंने समयानुकूल व्यवस्था करके प्रजा के हित के लिए क़ानून बना दिये थे। इस व्यवस्था का निरादर करने से ही उनके वंशजों का अधःपतन हुआ। उत्तर में नासिक से लेकर मैसूर तक और इधर समुद्रतट से लेकर मद्रास तक प्रदेश को ज़िलों में बाँट दिया था। हर एक ज़िले में सौ रुपये माहवार का सूबेदार रक्खा गया था; और सूबेदार की मातहती में दो, तीन महालकारी रक्खे गये थे। उनसे नीचे दो दो तीन तीन गाँवों के लिए अलग आदमी रक्खे गये थे। यह सब मालगुज़ारी वसूल करते थे और अपने इलाक़े का प्रबन्ध करते थे। इन सब के ऊपर 'पंतअमात्य' अर्थात् मालगुज़ारी महकमे का प्रधान और 'पंत-सचिव' हिसाब-खाते का प्रधान, रहते थे। यह दोनों प्रधान, पेशवा, मुख्यप्रधान, सेनापति, सुमंत अर्थात् विदेश-विभाग के सचिव, मन्त्री अर्थात् गृहविभाग के सचिव, धर्मविभाग के पण्डितराव, और मुख्य न्यायाधीश—इस प्रकार आठ आदमियों की शिवाजी ने "अष्ट-प्रधान-मण्डली" बनाई थी। सब कार्य इनकी सलाह से होता था। पण्डितराव और न्यायाधीश को छोड़ कर सब को अवसर पड़ने पर सेना में भी काम करना पड़ता था। यह उच्च पद वंशपरंपरा के लिए नहीं दिये गये थे। कोई जगह ख़ाली होती तो योग्य आदमी को दी जाती थी।

मराठी इतिहासकार लिखते हैं कि शिवाजी के पास लग-

भग २८० क़िले थे। हर एक क़िले में एक एक ब्राह्मण, परभू और मराठा रक्खा जाता था जिससे कि किसी को असन्तोष न हो और एक दूसरे का अंकुश भी रहे। मराठा 'हवलदार' होता था और वही सेना का अफ़सर होता था। ब्राह्मण 'सूबेदार' या 'सबनीस' होकर मालगुज़ारी का काम करता था और न्याय का भी काम करता था। परभू 'कारखनीस' कहलाता था। उसके पास सेना का सामान रहता था और वह अनाज के भण्डार को रखता था।

शिवाजी ने सेना-विभाग की योजना भी नियम से की थी। सब अफ़सरों और सिपाहियों को निश्चित तनख़्वाह मिलती थी। उनसे आठ महीने काम लिया जाता था और इसी बीच में मुग़ल राज्य में से वसूल करने का काम भी उन्हें करना पड़ता था। शिवाजी के समय में, कारगुज़ारी दिखलाने पर, किसी को जागीर नहीं दी जाती थी।

रानडे ने शिवाजी की राज्यव्यवस्था की तुलना उनसे पहले जो व्यवस्था थी उससे की है। उनमें जो भेद था वह नीचे लिखा जाता है।

(१) शिवाजी के समय में पहाड़ी क़िले बड़े काम के समझे जाते थे और वही राज्य-व्यवस्था के मूल थे।

(२) राज्य के ऊँचे पद वंश-परम्परा के लिए नहीं दिये जाते थे।

(३) राज्य-सेवा के बदले में जागीर देना बन्द किया गया था।

(४) ज़मींदारों के बिना, सीधी काश्तकारों से माल-गुज़ारी वसूल की जाती थी।

(५) गिने हुए वर्षों के लिए खेत काश्तकारों को नहीं उठाये जाते थे।

(६) प्रधान मंडली की स्थापना की गई थी जिसका प्रत्येक प्रधान राजा और प्रधान मंडली के समक्ष उत्तर-दाता था।

(७) सैनिक विभाग।

(८) ऊँचे नीचे सब पदों पर हर जाति के मनुष्य रक्खे जाते थे।

आठवें प्रकरण में शिवाजी के धर्मगुरु रामदास स्वामी ने उनके पुत्र सम्भाजी को जो उपदेश किया था उसका वर्णन है और जो धार्मिक हलचल मच गई थी तथा जो अनेक साधु संत उत्पन्न हुए थे उनका भी हाल दिया गया है। तुकाराम और रामदास के होने से शिवाजी के राज्य की कीर्त्ति में विशेषता आ गई है। शिवाजी का समय केवल इसी लिए प्रसिद्ध नहीं है कि प्रजा में जोश फैल गया था और संग्रामों में विजय प्राप्त हुई थीं बल्कि इस लिए भी प्रसिद्ध है कि प्रजा में एक प्रकार की जागृति उत्पन्न हो गई थी तथा धार्मिक और राज्य-कीय विषयों में भी बड़ा फेर फार हुआ था जिसके कारण

मराठी साहित्य पर एक नया प्रकाश पड़ा और उसकी अच्छी उन्नति हुई थी। रानडे ने 'हिन्दुओं का प्रोटेस्टेंट धर्म' नामक लेख में कहा है कि इन साधु सन्तों ने संस्कृत भाषा का व्यवहार छोड़ कर मराठी का उपयोग किया। इन्होंने साधारण जनों के समझने के लिए इसी बोल चाल की भाषा में भजन बनाये; रामायण, महाभारत, और भगवद्गीता आदि ग्रन्थों के अनुवाद किये, तथा नवीन ग्रन्थ भी लिखे। यह महात्मा लोग केवल ब्राह्मण जाति के ही नहीं थे। इनमें शूद्र, माली, कुम्हार, सुनार, चमार और महार आदि नीच जाति के स्त्री और पुरुष शामिल थे। इनमें बहुत से जाति के मुसलमान भी थे परन्तु वे हिन्दू धर्म का पालन करते थे। इनके वंशज अब भी हिन्दू-धर्म के अनुयायी हैं और अहमदनगर ज़िले में पाये जाते हैं। यह महात्मा लोग प्राचीन रीति रिवाज और जाति-पाँति के विरोधी थे। उनका विश्वास और उपदेश यह था कि ईश्वर में श्रद्धा रखने से और भक्ति करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है; ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्य समान हैं; बिना समझे धर्म-क्रिया करने की अपेक्षा पवित्र जीवन व्यतीत करना उत्तम है। रानडे ने इन साधुओं का जो विवरण दिया है वह बड़ा रसपूर्ण और पढ़ने योग्य है। उससे बहुत सी नई नई बातें मालूम होती हैं। यूरुप के इतिहासकार और अन्य देशी इतिहासकार इस बात को अच्छी तरह नहीं समझे थे कि शिवाजी की 'राजकीय हलचल का धार्मिक हलचल से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध' था; और 'एक को

दूसरी पर बड़ा भारी असर' पड़ा था। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि रामदास को शिवाजी ने अपना गुरु बनाया था और वे तुकाराम के भजन सुनने के लिए सदा उपस्थित रहते थे। रानडे का यह कहना है कि रामदास के 'महाराष्ट्र धर्म' की हलचल किसी एक मनुष्य की गति से या एक ही शताब्दी में नहीं उत्पन्न हो गई थी। इस हलचल के लक्षणों का वर्णन करते हुए रानडे ने महाराष्ट्र के महात्माओं की तुलना यूरुप के प्रोटेस्टेन्ट सुधारकों से की है।

नवें प्रकरण में शिवाजी की मृत्यु के बाद का हाल है। उसमें ये सब बातें विस्तार से वर्णित हैं। शिवाजी के पुत्र सम्भाजी ने गद्दी पर बैठ कर अपना चाल चलन और ढँग कैसा रक्खा। उसको मरवा कर औरङ्गज़ेब ने उसके लड़के को रायगढ़ से पकड़ कर किस प्रकार क़ैद किया; फिर शिवाजी के छोटे पुत्र राजाराम की सरदारी में महाराष्ट्रों ने मुग़लों से लड़ने की कैसी योजना की और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए वे बीस वर्ष तक मुग़लों से लड़ते रहे तथा अन्त में मुसलमानों को कैसा हैरान किया। सम्भाजी को मरवा कर औरङ्गज़ेब को शान्ति तो मिली नहीं, उलटा यह हुआ कि जोशीले मराठों से उसे युद्ध करना पड़ा जिसके लिए उसको अन्त समय बड़ा पछताना पड़ा। रानडे ने लिखा है—"धन, सेना, क़िले और साधनों के विना ही उन्होंने सेना तैयार करने की, क़िले जीतने की तथा अपना स्वराज्य प्राप्त करने की ऐसी योजना की थी कि केवल राज्य ही

नहीं पाया बल्कि दक्षिण और करनाटक में चौथ और सरदेश मुखी वसूल करने का स्वत्व भी ले लिया।"

दसवें प्रकरण में उस राज्य-प्रबन्ध का हाल है जो लड़ाई समाप्त होने पर और बीस वर्ष में विजय प्राप्त करने पर, मराठा सरदारों ने किया था। अगले प्रकरण में यह बतलाया गया है कि मराठों ने लगभग समस्त हिन्दुस्तान से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का जो प्रयत्न किया था उसमें उन्हें कैसी सफलता हुई बारहवें प्रकरण में शिवाजी के छोटे भाई का और उनके वंशजों के तंजोर-राज्य का वर्णन किया गया है। मराठों ने जो धार्मिक और सांसारिक उन्नति की थी उसका हाल इतिहासों में से छाँट कर जस्टिस तैलंग ने लिखा था रानडे ने अपनी पुस्तक के अन्त में वही दे दिया है इसका कारण यह है कि तैलङ्ग और रानडे दोनों साथ मिल कर महाराष्ट्र का इतिहास लिखना चाहते थे, परन्तु यह हो न सका। दुर्भाग्यवश तैलङ्ग का पूर्ण युवावस्था में ही देहान्त हो गया तब रानडे ने अकेले ही यह पुस्तक लिखी, और वह भी इस भाव से कि उनके मृत मित्र के सौंपे हुए भार की तरह। इसी लिए यह अन्तिम प्रकरण तैलङ्ग का स्मृतिरूप है। प्रस्तावना में रानडे ने अपने दुःखी मन की ओर इशारा भी किया है।

कार्लाइल ने क्रामवैल की जैसी सेवा की है वैसी ही रानडे ने शिवाजी की, की है। शिवाजी जैसे वीरपुरुष पर मुसलमान इतिहासकारों ने बड़े आक्षेप किये हैं और बहुत सी निर्मूल बातें

लिख दी हैं । अँग्रेज़ इतिहासकारों ने भी, उनके अनुयायी होकर, बहुत सी बातें आँख बन्द कर लिख मारी हैं । इन द्वेष-युक्त आक्षेपों को दूर करने का रानडे ने पूरा पूरा प्रयत्न किया है । रानडे ने शिवाजी का चित्रवत् वर्णन किया है । नेपोलियन के के समान वीर, स्वदेशाभिमानी, हिम्मतवर, कुशल सेनापति दूर-दर्शी राज्य-व्यवस्थापक और योजक जैसे शिवाजी थे वैसा ही उनका हाल लिखा है । और चाहे उन्हें शिक्षा भली भाँति भले न मिली हो, परन्तु वह क्रूर वा आचार भ्रष्ट तो कदापि नहीं थे; यह स्पष्ट दिखलाया है । रानडे के महाराष्ट्र-इतिहास की पहिली पुस्तक की विद्वान् और समाचारपत्रों ने अच्छी प्रशंसा की है । विद्या-विभाग की ओर से यह पुस्तकालयों में रक्खी जाती है और बम्बई यूनिवर्सिटी की एम० ए० परीक्षा के लिए इतिहास की अन्य पुस्तकों के साथ यह भी रक्खी गई है । एक देशी इतिहासकार के लिए यह बात कुछ थोड़े महत्त्व की नहीं है । यह अत्यन्त खेद का विषय है कि रानडे इस पुस्तक को पूरा न कर सके । पहला भाग, इनके मरने से थोड़े दिन पहले, प्रकाशित हो सका । यदि यह और कुछ काल तक जीवित रहते तो पेशवाओं की दिनचर्य्या तथा उस ऐतिहासिक सामग्री से पुस्तक को समाप्त कर जाते जो उन्होंने बड़े श्रम से अध्ययन कर एकत्र की थी । उन्होंने दूसरे भाग के दो एक प्रकरण लिखे हैं । आशा है, कोई विद्वान् इस कार्य्य को समाप्त करेगा ।

रानडे को इतिहास और अर्थशास्त्र की पुस्तकें पढ़ने का

बड़ा चाव था। इन विषयों का अध्ययन कर उन्होंने बड़ा ज्ञान सम्पादन किया था। उनके इतिहास-सम्बन्धी ज्ञान का फल-रूप 'मराठी सत्ता का उदय' है। अर्थ-शास्त्र की एक पुस्तक उन्होंने सन् १८६६ ईसवी में प्रकाशित की थी। इसमें बारह निबंध हैं। यह पुस्तक है 'हिन्दुस्तान का अर्थशास्त्र'। इस पुस्तक के देखने से मालूम होता है कि वे अपने समकालीन अर्थशास्त्रज्ञों में कैसा ऊँचा स्थान रखते थे। हिन्दुस्तान में टैक्स और धरती के कर के बारे में उनको इतना ज्ञान था जो शायद ही किसी दूसरे को हो। सन् १८६२ ई० में रानडे ने 'हिन्दुस्तान का अर्थशास्त्र' नामक निबन्ध डेकन कालिज में पढ़ा था। उसीसे यह पुस्तक आरम्भ होती है। पुस्तक के प्रकाशकों ने प्रस्तावना में लिखा है कि यह निबन्ध पुस्तक की कुंजी है। उसके पढ़ने से उनके मुख्य उद्देश मालूम होते हैं और अनेक विषयों पर सरलता से लेख लिखने की शक्ति और अर्थशास्त्र की जुदी जुदी शाखाओं का विशाल ज्ञान, सहज में मालूम हो जाता है। इन निबन्धों में से रानडे ने कितने ही स्वयं स्थापित औद्योगिक कान्फ़रेन्स में पढ़े थे और कुछ सार्वजनिक सभा के पत्र में प्रकाशित हुए थे। इस पुस्तक के पढ़ने से मालूम हो जाता है कि रानडे के विचार कैसे विवेकयुक्त, प्रौढ़ और माननीय थे। सभी प्रसिद्ध समाचारपत्रों ने इसकी प्रशंसा की थी। लन्दन के 'टाइम्स' पत्र ने लिखा था "इस पुस्तक में ऐसी योजना है जिस पर हिन्दुस्तान की प्रजा का आधार है"। 'टाइम्स आफ़ इन्डिया', 'बम्बई गज़ट,'

'पायोनियर', 'मद्रास मेल' आदि पत्रों ने भी अच्छी सम्मति प्रकट की थी। बम्बई प्रान्त के विद्याविभाग के अफ़सर ने उस वर्ष में प्रकाशित हुई पुस्तकों की रिपोर्ट में हिन्दुस्तान के अर्थ-शास्त्र के सम्बन्ध में लिखा था:—"रानडे की पुस्तक राजनीति के उच्च ज्ञान, प्रामाणिकता और निष्पक्षता के लिए भारतवर्ष के राजनीतिज्ञों को एक आदर्शरूप है"। यह पुस्तक भी सरकारी मदरसों के पुस्तकालयों में रखने के लिए मंज़ूर हुई है।

सन् १८६९ ईसवी में रानडे और विष्णु शास्त्री पंडित के आगे पड़ने से एक विधवा का विवाह हुआ था। उस पर जो वादविवाद हुआ था उसके जवाब में रानडे ने 'हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह में शास्त्रीय प्रमाण' नामक लेख लिखा था। यह सन् १८७० ईसवी में प्रकाशित हुआ था और फिर मि० दयाराम गीदूमल की 'हिन्दुस्तान की स्त्रियों की स्थिति' नामक पुस्तक में जोड़ दिया गया था। इस लेख में दिखलाया गया है कि कलियुग में माननीय पराशर-स्मृति में विधवा-विवाह के लिए आज्ञा दी हुई है और दूसरी स्मृतियों का भी यदि उदार वृत्ति से अर्थ किया जाय तो उनमें भी निषेध नहीं है।

इसके अतिरिक्त रानडे ने समय समय पर बहुत से निबन्ध और लेख लिखे थे। बम्बई प्रान्त में दीवानी कचहरी, और उन में जो न्याय होता है उसका सन् १८७१ ईसवी में एक लेख में विवेचन किया था और इसी तरह फ़ौजदारी अदालतों का भी किया था और उसमें सुधार की आवश्यकता बतलाई थी। एक

अति उत्तम लेख में ईश्वरवाद का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने प्रार्थना-समाज के सिद्धान्त बताये हैं। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन पर भी एक निबन्ध लिखा था जिसमें सरकारी आमदनी-विभाग का ऐसा अच्छा विवरण दिया है कि उसके प्रकाशित होने पर सब समाचारपत्रों ने उसकी प्रशंसा की थी। कलकत्ते के 'इंगिलिश-मैन' ने लिखा था कि सरकार की आमदनी के बारे में जो लोग कुछ जानना चाहते हों उनके लिए यह निबन्ध बहुत उपयोगी है। 'हिन्दू पेट्रिअट,' 'टाइम्स आफ़ इंडिया' आदि अन्य समाचारपत्रों ने भी उसकी प्रशंसा की थी।

आपने हिन्दुस्तान के व्यापार-विषय में दो व्याख्यान मराठी में दिये थे और 'मराठी साहित्य का अवलोकन' तथा विष्णु शास्त्री का संक्षिप्त जीवनचरित्र भी लिखा था। अब यह अप्राप्य हो गये हैं। रानडे ने जो सेवा बम्बई-विश्वविद्यालय की की थी उसका भी थोड़ा सा वर्णन किया जाता है। सन् १८६५ ईसवी में रानडे 'फ़ेलो' बनाये गये थे परन्तु नौकरी के कारण उन्हें बम्बई से बाहर रहना पड़ता था, अतः पहले ये विश्वविद्यालय का विशेष काम नहीं कर सके। जब सन् १८९३ ईसवी में, हाईकोर्ट के जज होकर ये बम्बई में आ गये तबसे उनको, इसका अवसर मिलने लगा। बम्बई में आ जाने पर उनको प्रायः इनाम बाँटने के लिए विद्यालयों में जाना पड़ता था और अनेक विद्या-सम्बधी सभाओं में प्रमुख का स्थान ग्रहण करना पड़ता था। इन सब अवसरों पर यथाशक्ति उपस्थित होकर और विद्या के प्रचार

में सहायता करते हुए वे बम्बई की यूनिवर्सिटी में भी बड़े उत्साह से काम करते थे और उसके कार्य में भाग लेते थे । इस सम्बन्ध में महत्त्व के प्रश्नों पर उनकी सलाह अवश्य ली जाती थी । यदि कोई प्रार्थनापत्र या योजना सरकार के सम्मुख उपस्थित की जाती थी तो सबकी ओर से उसके लिखने या सुधारने का काम रानडे को दिया जाता था । सन् १८९८ ईसवी में 'लाफ़ेकल्टी' के वह 'डीन' बनाये गये थे । यह पहला अवसर था जब एक देशी सज्जन को यह सन्मान प्राप्त हुआ था । उन्होंने यूनिवर्सिटी के लिए जो काम किये थे उनमें से एक दो का हाल यहाँ लिखा जाता है ।

यूनिवर्सिटी के अभ्यास-क्रम में स्वदेशी भाषा को स्थान दिलाने के लिए उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया था । सन् १८५९ ईसवी में यूनिवर्सिटी की ओर से परीक्षा लेने का कार्य प्रारम्भ किया गया । उस समय देशी भाषा भी अँगरेज़ी के साथ पढ़ाई जाती थी और उसमें परीक्षा होती थी । परन्तु सन् १८७० ईसवी से, सर अलेक्ज़ेन्डर ग्रान्ट जैसे लोगों की राय से, और उनकी राय प्रबल होने से देशी भाषा का कालिजों में पढ़ाया जाना बन्द हो गया । सर रेमन्डवेस्ट और डा० विलसन जैसे लोगों ने इसका विरोध भी किया पर इनकी कुछ न चली । जब देशी भाषा का पढ़ना पढ़ाना बन्द हो गया तो अँगरेज़ी के विद्यार्थी भी उसकी ओर से उदासीन हो गये और यह दशा हो गई कि अँगरेज़ी के लिखने पढ़ने में तो वे लोग पूर्ण योग्यता प्राप्त कर

लेते थे परन्तु अपनी मातृभाषा में लिखना उनको आता ही न था। जिन लोगों से यह आशा की जाती थी कि वे अपनी भाषा की उन्नति करेंगे उन्हें लिखना तक नहीं आता था और न उनके लिखे लेख या पुस्तकें ही देखने में आती थीं! पाश्चात्य भाषाओं से, अपने साहित्य की उन्नति करने के बजाय उलटी यह दशा हो गई। और यह एक सामान्य बात समझी जाने लगी कि अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग अपनी भाषा नहीं जानते। इस कारण, लोगों को यह आवश्यक मालूम हुआ कि देशी भाषाओं को कालेज के अभ्यास-क्रम में स्थान देना चाहिए। सन् १८९३ ईसवी में देशी भाषाओं की उन्नति के विषय में एक पत्र बम्बई सरकार के पास भेजा गया था और उसमें इस बात की बड़ी आवश्यकता दिखलाई गई थी कि अभ्यास-क्रम में उनको स्थान देना चाहिए। इसका प्रबन्ध करने के लिए सीनेट से दो बार प्रार्थना की गई कि एफ़० ए० की परीक्षा में विद्यार्थी से देशी भाषा में भी एक निबन्ध लिखाना चाहिए। परन्तु इस समझ से यह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ कि विद्यार्थी को यह विशेष भार होगा और उसके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ेगा। दो तीन बार प्रयत्न निष्फल गया परन्तु रानडे ने इसका पीछा नहीं छोड़ा और अन्त में उनका कार्य बहुत अंशों में सफल हो गया। पहले उन्होंने ५४ फ़ेलों को अपने पक्ष में कर लिया और फिर उनके हस्ताक्षरों के साथ इस आशय का एक प्रार्थनापत्र 'सिन्डिकेट' के सन्मुख उपस्थित किया कि बी० ए०, एम० ए० की परीक्षा

में ऐच्छिक विषयों में देशी भाषाओं को भी स्थान दिया जाय। जिस समय इस प्रश्न पर सम्मति ली गई तो दोनों पक्षों में बराबर निकली। अध्यक्ष ने विपक्ष में राय दी और इस प्रकार उस समय यह प्रस्ताव रद्द हो गया। उस समय रानडे ने कहा था कि जैसे आयरलैंड को स्वराज्य मिलने का प्रश्न पारलिमेंट में बार बार आता है, उसी प्रकार यह प्रश्न भी फिर 'सिन्डिकेट' में उठाया जावेगा। अन्त में 'सिनेट' ने यह कहा कि यदि ख़ाली एम० ए० की परीक्षा में देशी भाषा को स्थान देने के लिए कहा जायगा तो इस पर विचार किया जायगा। इस पर रानडे ने एक लेख मराठी भाषा की उन्नति पर लिखा। उसमें उन्होंने यह दिखलाया कि मराठी एक प्रौढ़ और संस्कृत भाषा है जिसमें गद्य-पद्यमय उत्तम पुस्तकों की कमी नहीं है। फिर रानडे की सूचना पर 'सिन्डिकेट' ने एक कमिटी क़ायम की और उससे एम० ए० की परीक्षा में देशी भाषा को स्थान दिये जाने के बारे में रिपोर्ट माँगी। कमिटी में तीन सज्जन थे डा० मैकिन, सर फ़ीरोज़शाह मेहता और रानडे। कमिटी ने पूर्णविचार करके देशी भाषाओं को सम्मिलित करने के पक्ष में राय दी और अपनी रिपोर्ट को 'सिन्डिकेट' के पास भेज दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह रिपोर्ट रानडे की ही लिखी हुई थी। उसमें उन्होंने बताया था कि देशी भाषाएँ सजीव भाषाएँ हैं और अँगरेज़ी भाषा के साहित्य की सहायता से उनकी बहुत उन्नति हो सकती है तथा उनमें सुधार भी हो सकता है। देशी भाषा के लिए

रानडे ने जो आन्दोलन किया था उसमें इस रिपोर्ट का लिखा जाना अन्तिम प्रयत्न था। क्योंकि रिपोर्ट स्वीकृत होने के पहले ही रानडे की मृत्यु हो गई। सिनेट ने रिपोर्ट को एक स्वर से स्वीकार किया और गुजराती तथा मराठी के साथ साथ कनाडी भाषा भी अभ्यास-क्रम में बढ़ाई गई। सरकार से अनुमति मिलने पर 'सिनेट' का प्रस्ताव पास हो गया और इस तरह रानडे का प्रयत्न सफल हुआ। आशा है कि देशी भाषाओं को और ऊँचा स्थान देकर उसके प्रचार के लिए कोई फ़ेलो अब भी प्रयत्न करेंगे और रानडे के अनुगामी होंगे।

दूसरा सुधार जो रानडे करना चाहते थे वह यह था कि परीक्षाएँ एक एक विषय में अलग अलग हुआ करें; और यदि एक विद्यार्थी किसी विषय में तो पास हो गया हो और किसी में पास न हुआ हो तो उसको फिर हर एक विषयों में परीक्षा न देनी पड़े—केवल उसी विषय में परीक्षा हो जिसमें वह पास न हो सका था। जिन विषयों में पास हो चुका हो उनमें उसे फिर दुबारा परीक्षा न देनी पड़े। रानडे का कहना था कि जब एक बार एक विषय में पास हो गया तो फिर परीक्षार्थी उस विषय को पढ़ने के लिए क्यों बाध्य किया जाय? और जिस विषय में वह कच्चा था उसको अच्छी तरह पढ़ने का पूरा अवसर उसे क्यों न दिया जाय? हर एक परीक्षा, सब विषयों में, एक दम पास करने में विद्यार्थी को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है जिसका असर बुरा होता है और बहुत से विद्यार्थी

उसे सहन भी नहीं कर सकते । इसका फल यह होता है कि उनकी आयु कम हो जाती है और कितने ही तो जल्दी मर जाते हैं। इस प्रस्ताव में एक बात जानने योग्य है। जो लोग देशी भाषा को इसलिए अभ्यास के विषयों में सम्मिलित नहीं करते थे कि विद्यार्थी को परिश्रम विशेष करना पड़ेगा उन्होंने ही इसका विरोध किया; और रानडे के प्रस्ताव से जो सुलभता विद्यार्थी को हो जाती वह न होने दी । जिन बातों के लिए रानडे ने यूनिवर्सिटी को परामर्श दिया था, उन बातों को विलायत की, स्काटलेंड की और मद्रास की यूनिवर्सिटियों ने मान लिया है और उनके अनुसार योजना भी हो गई है। बम्बई की यूनिवर्सिटी ने उनमें से कितनी ही बातें मान ली हैं और अब मानती जा रही है । रानडे ने एक प्रस्ताव 'सिनेट' से इस तरह का पास करा दिया था परन्तु बम्बई के गवर्नर ने, जो यूनिवर्सिटी के 'चान्सलर' होते हैं, उसे नामञ्जूर कर दिया।

सन् १८९४ ईसवी में 'ग्रेजुएट्स एसोसियेशन' के सन्मुख रानडे ने एक व्याख्यान दिया था जिसमें उन्होंने यह अच्छी तरह बतलाया था कि परीक्षाओं के भार से विद्यार्थी पर कैसा अनिष्ट प्रभाव पड़ता है और किस प्रकार बहुसंख्यक विद्यार्थी छोटी अवस्था में मृत्यु के शरण होते हैं। वास्तव में यह व्याख्यान डा० भाण्डारकर के उस व्याख्यान का उत्तर था, जो उन्होंने बहैसियत 'वाइस चैन्सलर' के दिया था। डा० भाण्डारकर ने कहा था कि नौजवान पारसी ग्रेजुएटों में मृत्यु-संख्या १७ फी"

सैकड़े हैं और हिन्दुओं में ४२ से ऊपर। हिन्दुओं में इतनी ऊँची मृत्यु-संख्या होने का कारण उनके घृणित रीति-रिवाज हैं और उनके बैठे रहने की आदत तथा पुष्ट भोजन की न्यूनता भी है। उनकी राय में परीक्षाओं के कारण मृत्यु-संख्या का इतना बढ़ जाना सम्भव नहीं। यह बात डा० भाण्डारकर ने यूनिवर्सिटी स्थापन होने के १८ वर्ष बाद के हिसाब को देख कर कही थी और वह ही सिर्फ़ 'आर्ट ग्रेजुएट्स' का हिसाब देख कर। परन्तु रानडे ने सन् १८६२ ईसवी से, अर्थात् जबसे ग्रेजुएट होने लगे तभी से हिसाब देख कर सन् १८९३ तक की संख्या निकाली थी। इन तीस वर्षों का हिसाब उन्होंने सब ग्रेजुएटों का लगाया था और उसका परिणाम यह था कि मराठा ग्रेजुएटों की मृत्यु-संख्या फ़ी सैकड़ा सबसे ऊँची निकली अर्थात् एल० सी० आई० में चार फ़ी सदी से लेकर एम० ए० में २१ फ़ी सदी तक पहुँची थी। पर गुजरातियों में संख्या सबसे कम आई अर्थात् एल० सी० आई० में २ फ़ी सदी से लेकर एल० एम० ऐण्ड० एस० में ८ फ़ी सदी तक। पारसियों का हिसाब इन दोनों के बीच में है। जब गुजराती और मराठे दोनों ही एक सी सांसारिक रीति को मानते हैं तब यह नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु-संख्या के बढ़ने का कारण रीति-रिवाज और रहन-सहन हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मराठा गुजरातियों से विशेष आलसी हैं या उनको बैठे रहना अधिक पसन्द है। क्योंकि गुजरातियों और पारसियों से मराठे धनी

कम हैं। अब यह कहा जा सकता है कि ग़रीबी के कारण मराठों की मृत्यु-संख्या बड़ी है। इसमें कुछ सत्य का अंश हो सकता है, मगर यह नहीं कहा जा सकता कि एकमात्र कारण यही है। क्योंकि पारसी जो हिन्दुओं से मालदार हैं उनमें, मृत्यु-संख्या एम० ए० में एक हज़ार में १२० आती है। इन सब बातों से रानडे ने यही परिणाम निकाला था कि मृत्यु-संख्या के ऊँचे होने का मुख्य कारण परीक्षा है और उनके भार के कारण हमारे ग्रेजुएट दुबले पतले तथा निर्बल होते हैं।

बम्बई के सुप्रसिद्ध सेठ और पहले 'नाइट' सर नाथू भाई मङ्गल-दास ने अपने अन्त समय एक बड़ी रक़म धर्मार्थ छोड़ी थी। रानडे ने उसको यूनिवर्सिटी के लिए सहज में दिलवादी। सेठजी का देहान्त हो जाने पर उनके वारिसों में इस रक़म पर झगड़ा उठ खड़ा हुआ था और उनका इरादा था कि दावा करके इस दान को अदालत से रद करा दें। तब रानडे ने सेठजी के वारिसों को समझाया और उनसे साढ़े तीन लाख की रक़म यूनिवर्सिटी को दिलवा दी। इस दान के व्याज से यूनिवर्सिटी की ओर से छात्र-वृत्तियाँ दी जाती हैं और कला-कौशल सीखने के लिए विद्यार्थी विलायत भेजे जाते हैं।

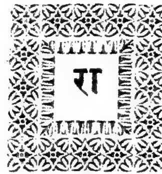
मि० टाटा ने जो 'रिसर्च यूनिवर्सिटी' खोलना चाही थी उसमें रानडे ने उनको मन से सहायता दी थी। पुण्यात्मा दानवीर टाटा ने ३० लाख की रक़म देकर एक 'रिसर्च कालेज' खोलने की योजना की थी जहाँ पर विद्यार्थी जुदे जुदे विषयों

में खोज करके ज्ञानवृद्धि करें । इसी दान और उद्देश से मैसूर राज्य में 'रिसर्च इन्स्टीट्यूट' बनाया गया है । रा० बा० मि० मानकर ने लिखा है कि रानडे ने भी मि० टाटा की बड़े उत्साह से सहायता की थी और मि० टाटा तथा उनके प्राइवेट सेक्रेटरी मि० पादशाह को छोड़ कर यदि और किसी सज्जन को इस योजना को कार्यरूप में परिणत देखने की प्रबल इच्छा थी तो रानडे को । यद्यपि टाटा और रानडे इसको अच्छी तरह चलता न देख सके परन्तु उसका लाभ देश अवश्य उठा रहा है ।

इस प्रकार रानडे ने बहुत सी सेवायें अपनी यूनिवर्सिटी की की थीं । वे स्वयं उसके सबसे पहले नामाङ्कित ग्रेजुएट थे और अपनी असाधारण विद्वत्ता, साहित्यसेवा तथा यूनिवर्सिटी की सेवा के कारण एल० एल० डी० डिगरी के पूर्ण पात्र थे । परन्तु खेद का विषय है कि इस मानसूचक पदवी को प्राप्त करने के पहले ही उनका देहान्त हो गया । डा० मैकिन, वाइसचैन्स-लर, ने कहा था कि रानडे इस मानसूचक पदवी के केवल योग्य ही नहीं थे, बल्कि कुछ दिन वे और जीवित रहते तो उनको वह अवश्य प्राप्त होती ।

आठवाँ अध्याय

औद्योगिक प्रवृत्ति और अर्थशास्त्र।



नडे ने अनेक प्रकार से जो देशसेवा की उसका वर्णन यथास्थान हो चुका है। इसके अतिरिक्त देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए और उद्योग तथा कलाकौशल का उद्धार करने के लिए भी उन्होंने पूरा प्रयत्न किया था। उनका विश्वास था कि कलाकौशल के उद्धार बिना देश की साम्पत्तिक स्थिति सुधर नहीं सकती। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में कहा था "हिन्दुस्तान में उद्योग और कला की अभिवृद्धि ही इस देश की दशा सुधारने का चिरस्थायी उपाय है। दूसरे उपायों से क्षण भर को रोग शान्त हो सकता है, पर सदा के लिए आरोग्य नहीं प्राप्त हो सकता।" इस ओर उन्होंने सन् १८७२–७३ ई० से ध्यान देना शुरू किया और 'हिन्दुस्तान के व्यापार' पर चार व्याख्यान बड़े मार्के के दिये। इन व्याख्यानों से महाराष्ट्र की प्रजा में एक प्रकार की जागृति हो गई। रानडे 'रक्षित व्यापार' की नीति के मानने वाले थे। उनके व्याख्यानों का ऐसा असर हुआ कि देशी कपड़े की दुकानें खुलने लगीं और धीरे धीरे इस हलचल को विशेष बल प्राप्त

होने लगा। यहाँ तक कि श्रीयुत गणेश वासुदेव जोशी (जिनका नाम 'सार्वजनिक काका' प्रख्यात था) देशी कपड़े पहनने लगे और इस हलचल में मुख्य भाग लेने लगे। रानडे के व्याख्यान मराठी में हुए थे, इसलिए साधारण लोगों पर भी उनका अच्छा प्रभाव पड़ा और व्यापारी तथा कारीगर लोगों की रुचि भी इस ओर बढ़ने लगी। आज कल जिसका नाम 'स्वदेशी आन्दोलन' है और जिसके कारण अब प्रदर्शिनी, औद्योगिक कान्फ़रेन्स आदि देखने में आती हैं उसका बीज-वपन चालीस वर्ष पहले ही रानडे ने शान्ति के साथ कर दिया था।

इस विषय पर, प्रसंग-वश, रानडे ने बहुत लेख लिखे थे। जब जब उनको अवसर मिला तब तब उन्होंने अपने देश-भाइयों का ध्यान इस ओर खींचा और देश की बढ़ती हुई निर्धनता को दूर करने के लिए उनको सचेत किया। ऐसे महा-नुभाव ने जब इस प्रश्न पर लिखना आरम्भ किया तो सरकार को भी उधर ध्यान देना पड़ा। यहाँ तक कि लार्ड डफ़रिन ने वाइसराय का पद त्याग कर विलायत जाते समय कलकत्ते में, एक भोज में, वक्तृता दी। उसमें उन्होंने इंडियन नेशनल कांग्रेस को सूचना की थी कि अकेली सरकार कुछ काम नहीं कर सकती; आर्थिक दशा का प्रश्न ऐसा ही है कि प्रजा की सहायता बिना उसका हल होना सम्भव नहीं। थोड़े से देशहितैषी इस ओर प्रवृत्त हुए, और उनमें से एक रानडे थे। नेशनल कांग्रेस के नेताओं को उन्होंने यह बात अच्छी तरह समझा दी कि कांग्रेस

के साथ साथ औद्योगिक परिषद् होने की भी बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रीय महासभा के नेताओं ने इस बात को स्वीकार तो कर लिया परन्तु उनका पूरा ध्यान राजनैतिक बातों की ओर होने से उन्होंने औद्योगिक परिषद् का कुछ विशेष काम न न किया। परन्तु रानडे का इस ओर पूरा ध्यान था, इसलिए उन्होंने औद्योगिक उन्नति की आवश्यकता को जान कर इधर भी ध्यान देना आरम्भ किया। परिषद् के स्थापित होने से पहले ही, साधारण जनों के हित के लिए, सन् १८६० ई० में रानडे ने पूना में 'इन्डस्ट्रियल एसोसिएशन' स्थापित किया। प्रति वर्ष इसका वार्षिकोत्सव होता था और उसमें उद्योग, कला-हुनर तथा अर्थशास्त्र-सम्बन्धी लेख पढ़े जाते थे और पूना की कारीगरी के नमूनों की प्रदर्शिनी की जाती थी।

देश की आर्थिक दशा और औद्योगिक प्रवृत्ति पर रानडे ने बड़े उत्कृष्ट लेख लिखे थे, उनमें से बहुत से सार्वजनिक सभा के पत्र में प्रकाशित होते थे। 'औद्योगिक कान्फ़रेन्स' नामक लेख विद्वत्तापूर्ण था और वह सन् १८६० ई० के जनवरी के अङ्क में प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने यह बतलाया था कि विलायत से जो माल बन कर हिन्दुस्तान में आता है उसके मुक़ाबिले का माल यहाँ नहीं बन सकता और न यहाँ के कारीगर विलायत के कारीगरों की बराबरी कर सकते हैं; इस कारण यहाँ के लोगों की स्थिति बड़ी शोचनीय हो गई है। दूसरे देशों की, संख्या-सहित, दशा बताते हुए उन्होंने यह भी

बतलाया था कि सरकार को क्या करना उचित है; क्योंकि उसकी सहायता बिना प्रजा अपनी दशा नहीं सुधार सकती। इस लेख के आरम्भ में, यहाँ की आर्थिक दशा का दिग्दर्शन इस तरह किया गया है:—"वर्तमान काल में राज्यव्यवस्था और सेना-सम्बन्धी प्रश्नों की तुलना के महत्त्व का प्रश्न और जो विचारशील लोगों के ध्यान को खींच रहा है वह औद्योगिक सुधार है। साम्पत्तिक उन्नति के लिए भारतवर्ष प्रकृति से परिपूर्ण है। प्रकृति ने इसको धनवान होने की वह सामग्री दी है जो अन्य देशों में नहीं है परन्तु ब्रिटिश राज्य में यह देश बड़ा निर्धन हो गया है और इसकी दशा बराबर बिगड़ती ही जाती है। यह बात देख कर बड़ा दुःख होता है। किसी देश में निर्धनता इतने प्रमाण में नहीं देखी जाती। सुकाल के वर्षों में अगर कुछ तङ्गी हो तो उसी देश में हो सकती है जिसकी जनसंख्या बहुत बड़ी हो। प्रत्येक वर्ष तो बराबर सुकाल की आशा की नहीं जा सकती और अब यह दशा हो गई है कि पिछले अकालों से प्रत्येक अकाल ज़्यादा कड़ा होता जाता है। महँगी भी बढ़ती जाती है। इतने बड़े देश में, कहीं न कहीं, वृष्टि की कमी से यह दशा हो जाती है कि लोग भूखों मरने लगते हैं और दुष्काल का भय तो सदा बना ही रहता है।"

रानडे ने इस लेख में हिन्दुस्तानियों की आर्थिक दशा के तीन मुख्य लक्षण बताये हैं। पहला—दारुण निर्धनता, जो देश

भर में व्यापक हो गई है और बढ़ती जाती है। दूसरा—नीची स्थिति के लोगों में सङ्कट का बढ़ना। तीसरे—साधारण लोगों में अर्थशास्त्र के अनुसार अपने कष्ट निवारण करने के लिए साधनों का अभाव।

विलायत के लोगों का यह कहना है कि भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति बराबर अच्छी होती जाती है। रानडे ने इन लोगों के कथन का खण्डन किया है। इसी लेख में आगे यह भी दिखलाया है कि यह देश एक समय समस्त संसार में अपनी कारीगरी के लिए प्रसिद्ध था परन्तु अब यूरुप देश में यन्त्रों और कलों के द्वारा कारख़ाने चलते हैं इस कारण, यह देश उनसे स्पर्धा नहीं कर सकता और न उनकी बराबरी कर सकता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यहाँ की कला और कारीगरी नष्ट हो गई और होती जाती हैं। प्रजा को खेती के भरोसे रह कर केवल खेती का व्यवसाय रह गया है। दादा भाई नौरोजी ने हिसाब लगा कर बतलाया है कि एक बरस में एक आदमी की औसत आमदनी २० रुपये होती है। सर ई० बेरिङ्ग (अब लॉर्ड क्रोमर) के हिसाब से २७ रुपये होती है जिसकी तुलना दूसरे देशों की औसत आमदनी के साथ करने से मालूम होता है कि इतनी सी आमदनी से दूसरे देश के लोग जीवननिर्वाह भी नहीं कर सकते और वह उनकी आमदनी से इतनी कम है कि कोई तुलना नहीं हो सकती। इन सब बातों का पूरा और विस्तार से विवेचन करके रानडे ने

अच्छी तरह बतलाया है कि देश की दशा सुधारने के लिए प्रजा और सरकार दोनों का क्या कर्त्तव्य है ।

औद्योगिक परिषद् में रानडे बड़ा बोधदायक और महत्त्व-पूर्ण व्याख्यान दिया करते थे। परिषद् की पहली बैठक में, प्रास्ताविक भाषण में उन्होंने परिषद् के उद्देश्य बतलाते हुए दो बातों पर विशेष कर लोगों का ध्यान खींचा था। पहली, 'हमारी आश्चर्यजनक निर्धनता' और दूसरी 'केवल खेती के भरोसे निरुपाय रहना'। यह बतलाते हुए उन्होंने कहा था "हमको इन बातों में सुधार करना चाहिए और साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि जो कुछ हम चाहते हैं वह वर्ष दो वर्ष में प्राप्त नहीं हो सकता। इस समय तो हम इतना ही कर सकते हैं कि लोगों के मन में सुधार की इच्छा उत्पन्न कर दें और उनका ध्यान इधर खींचें। हमको जो काम करना है वह यह है कि कच्चा माल जो हिन्दुस्तान में बहुत होता है उसको तैयार करके यहीं पर उसकी उपयोगी वस्तुयें बनाई जावें।"

हमारे उद्योग और कला की शोचनीय दशा सुधारने में सरकार बहुत सहायता कर सकती है। इस विषय पर रानडे का यह कहना था कि प्रजा के लिए रुपया जमा करने और उधार लेने के लिए बङ्क खोल कर, कम व्याज पर उद्योग और कला के लिए रुपये उधार देने का प्रबन्ध कर, नवीन उद्योग में सहायता देकर, उपनिवेशों में भारतवासियों की रक्षा कर,

कारख़ाने खुलवा कर और सरकारी काम के लिए हिन्दुस्तान में माल तैयार कराकर, सरकार बहुत सहायता कर सकती है।

इन बातों को मान कर सरकार ने सहयोग-समितियों (Co-operative Credit Societies) और देहात में बङ्कों की स्थापना की है। उसने लोहे और कोयले की खान के उद्योग में उत्तेजना दी है। चाय, कहवा और सिनकोना की खेती में उन्नति होने के लिए भी सरकार ने उद्योग किया है। परन्तु सरकार की ओर से जितनी सहायता और उत्तेजना मिलनी चाहिए उतनी मिली नहीं है। सरकार प्रजा के लिए पितारूप है। यदि वह प्रजा की निर्धनता की ओर ध्यान देकर कला-कौशल की अभिवृद्धि और उन्नति के लिए प्रयत्न करे तो शासक वर्ग और प्रजा दोनों को लाभदायक हो।

रानडे ने इस प्रकार देशी कलाकौशल की उन्नति के लिए बड़ा प्रयत्न किया था और इसका एक परिणाम यह हुआ कि देशी कारीगरों को उत्तेजन देने के लिए पूना में बहुत लोगों ने यह निश्चय कर लिया था कि, जहाँ तक सम्भव हो, स्वदेशी वस्तु का व्यवहार किया जाय और बहुत लोग इसके अनुसार अब भी देशी वस्तुओं को काम में लाते हैं। अब तो सभी लोगों का ध्यान इस प्रश्न की ओर है और देश में एक प्रकार की जागृति हो गई है। यह एक सन्तोष की बात है कि नये नये कारख़ाने खुलते जाते हैं, प्रदर्शनियाँ होती हैं, विदेशों में

जाकर भारतवासी कलाकौशल सीखते हैं और यहाँ भी उनको औद्योगिक शिक्षा देने के लिए साधन उपस्थित होते जाते हैं।

उद्योग के उद्धार के लिए रानडे ने प्रयत्न किया और साथ ही कारख़ानों को भी अपनी सलाह-सूचना से वे मदद देते रहे। हम ऊपर देख चुके हैं कि पूना में जो कारख़ाने हैं वे रानडे के कितने कृतज्ञ हैं। माननीय मिस्टर गोखले ने कहा था "जिस औद्योगिक परिषद् ने पूना में कई वर्ष तक काम किया और जिसकी ओर से लार्ड रे के समय में प्रदर्शिनी की गई थी उसके प्रयोजक रानडे थे। पिछले बीस वर्षों में जो कारख़ाने बने और औद्योगिक काम किये गये वे सब अपनी उत्पत्ति और सलाह के लिए रानडे के कृतज्ञ हैं।"

पिछले प्रकरण में यह बात कही जा चुकी है कि रानडे को अर्थशास्त्र का बड़ा ज्ञान था और उसके परिणाम में उन्होंने 'भारतवर्ष का अर्थशास्त्र' नामक पुस्तक लिखी थी। मि० वाचा का कथन है कि रानडे ने पाश्चात्य ग्रन्थकारों के अर्थशास्त्र का बड़ी अच्छी तरह अध्ययन किया था और उनके सिद्धान्तों को समझा था। रानडे ने अपनी पुस्तक में इस बात पर सूक्ष्म विचार किया है कि पाश्चात्य सिद्धान्तों का प्रयोग इस देश में हो सकता है या नहीं। जुदे जुदे मौक़ों पर, देश की आर्थिक दशा और कलाकौशल के उद्धार के सम्बन्ध में रानडे ने जो लेख लिखे या व्याख्यान दिये, उनमें से छटे हुए बारह इस पुस्तक में दिये गये हैं। देश की आर्थिक और औद्योगिक दशा

जानने के लिए ये लेख बड़े उपयोगी हैं। कृषि-उद्योग में उन्नति की आवश्यकता, बैंक स्थापित करने के लाभ की ओर सरकारी सहायता मिलने की आवश्यकता, विदेश में भारतवासियों के बसने की आवश्यकता, स्थानिक स्वराज्य, किसानों के सङ्कट और उनके निवारण करने के उपाय—इन विषयों पर रानडे ने अपने स्वतन्त्र विचार बड़ी कुशलता से प्रकट किये हैं। अर्थशास्त्र का पूर्ण अध्ययन और मनन दोनों दृष्टि—पाश्चात्य और भारतीय—से करके उन्होंने योग्य मार्ग निर्दिष्ट करने की चेष्टा की; और भारतवर्ष की परिस्थिति का विचार कर उसमें आवश्यक सुधार के लिए योग्य सूचना की है। साथ ही साथ ब्रिटिश राज्य से इस देश को जो लाभ हुआ है उसको भी उन्होंने बराबर स्वीकार किया है। अपनी बात को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए उन्होंने स्वदेश और परदेश के उदाहरण दिये हैं तथा संख्याओं से भी तुलना की है। उनके विचारों को जानने के लिए मुख्य चार पाँच लेख पढ़ना काफ़ी है; विशेष कर 'हिन्दुस्तान का अर्थशास्त्र', 'हिन्दुस्तान के कलाकौशल की वर्तमान दशा और उसका भविष्य स्वरूप', 'औद्योगिक कान्फ़रेन्स' आदि लेख मुख्य हैं। यहाँ पर इन सब लेखों का विवरण नहीं दिया जा सकता। सिर्फ़ एक दो का विवेचन करके रानडे के विचारों का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जाता है।

पहला निबन्ध—'हिन्दुस्तान का अर्थशास्त्र' रानडे ने ३० जुलाई सन् १८०२ ई० को 'डेकन कालेज यूनियन' के सामने

पढ़ा था। ऊपर कहा जा चुका है कि यह निबन्ध पुस्तक की कुञ्जी है और सबसे उत्तम है। उसका संक्षेप में अवलोकन किया जाता है।

इस निबन्ध को पढ़ कर शायद पहले ऐसा मालूम होगा कि रानडे 'रक्षित व्यापार' नीति (Protection) के माननेवाले थे। परन्तु वास्तव में 'रक्षित व्यापार' नीति का साधारण रीति से जो मतलब समझा जाता है वे उसके हिमायती नहीं थे। उन्होंने दृढ़ता से बतलाया है कि अर्थशास्त्र का आधार थोड़े से अनुमानों पर है; और यह आधार रूप अनुमान न स्वयं सिद्ध है और न सर्वदेश तथा सर्वकाल में उनका एक सा प्रयोग हो सकता है। इस शास्त्र की रचना अमुक सम्भावनाश्रित, अर्थात् स्वीकृत पक्षों, पर अवलम्बित होने से जहाँ जहाँ स्वीकृत पक्ष विधेय होते हैं वहीं पर उसके परिणाम या निश्चय ठीक हो सकते हैं अन्यथा नहीं। इस कारण से यदि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त जो एक जनसमूह की परिस्थिति के लिए प्रयोज्य न हों या कुछ अंशों में ही हों तो उनके पूर्ण प्रयोग से उस जनसमूह की साम्पत्तिक उन्नति में हानि होगी।

रानडे ने अपने निबन्ध में इस बात को स्पष्ट कर दिखलाया है। उन्होंने कैसी कुशलता से अपने विचारों का समर्थन किया है उसे भी थोड़े विस्तार से देखना चाहिए। क्योंकि उनका सम्बन्ध भारतवर्ष की आर्थिक दशा से है।

सर ली० वार्नर वम्बई प्रान्त के एक ऊँचे अफ़सर थे और

बाद में इंडिया कौंसिल के मेम्बर हो गये थे । आपने 'हिन्दुस्तान के साहित्य और राजनीतिशास्त्र पर प्रकृति का प्रभाव' इस विषय पर एक व्याख्यान दिया था । उसमें उन्होंने कहा था कि मानुषिक प्रवृत्ति की किसी भी शाखा में हमारी उन्नति हमारे स्वाभाविक गुण और परिस्थिति अर्थात् आस पास के संयोगों के अनुसार होती है । हमको इस बात का विचार रखना चाहिए कि ऐसी शिक्षा लोगों को न दी जाया करे जिससे उनके चित्त में उत्तेजना हो और वे अविचार से धाँधल-बाज़ी करने लगें । इस बात पर ध्यान रख कर, रानडे ने कहा था कि जब राजनीतिशास्त्र और सामाजिकशास्त्र में किसी बात का निर्णय करने में देशकाल की व्यवस्था पर विचार करके निश्चय करने के लिए कहा जाता है तो अर्थशास्त्र में भी देश-काल की व्यवस्था का विचार करना आवश्यक है और Doctrine of relativity वाला सिद्धान्त अर्थशास्त्र में भी प्रयोज्य है । परन्तु जो लोग इस सिद्धान्त का उपयोग राजनीति और सामाजिकशास्त्र में करना बतलाते हैं, वे अर्थशास्त्र की चर्चा करने में उसको भूल जाते हैं । उनको अपना ही उपदेश याद नहीं रहता । उनका ऐसा विचार है कि अर्थशास्त्र के जो सिद्धान्त विलायत के लिए ठीक हैं वही भारतवर्ष के लिए भी माननीय हैं और उनका प्रयोग सर्वत्र बिना किसी फेरफार के होना चाहिए । देशकाल के अनुसार उनमें किसी भी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं । इस बात के लिए अनेक प्रमाण देते

हुए रानडे ने कहा था कि यदि पदार्थविज्ञान अथवा खगोल-विद्या के सिद्धान्तों की तरह अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भी अविकारी होते और सब देशों तथा सब काल के लिए सत्य होते तो उन सिद्धान्तों से निकले हुए तर्क-सिद्ध अनुमानों को सर्वदेश और सर्वकाल में सत्य मानने में कोई विशेष आपत्ति न होती। यद्यपि बहुत से राजनीतिज्ञ अब भी भारतवर्ष में उन सिद्धान्तों का व्यवहार करने से हिचकते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि यह सिद्धान्त भारतवर्ष में प्रयोज्य हैं वह मानो अर्थशास्त्र के अनुमानों को अविकारी मानते हैं। अब यह बात देखनी चाहिए कि यह मत किसी आधार पर भी है या नहीं। राजनीतिशास्त्र और सामाजिकशास्त्र में देशकाल की व्यवस्था का विचार करना आवश्यक है; और यह भी ध्यान में रखना उचित है कि समाज की प्रकृति कैसी है; स्वाभाविक गुण, परिस्थिति, रीति-रिवाज और इतिहास को भी देख लेना चाहिए। जब इन शास्त्रों में आवश्यक है तो यह कौन सी नीति है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का विचार करने में इन सब बातों पर ध्यान न दिया जाय? हमारी आर्थिक दशा पर विचार करते समय इनको भुला दिया जाय? अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सर्वांश में सत्य होते तो दुनिया के सभ्य देशों में तो उनको पूर्ण रीति से स्वीकार किया जाता और आतुरता से उनका उपयोग किया जाता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। क्योंकि यूरुप के कितने ही देशों में और अमरीका के संयुक्त-

राज्य में 'अबाधित व्यापार' (Free Trade) की नीति का विरोध किया गया है। और पुराने अँगरेज़ अर्थशास्त्रज्ञों—जैसे जेम्स मिल, रिकार्डो, व्राइट—का यह विश्वास कि 'सभ्य संसार अबाधित व्यापार को नीति का स्वीकार करेगा' असत्य सिद्ध हुआ है। पुराने अर्थशास्त्रज्ञों का यह विचार था कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त स्थापित या निश्चित और अविकारी हैं। परन्तु यह उनकी भूल थी। इस शास्त्र की रचना ही सम्भावना पर हुई है। इस बात को सप्रमाण दिखाने के लिए रानडे ने जान स्टुअर्ट मिल और कर्न्स की पुस्तकों में से उनके मत बतलाये हैं। यह भी बात विचार करने की है कि जिन स्वीकृत पक्षों पर पाश्चात्य अर्थशास्त्र की रचना की गई है उनमें सबका भारतवर्ष से सम्बन्ध नहीं है। वह स्वीकृत पक्ष यह हैं:—
(१) अमुक प्रजा की आर्थिक स्थिति व्यक्ति की आर्थिक स्थिति के कारण है। प्रजा की दूसरी कोई सामुदायिक आर्थिक स्थिति नहीं है। (२) अर्थशास्त्र में निपुण व्यक्ति अपने परिवार की वृद्धि के सिवा दूसरी कोई इच्छा नहीं रखता और जिस कार्य में प्रवृत्त होता है वह मुख्य कर स्वार्थ के लिए होता है। (३) थोड़े से थोड़ा प्रयत्न कर बहुमूल्य पदार्थों को प्राप्त करने में स्वार्थसिद्ध है। (४) व्यक्ति के अपनी आर्थिक दशा सुधारने से देश की श्रीवृद्धि होती है। (५) व्यक्ति की स्वार्थसिद्धि के लिए प्रवृत्त होने में कोई रुकावट नहीं है। यदि कोई अंकुश है तो दूसरे व्यक्तियों की स्वार्थसिद्धि और उसके लिए उद्योग हैं।"

अर्थात् कोई व्यक्ति चाहे जितना धनवान हो सकता है और यदि नहीं होता तो केवल इस कारण से कि दूसरे भी धनवान होना चाहते हैं। (६) राज्य के क़ानून और रीति-रिवाज अर्थ-सिद्धि और स्वार्थ-साधन के बाधक हैं। (७) व्यक्ति को इस बात का पूर्ण ज्ञान होता है कि उसका स्वार्थ-साधन किसमें है; और उसके अनुसार काम करने की उसमें इच्छा और शक्ति भी होती हैं। (८) व्यक्तियों को आपस में कोई बात तै करने के लिए या कोई मुआहिदा करने के लिए पूरी स्वतन्त्रता है। (९) जिस काम में विशेष लाभ होगा उधर ही लोगों की शक्ति का झुकाव होगा। (१०) जैसे पानी समथल की ओर जाता है उसी प्रकार उद्योग से प्राप्त लाभ और मज़दूरी भी समान अवस्था की ओर झुकती हैं। (११) आजीविका की सामग्री इतनी नहीं बढ़ती जितनी कि जनसंख्या बढ़ती है। (१२) माँग और आमद दोनों एक दूसरे को समान स्थिति पर लाती हैं।

रानडे ने यह दिखलाया है कि ऊपर लिखे स्वीकृत पक्ष किसी देश के लिए सोलहों आने ठीक नहीं हैं। यूरुप के भी सब देशों में यह ठीक नहीं बैठते, तो भारतवर्ष के लिए कैसे ठीक माने जा सकते हैं? और यहाँ की तो दशा ही दूसरी है। अर्थशास्त्र के अनुसार स्वतन्त्रता से स्वार्थ-परायण व्यक्ति यहाँ नहीं हो सकता क्योंकि जाति, कुटुम्ब और अविभक्त कुल की प्रथा के कारण उसकी स्वतन्त्रता नियमित होती है। कुटुम्बी जनों की इच्छा के विरुद्ध अपने

स्वार्थ के लिए किसी व्यापार में प्रवृत्त होना सुगम नहीं है। द्रव्य-प्राप्ति जीवन का मुख्य हेतु नहीं गिना जाता। यहाँ पर लोग परम्परा के नियम और रीति रिवाज का विशेष आदर करते हैं। मस्तिष्क-शक्ति का और मज़दूरी का इच्छानुकूल उपयोग नहीं होता। अपनी पसन्द का व्यवसाय हर एक नहीं कर सकता। नफ़ा और मज़दूरी बँधी हुई सी है; यहाँ तक कि आस पास में उसकी दर घटने बढ़ने का बहुत असर नहीं होता। साहूकार और किसान आपस में जो लेन देन करते हैं उनके मुहाइदे स्वतन्त्र नहीं होते। कृषक के अनपढ़ होने से वह प्रायः यह नहीं समझता कि जिस बात का वह क़रार करता है वह उसको हानिकारक है या लाभदायक। जल-वायु की मलीनता और दुष्काल के कारण प्रजा की वृद्धि में रुकावटें होती हैं और जन-संख्या के बढ़ने का हिसाब भी बढ़ता घटता नहीं है। एक सा रहता है।

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त विकारी हैं, इस बात को दृढ़ प्रमाणों से दिखाने के लिए रानडे ने जे०एस०मिल और कर्न्स के आधार का उपयोग किया और आधुनिक अर्थ-शास्त्रज्ञ बेजहोट, सिज़विक, क्लिफ़ लेस्लि और प्रो० जेवन्स के मत से भी अपने कथन की पुष्टि की। अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्तों में फेर फार कैसे हुए—इस बात के दिखलाने के लिए पिछले दो तीन सौ वर्षों में यूरुप में जो घटनायें हुई थीं उसका भी उन्होंने वर्णन किया है। १५वीं सदी में नये देशों की खोज हुई, व्यापार की

वृद्धि हुई और नये देशों में जाकर लोग बसने लगे। इन कारणों से यूरुप में व्यापार बढ़ाने की बड़ी प्रवृत्ति फैल गई और उसके अनुसार अर्थशास्त्र के नियमों की योजना करना आवश्यक हुआ। खेती-बारी से व्यापार अच्छा समझा जाने लगा और अपने ही देश में व्यापार करने की अपेक्षा परदेश से व्यापार करना विशेष लाभप्रद मालूम हुआ। इस कारण राज्यसत्ता का अंकुश व्यापार पर विशेष हो गया। अगली शताब्दी में राज्यसत्ता का विरोध होने लगा और व्यापार में स्वतन्त्रता के हिमायती हाब्स और लॉक हुए। अबाधित व्यापार की नीति लोगों को पसन्द आई। इसी राजकीय अंकुश से स्वतन्त्र होने की इच्छा का परिणाम फ्रांस की राज्यक्रान्ति थी। आबधित व्यापार के हिमायती विलायत में रिकार्डो, माल्थस, सीनियर जेम्समिल, टोरेन्स आदि हो गये। परन्तु इसके बाद अबाधित व्यापार की नीति पर प्रत्याघात हुआ। रानडे ने इन बातों का वर्णन किया है और बतलाया है कि अँगरेज़ अर्थशास्त्री भी अपना मत बदलने लगे थे तथा 'अबाधित व्यापार' के विरोधी हो गये थे। लेस्लि और जेवन्स ने इस बात को साफ़ माना है कि अर्थशास्त्र के प्राचीन सिद्धान्त माननीय नहीं हैं। अर्थशास्त्र समाजशास्त्र की एक शाखा है, इसका अभ्यास व्यावहारिक और शास्त्रीय रीति से होना चाहिए। प्राचीन सिद्धान्त सब देश और सब काल के लिए ठीक नहीं हैं।

इस प्रकार विचारों में फेर फार होने से, अर्थशास्त्र के

विषयों पर विचार करने में आनुमानिक पद्धति (Deductive method) को छोड़ कर ऐतिहासिक पद्धति (Historical method) का उपयोग किया जाता है, जिससे अब राष्ट्रीय धन का सिद्धान्त बदल गया है। एक व्यक्ति की द्रव्य-शक्ति पर राष्ट्रीय धन का आधार नहीं रहा, बल्कि उस समाज के सर्व-हित-साधन पर है जिसका कि व्यक्ति एक मेम्बर है। अर्थात् पहले तो यह समझा जाता था कि स्वार्थपरायण व्यक्ति जितना धन उपार्जन करे उतना ठीक है और उसी के अनुसार जाति की श्रीवृद्धि समझी जाती थी; परन्तु अब यह विचार है कि राष्ट्रीय धन बल बढ़ाने के लिए समाज का हितसाधन पहले होना चाहिए और व्यक्ति की स्वतन्त्र स्वार्थ-परायणता पर समाज की आवश्यकतानुसार अंकुश होना चाहिए। साथ ही साथ सापेक्ष सिद्धान्त (Doctrine of relativity) को भी लोग मानने लगे हैं। समाज की स्थिति, उसके आस पास के संयोग आदि को ध्यान में रख कर उसके भविष्यत् का विचार किया जाता है।

इन सब बातों का विचार करते हुए रानडे ने भारतवर्ष की दशा और उससे इन सिद्धान्तों का सम्बन्ध बतलाया है। हमारे सामाजिक जीवन के लक्षणों पर ध्यान देने से मालूम होता है कि व्यापार और व्यवसाय में अभी मुहाइदे और क़रार से काम नहीं लिया जाता। अभी इतनी स्वतन्त्रता यहाँ नहीं देखी जाती। लोग अपने घर बैठ कर थोड़े फ़ायदे से ही

प्रसन्न रहते हैं और ज़्यादा पाने के लालच से बाहर जाना पसन्द नहीं करते । उन्नति के विचार मन में नहीं आते । संकुचित विचारों के कारण उन्नति का उत्साह नहीं है । देश के जलवायु के अनुकूल कच्चा माल बहुत उपजता है । मज़दूरी की कमी नहीं है और जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग थोड़ी सी दर पर मज़दूरी करने को तैयार रहता है । लोगों के आलसी होने से उनकी मेहनत विशेष फलप्रद नहीं होती और न उनको कार्य में कुशलता प्राप्त होती है । निर्धनता और असाहसिक वृत्ति के कारण नये धंधे और उद्योग के लिए वे आवश्यक पूँजी जमा नहीं कर सकते और न नये काम सम्हाल सकते हैं । मेहनत और पूँजी को इकट्ठा कर साथ में उपयोगी बनाने की शक्ति तो उनमें नहीं के बराबर है । भारतवासियों को ऐसी दशा में यूरुप वालों का मुक़ाबला करना पड़ा । प्राचीन उद्योगों का नाश हो गया है और अब यहाँ के लोगों की बहुत बड़ी संख्या को खेती का आधार रह गया है । खेती का फल वर्षा के भरोसे है; और वह अनिश्चित होने से पूरा लाभ नहीं मिलता । ऊँचे पाये पर व्यापार करना और नये कारख़ाने खोलना देश में अभी आरम्भ हो ही पाया है । साधारण लोगों में न ज़िमींदारी है और न लोगों में कोई मध्यमवर्ग की श्रेणी है; फिर भी धनवान होने, धन संचय करने की तीव्र इच्छा लोगों में नहीं दिखाई देती । धार्मिक भावना और रीति-रिवाज के कारण यहाँ के लोगों को निर्धन रह कर जीवन व्यतीत करने की आदत हो

गई है । जायदाद और धन के छोटे छोटे हिस्से, और बाँट कर ना उनको पसंद है, द्रव्य संचय कर पूँजी जमा करने की इच्छा मंद हो गई है । इन कारणों से देश में जड़ता, निरुत्साह और निर्धनता उत्पन्न हो गई है । इन सब बातों के होते हुए भी भारतवर्ष का अँग्रेज़ों से संबंध होना बड़ी बात है । जिस जाति ने हमको दुनियाँ भर से व्यापार करने की सुगमता बतलाई, जिसने अपने कला-कौशल से परस्पर व्यवहार के लिए सब प्रकार की अनुकूलता कर दी है, जिसकी देख रेख में हमारे देश का कारवार होता है, जिसमें भारतवासियों के प्रत्यक्ष दोषों का अभाव है, जो और जातियों में व्यापार, उद्योग, पूँजी, स्वतंत्र व्यापार और स्पर्द्धा में सर्वोपरि है, ऐसी ब्रिटिश प्रजा से हमारा संबंध अंधकार में प्रकाश-किरण-रूप है । यह बात हमको सदा याद रखनी चाहिए ।

प्राचीन अर्थशास्त्रज्ञों के विचारों में नवीन दृष्टि से जो भूलें मालूम होती हैं उनका रानडे ने और भी विस्तार से वर्णन किया है । प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार गरम देशों के लोग कच्चा माल पैदा करने के ही योग्य समझे जाते थे और उस कच्चे माल को तैयार करके चीज़ें बनाने का काम ठण्डे देशों के लोगों के लिए समझा जाता था । रानडे ने इसका यह जवाब दिया है कि गरम देशों के लोगों को कच्चा माल पैदा कर ख़ाली बैठे रहने की कोई आवश्यकता नहीं है । यदि इतिहास देखा जाय तो मालूम होता है कि गरम देश के लोगों ने ही पहले कला-कौशल में

उन्नति की थी। भारतवर्ष में बुनने का काम सब से बढ़िया होता था। ढाके की मलमल और कश्मीर के शाल विलायत में जाकर बिकते थे और उनकी कारीगरी की बड़ी प्रशंसा होती थी। यहाँ तक कि हिन्दुस्तान के माल का विलायत जाना बन्द करने के लिए वहाँ के शासकों ने क़ानून बनाये थे। जिस देश में कच्चा माल पैदा हो, वहीं पर उसको बनाया जाय तो इसमें कोई अस्वाभाविक बात नहीं है; बल्कि बड़ा भारी लाभ है। कच्चे माल को दूसरे देश में भेजना और उसके तैयार होने पर फिर मँगाने में जो व्यय होता है उसकी बचत होगी; देश के मज़दूरों को काम मिलेगा; और पूँजी जो लगाई जावेगी उस पर भी व्याज का लाभ होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ठण्डे देशों में लोहा और कोयला पास पास मिलने से कारख़ानों को बड़ी सुगमता होती है परन्तु भारतवर्ष के लिए यह कोई ऐसी कठिनाई नहीं है जिसके कारण कारख़ाने खोल कर माल तैयार न किया जासके। यदि कारख़ाने और उद्योग धंधे यहाँ नये सिरे से बनाने हैं तो उनके लिए योजना की आवश्यकता है; और इस हेतु की सिद्धि के लिए जे० एस० मिल जैसे प्राचीन अर्थशास्त्री का यह मत है कि अबाधित व्यापार वाले नियम को कुछ काल के लिए बन्द करना चाहिए। क्योंकि जिस देश में उन उद्योगों की वृद्धि करनी हो जिनके अभाव की पूर्ति दूसरे देशों के बने माल से होती है तो उस देश को कुछ काल के लिए 'रक्षित व्यापार' की नीति का अवलम्बन करना चाहिए।

यदि गरम देश में केवल कच्चा माल पैदा किया जाय और कारख़ाने खोल कर उसको बनाया न जाय तो वहाँ की बढ़ती हुई प्रजा को अकाल का भय सदा रहेगा । बार बार अकाल-पीड़ा सहनी पड़ेगी और निर्धनता की वृद्धि होगी; दूसरे यह बात भी समझने योग्य है कि उस देश की उपज भी धीरे धीरे कम होती जायगी और जितना श्रम वहाँ पर किया जायगा उसके हिसाब से लाभ नहीं बढ़ेगा । कारख़ाने खोलने से बहुत लोगों को नया काम मिल सकता है और अकाल की पीड़ा से भी छुटकारा मिल सकता है ।

इसके आगे चलकर रानडे ने यह बतलाया है कि मिल के मतानुसार कृषि-प्रधान देश को तभी लाभ हो सकता है जब उसके आस पास ऐसे देश हों जहाँ पर उस देश की उपज की माँग और खपत हो । यदि ऐसा नहीं है तो कृषि-प्रधान देश का इसी में कल्याण है कि वह दूसरे देशों से होशियारी के साथ व्यापार करे । यह पहले उपाय से उतरता हुआ है, और भारतवासियों के हाथ में यह उपाय है भी नहीं । रानडे का कहना है कि इस देश में खेती के काम को बढ़ाना अपनी सत्ता, बुद्धि और स्वाश्रय का नाश करना है । इस योजना से हमको जो हानि होती है उसका पूर्ण रीति से निराकरण रेल और जहाज़ नहीं कर सकते । जब तक शहर में रहने वालों की संख्या ग्राम में रहने वालों से बढ़ न जाय तब तक आर्थिक दशा का सुधरना संभव नहीं । क्योंकि गाँवों के रहने वाले कच्चा माल उपजा कर

शहर वालों को देते हैं और शहर वाले उसको कारख़ानों में तैयार करते हैं। जब तक इस तरह माल तैयार न किया जाय देश की श्री-वृद्धि नहीं होती। परन्तु भारतवर्ष में यह बात नहीं होती। पाश्चात्य कारीगरों से मुक़ाबिला न कर सकने के कारण बहुत से लोगों को अपने धंधे छोड़ देने पड़े हैं और अब उनको खेती करनी पड़ती है। लोग शहर छोड़ कर गाँवों में बसते हैं और इस दशा को पहुँच गये हैं कि अकाल का सामना नहीं कर सकते।

लोगों की स्थिति में ऐसा तात्कालिक फेर फार हो जाने से अच्छे अच्छे राजनीतिज्ञों में मतभेद हो सकता है। रानडे ने यह भी कहा है कि ब्रिटिश राज्य को इन प्रश्नों ने बड़े चक्कर में डाल दिया है। परन्तु यह शासकों का कर्तव्य है कि अबाधित व्यापार की नीति को छोड़ दें और जहाँ जन-संख्या बहुत बढ़ गई है वहाँ वालों के लिए ऐसी सुगमता कर दें कि वे दूसरे देशों में जाकर बसने योग्य हो जायँ। ब्रिटिश शासकों को यह बात पुराने शासकों से सीखना चाहिए; और उनकी तरह इनको भी ऐसा सुप्रबन्ध करना चाहिए जिससे लोगों को नये देशों में, जहाँ जन-संख्या थोड़ी है वहाँ, बसने का मौक़ा मिले। नये देश जीतना, राज्य को सुदृढ़ बनाना और शान्ति की स्थापना करना यह सब काम हो चुके; अब तो यही करना है कि बढ़ी हुई प्रजा नये स्थानों में जाकर बसे और नये उद्योग धंधे करने सीखे। अफ़्रीका, आस्ट्रेलिया, वेस्टइन्डीज़, ब्रह्मदेश आदि में मज़दूरी की

बड़ी माँग है। यदि उसका लाभ उठाने के लिए यहाँ से लोग जायँ तो जो बहुसंख्यक लोग अकाल में मरते जाते हैं उनके प्राण बचें। जैसे जावा द्वीप में डच सरकार ने वहाँ की प्रजा के हित के लिए तेल, चीनी आदि के कारख़ाने खोले हैं, वैसे ही यहाँ प्रयोग किया जाय तो अवश्य लाभ हो।

इसके बाद रानडे ने यह बतलाया है कि बिना-श्रम-प्राप्त-समृद्धि (Unearned increment) का सिद्धान्त भारतवर्ष में नहीं चल सकता। विलायत में यह होता है कि बाप दादा की जायदाद विभक्त न हो इसलिए, सबसे बड़ा लड़का उसका मालिक होता है। अतएव वहाँ पर जायदाद पीढ़ी दर पीढ़ी चली आती है। और उसके मालिक को बिना कोई श्रम किये, लाभ मिलता रहता है। भारतवर्ष में जायदाद मौरूसी सब लोगों की होती है। उसके हिस्से होते हैं, और हर किसी को अपना हिस्सा बेच देने का अधिकार होता है। जायदाद के मालिक बदलते रहते हैं। इसी कारण से 'बिना श्रम प्राप्त समृद्धि' का सिद्धान्त इस देश में नहीं लग सकता। जायदाद के बिकने के कारण उसके मालिक उसको ऐसा रखते हैं जिससे दाम बढ़ते रहें। उसकी उपजाऊ शक्ति को बढ़ाते हैं और इसके लिए उन्हें श्रम भी करना पड़ता है। तो यह समझना भूल है कि ज़िमींदारों का लाभ बिना श्रम की समृद्धि है। लेख के अन्त में रानडे ने इस बात पर विचार किया है कि अमुक अमुक कामों के करने में राजसत्ता की सहायता प्रजा को अवश्यक है और

शासकों को किस प्रकार प्रजा का काम सुगम करना चाहिए। इससे यह बात मालूम होती है कि गत शताब्दी की व्यापार-नीति (Mercantile System) के विरुद्ध अबाधित व्यापार-नीति स्वीकार की गई है। कारण यह है कि गत शताब्दी की व्यापार-नीति ऐसी थी कि जिन बातों में राजसत्ता को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं थी उनमें भी उसको अधिकार प्राप्त था और लोगों को स्वतन्त्र व्यवहार करने में बाधा होती थी; परन्तु अब नीति यह हो गई है कि प्रजा अपने हानि-लाभ का विचार कर जिस प्रकार दूसरे देशों से व्यापार करना चाहे उस प्रकार बे-रोक टोक कर सकती है। और यह बात यहाँ तक है कि पर राज्य की नीति से यदि अपनी हानि भी होती है तो उसके लिए कुछ प्रबन्ध नहीं किया जाता। साधारण स्वतन्त्रता में व्यर्थ आक्षेप करना हानिकारक है और इसी प्रकार व्यक्ति को हर बात में पूर्ण स्वतन्त्रता दे देना भी उचित नहीं है। उत्तम मार्ग मध्यवर्ती होकर ग्रहण करना चाहिए। अबाधित व्यापार-नीति का यूरुप में अब प्रत्यक्ष विरोध किया जाता है। विलायत में इसी व्यापार-नीति का पूर्ण रीति से उपयोग हो चुका है और अब लोग यह प्रश्न करने लगे हैं कि राजसत्ता का अंकुश कहाँ तक आवश्यक है और स्वतन्त्र व्यापार को नियमित करने में कितना लाभ हो सकता है? इँगलिस्तान में यह विचार परिवर्तन हुआ है, उसके प्रमाण में रानडे ने उन क़ानूनों का उदाहरण दिया है जो कारख़ानों के लिए और निर्धन लोगों के लिए बनाये गये हैं। जब विलायति

जैसे देश में अबाधित व्यापार सर्वांश में उपयोगी और लाभप्रद नहीं है तो भारतवर्ष में, जो अभी औद्योगिक उन्नति की प्रथम अवस्था में है, यह नीति काम में कैसे लाई जा सकती है ? रानडे ने यह बात बड़ा ज़ोर देकर कही है कि यूरुप में एक बार 'मरकेन्टाइल सिस्टम' की पद्धति प्रचलित थी, उस पद्धति के अवगुणों को छोड़ कर यह बात माननी चाहिएं कि राज-सत्ता का हस्तक्षेप बहुत सी बातों में आवश्यक है। डाकघर, तार और शिक्षा-विभाग में सरकारी मदद पूरी मिलनी चाहिए क्योंकि इनमें व्यक्तियों से काम होना आसान नहीं है। और सरकार के यत्न से जो परिणाम प्राप्त हो सकता है वह अकेले प्रजा-वर्ग से नहीं हो सकता। हमारे देश में सरकार इन कामों को स्वयं अपने हाथ में रखती है और अपना कर्त्तव्य पालन करती है। यहाँ पर सरकार को इन कामों में विशेष सहायता करना आवश्यक है। क्योंकि सरकार यहाँ पर केवल ज़मींदार ही नहीं है, बल्कि उसके पास सबसे अधिक पूँजी भी है, दुनिया में सबसे उन्नत और सुधरी हुई जाति की वह प्रतिनिधिरूप है; और हमारी गिरी हुई दशा में सहायक होकर उन्नति की प्रेरणा करने तथा उत्साह दिलाने में समर्थ है। हमको यह बात कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करनी चाहिए कि सरकार ने केवल जुदी जुदी प्रकार की शिक्षा देने में ही नहीं बल्कि कोयला और लोहे की खान खोदने, चाय और कहवा की खेती में तथा तरह तरह की कपास की खेती करने में आश्रय देकर बहुत काम किया है;

परन्तु अभी उसे बहुत करना बाक़ी है। औद्योगिक साहस और कामों को आश्रय देकर, मार्ग बता कर, बैंक खुलवा कर, दूसरे देशों से हमारी साख पर रुपया दिलवा कर और ऐसे कारख़ाने खड़े कर जिनमें सरकार की आवश्यक सब चीज़ें यहाँ की कारीगरी से यहीं बन सकें—इन सब कामों के करने से प्रजा को बड़ी मदद मिल सकती है और यह सब सरकार को करना बाक़ी है।

इस प्रकार सरकार को रास्ता बताते हुए, अपने देश में अबाधित व्यापार की नीति के विषय में रानडे ने जो विचार प्रकट किये हैं उनको दृढ़ता से प्रमाण देने के लिए कितने ही उच्चपदाधिकारी सरकारी कर्मचारियों के मत भी लिखे हैं। उनमें सर विलियम हंटर, सर मेक्सवेल मेल्विल और मिस्टर लैंग भी हैं। मि० लैंग ने कहा था कि चालीस वर्ष पहले जब रिचर्डकाबडेन के वाक्चातुर्य से सर राबर्टपील ने नीति बदल कर अबाधित व्यापार की पद्धति स्वीकार की थी तो उस समय उससे बड़ी सफलता प्राप्त हुई और लोग कहने लगे कि यही नीति संसार भर में माननीय हो जायगी। परन्तु अब सिवा इँगलिस्तान के और कोई देश इस नीति का अनुयायी नहीं है। और यह कोई नहीं जानता था कि जिस 'रक्षित व्यापार' की नीति को लोगों ने बुरा समझा था वही फिर लाभदायक समझी जायगी। जर्मनी और फ़्रांस ही नहीं बल्कि यूनाइटेड स्टेट्स, कनाडा और आस्ट्रेलिया में भी लोगों ने इसको स्वीकार किया है।

गत बीस वर्ष से 'अबाधित व्यापार'-नीति मन्द होती जाती है और उसके विपक्षियों की संख्या बढ़ती जाती है ।

डा० वाट्स सरकार की निकासी खाते के रिपोर्टर थे—उन्होंने एक रिपोर्ट सरकार को दी थी, उसके आधार पर सन् १८९३ ईसवी में रानडे ने एक व्याख्यान औद्योगिक कान्फ़रेन्स में दिया था। उसका विषय था 'हिन्दुस्तान की कारीगरी और उसकी भावी दशा'। इसमें प्रान्तवार यह दिखलाया था कि रुई, रेशम, ऊन, काग़ज़, चमड़ा, शराब, साबुन, डोरी, चीनी, आटा वग़ैरा के कितने कारख़ाने हैं। चाय, कहवा कितनी पैदा होती हैं; और उनमें से दूसरे देशों को कितना भेजा जाता है। सोना, चाँदी, कोयला, लोहा कितने निकलते हैं, उनमें से कितना यहाँ काम आता है और कितना बाहर भेजा जाता है। कारीगर छोटे बड़े कितने हैं और फ़ी सदी उनकी कितनी संख्या है। यह सब बातें रानडे ने बड़ी उत्तमता से दिखलाई थीं। हमें अपनी औद्योगिक स्थिति को शीघ्र सुधारने के लिए उपदेश करते हुए उस व्याख्यान में उन्होंने कहा था:—"हमको सफल मनोरथ होने के लिए अमूल्य साधन प्राप्त हैं। प्राकृतिक अनुकूलता, अपेक्षित परन्तु अपरिपक्व साधन, शान्ति और योग्य व्यवस्था, दुनिया भर से व्यापार करने के लिए खुला मार्ग, एशिया भर का बाज़ार, यह सब साधन उपस्थित हैं। यदि हम प्रयत्न करें तो सफलता अवश्य प्राप्त हो।"

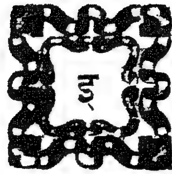
रानडे ने ऐसे अनेक लेख लिख कर, व्याख्यान देकर और

जिस तरह बन सका औद्योगिक उन्नति के लिए बड़ा परिश्रम किया था। अपने विचारों की पुष्टि के लिए प्रमाण देकर और संख्या से स्पष्ट दिखा कर वे कुशलता से अपने मत का प्रतिपादन करते थे। उनके लेखों और व्याख्यानों की बड़ी प्रशंसा होती थी। उनका देहान्त होने पर 'टाइम्स आफ़ इंडिया' में जो लेख निकला था उसमें औद्योगिक कान्फ़रेन्स पर उनके लेख को इस प्रकार प्रशंसा की गई थी :—

"एक समय उन्होंने भारतवर्ष के औद्योगिक पुनरुद्धार के लिए पूना की सार्वजनिक सभा के त्रिमासिक पत्र में एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने उन्नति की योजना बतलाई थी। उस लेख में उनकी अनेक विषय-ज्ञान-सम्पन्न बुद्धि की प्रस्तुत विषय पर विचार करने और मुख्य उद्देशों के संग्रह करने की शक्ति की देश के समस्त समाचारपत्रों ने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की थो"।

नवाँ अध्याय

गृह-संसार।



इस अध्याय में रानडे के कुटुम्बियों और सहाध्यायियों का हाल लिखा जाता है, और साथ ही रानडे के सम्बन्ध में जो जानने योग्य व्यक्ति-गत बातें हैं उनका भी वर्णन किया जाता है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि जब रानडे केवल ११ वर्ष के थे तब उनकी माता गोपिका बाई का देहान्त हो गया था। माता के मरने के सोलहवें दिन ही उनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। अगले वर्ष, अर्थात् सन् १८५४ ईसवी में, जब रानडे की अवस्था १३ वर्ष की थी तब उनका भी विवाह बाई स्थान के दाँडेकर की पुत्री और इचलकरँजी रियासत के राज्यकर्ता की स्त्री यशोदा बाई की छोटी बहन, सखू बाई से कर दिया गया। इस प्रकार रानडे, उनकी सौतेली माता और छोटी बहन दुर्गा अक्का, तीनों एक ही उम्र के थे। तीनों की शिक्षा एक सी होती रही। रानडे के पिता सुधरे हुए विचारों के नहीं थे परन्तु थे स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती और इस विषय पर उनके विचार बड़े उदार थे। उन्होंने अपनी स्त्री, पुत्र-वधू और पुत्री को शिक्षा

दी तथा जितनी शिक्षा उस समय कोल्हापुर में दी जा सकती थी उतनी देकर उनको गृहिणी-कर्त्तव्य भली-भाँति समझाया।

रानडे की पत्नी सखू बाई विनोद-प्रिय, सुशील, आज्ञाकारी और पति-भक्त थीं। इन गुणों के कारण वे थोड़े ही दिनों में अपने पति के लिए मित्रवत् हो गईं; परन्तु क्षयी रोग हो जाने से ३ अक्तूबर सन् १८७३ ईसवी में पूना में उनका देहान्त हो गया। सद्गुणी प्रिय-पत्नी की बीमारी में रानडे ने स्वयं उनकी शुश्रूषा की थी। इसमें उनको बड़ी मेहनत पड़ी थी और कितनी ही रातें तो उनको जाग जाग कर वितानी पड़ी थीं। रानडे को इस घटना से बड़ा क्लेश हुआ। श्रीमती रमाबाई रानडे ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि उनके मरने के बाद रानडे को एक वर्ष तक अतिशय दुःख हुआ। एक दिन भी ऐसा नहीं गया कि उनकी याद कर रानडे की आँखों में पानी न आया हो। उनको जो दारुण दुःख हुआ उसका आभास, रा० ब० मानकर पर कौटुम्बिक आपत्ति आ पड़ने पर रानडे ने सान्त्वना देने के लिए जो पत्र लिखा था उससे मालूम होता है। रानडे ने लिखा था:—"मुझ पर जो आपत्ति आई है वह भी ऐसी ही दुःख-दायक है। ऐसी आपत्ति मनुष्य को व्याकुल कर देती है और कभी कभी तो धार्मिक लोग भी अपवित्र निराशा में आ गिरते हैं और परमेश्वर की वास्तविक आज्ञा के विरुद्ध जाने लगते हैं। तुमको इस समय जो धक्का लगा है वह कैसा ही क्यों न हो, पर तुम स्वयं ऐसे सद्गुणी और श्रद्धालु हो कि तुम्हारी ईश्वर

में श्रद्धा कम न होगी। मित्रगण ऐसा आश्वासन दिया करें तो वह रुचिकर नहीं हो सकता। जब शोकार्त्त अंतःकरण को यह अनुभव होता है कि संसार में अखण्ड सुख की प्राप्ति असम्भव है, तभी ऐसा आश्वासन हमको रुचिकर मालूम होता है।"

इसके एक महीने बाद रानडे का दूसरा विवाह देवराष्ट्र के चिपलूनकर अथवा कुरलेकर की पुत्री से हुआ। दूसरी पत्नी श्रीमती रमाबाई रानडे भी बड़ी सुशील, सद्गुणी, समझदार और पति भक्ति-परायणा होने से जैसा कुटुम्ब-सुख चाहिए वैसा रानडे को मिला था। पहली पत्नी के मरने पर रानडे ने किसी विधवा से विवाह क्यों न किया? इस बात पर उन दिनों बड़ी चर्चा हुई। इसके कारण रानडे का मन बड़े उद्वेग और चक्कर में रहा करता था। इस समय पर उनकी पत्नी उनको बड़ी शान्तिदायक हो गई थीं।

अपनी पत्नी सब प्रकार से सहायक हो, इसलिए रानडे ने उनको आधुनिक समय के अनुसार शिक्षा देने का सुयोग्य प्रबन्ध किया था। मराठी की पूरी शिक्षा समाप्त होने पर अँगरेज़ी की शिक्षा भी उनको दी गई। पढ़ाने का काम रानडे स्वयं करते थे और वह भी इस युक्ति से कि श्रीमती रानडे—जो विवाह से पहले एक अक्षर भी नहीं जानती थीं—अपनी बुद्धिमानी और पति की सहचारिणी बनने की उत्सुकता के कारण ऐसी निपुण हुईं और रानडे की शिक्षा को उन्होंने ऐसा सार्थक किया कि थोड़े समय में ही वे महाराष्ट्र में विदुषी और कुलीन स्त्रियों में



श्रीमती रमाबाई रानडे ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

अग्रगण्य समझी जाने लगीं। श्रीमती रानडे ने अपनी पुस्तक में अपनी शिक्षा का हाल बड़ी रसिकता से लिखा है। अँगरेज़ी, मराठी और बँगला की शिक्षा उन्होंने प्राप्त कर ली। अपने पति के आदेशानुसार उनको स्त्री-समाजों में व्याख्यान भी देने पड़ते थे जिससे कि आज श्रीमती एक अच्छी वक्ता समझी जाती हैं। श्रीमती रानडे अपने पति को मराठी लिखने-पढ़ने में बड़ी सहायता करने लगी थीं और साथ साथ अँगरेज़ी भी अच्छी तरह सीखती जाती थीं। रानडे की मृत्यु के बाद उन्होंने पूज्यभाव से रानडे के जो धार्मिक व्याख्यान छपवाये हैं उनकी भूमिका स्वयं श्रीमती रानडे ने लिखी है और अब हाल में ही 'हमारे जीवन की कुछ बातें' नामक पुस्तक लिखी है जिसकी सर्वत्र बड़ी प्रशंसा हुई है। भूमिका और इस पुस्तक के देखने से इस बात का पता चलता है कि मराठी भाषा का ज्ञान उनको कितने ऊँचे दर्जे का है। बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रे के प्रमुखत्व में, पूना में, फ़ीमेल ट्रेनिङ्ग हाईस्कूल का इनाम बाँटने का पहला जलसा हुआ था। उसमें श्रीमती रानडे का अँगरेज़ी में व्याख्यान हुआ था। जिन लोगों ने उस व्याख्यान को सुना था, वे कह सकते हैं कि उनको अँगरेज़ी भाषा का ज्ञान भी बहुत अच्छा है। रानडे बहुत वर्षों तक 'दक्षिणा प्राइज़ कमिटी' के सभासद थे। इससे उनके पास समालोचना के लिए बहुत सी पुस्तकें आया करती थीं; और लेखक भी उनकी सम्मति जानने के लिए अपने लेख और पुस्तकें भेजा करते थे।

श्रीमती रमाबाई ये सब पुस्तकें अपने पति को पढ़ कर सुनाती थीं; और जो राय या समालोचना उनकी समझ में आती उसे लिख कर रानडे को दिखलाती थीं। रानडे जो पसंद करते थे वह समालोचना लिख कर भेज दी जाती। इसके अतिरिक्त समाचार-पत्रों को पढ़ कर सुनाने का काम भी श्रीमती रमाबाई ही करती थीं। बम्बई जाने पर रानडे के पास उनके भाई, बहन के जो पत्र आते थे उनको वे श्रीमती रमाबाई से पढ़वाते थे और उन्हीं से उनका उत्तर लिखाते थे। श्रीमती को धार्मिक शिक्षा और ज्ञान प्राप्त कराने के लिए बम्बई में वे अपने साथ प्रत्येक रविवार को प्रार्थना-समाज में ले जाते थे। जब प्रदेश में होते तो रानडे स्वयं धार्मिक शिक्षा देते थे और उपदेश किया करते थे। इन्हीं उपदेशों का श्रीमती रमाबाई के मन पर बड़ा असर हुआ है और यह इसी कारण का फल है कि रानडे की मृत्यु के बाद श्रीमती ने उनके धार्मिक व्याख्यानों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया।

रानडे संसार-सुधार और धार्मिक प्रवृत्तियों में ग्रस्त रहते थे तो श्रीमती रमाबाई उनकी प्रेरणा से स्त्री-समाजों में अग्रभाग लेती थीं। वे स्वयं समाजों में जाकर भावपूर्ण और बोधदायक व्याख्यान देती थीं। वे बम्बई के 'हिन्दूलेडीज़ सोशल क्लब' की मन्त्री बनाई गई थीं और उसके कामकाज को बड़ी होशियारी से करती थीं। इस प्रकार वे स्त्री-सभाओं में सुधार, शिक्षा इत्यादि उपयोगी विषयों पर अपने सद्विचार प्रकट करतीं और हिन्दू स्त्रियों को स्वयं आदर्श होकर उत्तेजित करतीं। जब रानडे

'फिनेन्स कमिटी' के सभासद बनाये गये थे तो उनको हिन्दुस्तान में घूमना पड़ा था। उनके साथ श्रीमती रमाबाई भी रहीं थीं। इस तरह देशाटन से उनको अच्छा अनुभव प्राप्त हुआ। श्रीमती रमाबाई को अपने सम्बन्धियों से बड़ा स्नेह होने से और गुरुजनों के प्रति पूज्यभाव रखने से वे सबकी स्नेहपात्र हुई थीं। वेणीसंहार नाटक के इस वचनानुसार 'स्त्रीणां हि साहचर्याद्भवन्ति चेतांसि भर्तृसदृशानि' (स्त्रियों के मन पति की सहचारिणी होने से अपने पतियों के से हो जाते हैं) वे सब प्रकार से अपने पति के अनुकूल और अनुरूप बनी थीं। ऐसी सद्गुणी पत्नी के मिलने से रानडे को सम्पूर्ण गृह-सुख प्राप्त था।

अपने परम प्रिय और देश-विख्यात पति के मरने से श्रीमती रमाबाई को वैधव्य दुःख उठाना पड़ा है। इस असह्य संकट के समय देश में सर्वत्र उनके लिए समवेदना प्रकट की गई थी। बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड नार्थकोट और लेडी नार्थकोट ने उनके साथ सहानुभूति प्रकट की थी और जब वे दोनों पूना गये थे तो श्रीमती रानडे के मकान पर जाकर उनसे मिले थे।

श्रीमती रमाबाई अति पवित्र और सुशील हैं, इसलिए यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने पति के प्रति उनका असाधारण भक्ति-भाव था। रानडे की अन्तिम बीमारी में, उन्होंने उनकी कैसी सेवा की थी इसका वर्णन आगे किया जायगा। अनेक सद्गुणों के कारण उनके प्रति लोगों को बड़ा

ही उच्चभाव है और इसमें कुछ अतिशयोक्ति नहीं है कि श्रीमती रमाबाई का चरित्र आज कल की स्त्रियों के लिए अनुकरणीय है। रानडे-स्मारक के लिए जो सभा हुई थी उसमें मि० जस्टिस चन्दावरकर ने कहा था:—"दूसरी किसी वस्तु से बढ़कर यदि रानडे हमारी प्रशंसा के पात्र हैं तो वह यह कि वे अपने पीछे श्रीमती रमाबाई को छोड़ गये हैं। जिनके कारण समस्त देश को अभिमान है।"

वर्तमान समय की शिक्षित स्त्रियों में श्रीमती रमाबाई बड़ी पूज्य गिनी जाती हैं इसलिए छोटे बड़े स्त्री-समाजों में उनकी प्रेरणा के अनुसार काम होता है और बहुधा उनको प्रमुख का आसन दिया जाता है। सन् १९०४ ईसवी में 'सोशल कान्फ़रेन्स' के साथ बम्बई में 'भारतमहिला-परिषद्' की बैठक हुई थी उसमें श्रीमती रमाबाई प्रमुख बनाई गई थीं। उस समय उन्होंने मराठी में एक मनोरञ्जक और अतिबोधदायक व्याख्यान दिया था; और परिषद् का काम ऐसी कुशलता से किया था कि उनका प्रमुख बनाया जाना योग्य सिद्ध हुआ। बम्बई सरकार ने उनको यरोडे के ज़नाने जेलख़ाने का ग़ैर सरकारी विज़िटर बनाया है। इसके अनुसार श्रीमती रमाबाई जेल की स्त्रियों से मिलने जाती हैं। वे उनका हाल पूछती हैं और सदुपदेश देती हैं।

अपने पति की अनुगामिनी होकर श्रीमती रमाबाई देशहित के कामों में अग्रभाग लेती हैं। वे बम्बई और पूना के सेवा-सदन की स्तम्भरूप हैं और प्रति दिन निश्चित समय उसके काम

में देती हैं। दवाखानों में बीमारों की दशा स्वयं पूछती हैं और उनके इलाज में मदद देती हैं। सन् १९११ ई० में चारे और घास का बड़ा भारी अकाल पड़ा था, उस समय अनेक स्थलों की देख-भाल कर और पालनपुर जैसी दूर जगह जाकर पशुओं की प्राण-रक्षा के लिए उन्होंने चन्दा जमा किया था। सेवा-सदन की व्यवस्थापिका और पूना के विधवाश्रम की सहकारी मन्त्री होकर उन्होंने जो देश-सेवा की है उसके उपलक्ष में सरकार ने प्रसन्न होकर १ जनवरी सन् १९१३ को उन्हें 'क़ैसर हिन्द' का चाँदी का पदक दिया है। आर्य-स्त्रियों में ऐसी बहुत ही थोड़ी हैं जिन्होंने यह सम्मान प्राप्त किया है, उनमें श्रीमती रमाबाई आगे हैं और वास्तव में उनके लिए यह बड़ी शोभा की बात है।

रानडे की तरह श्रीमती रमाबाई अपने नौकर चाकरों से बड़ी ममता से बर्ताव करती हैं। उनकी एक टहलनी को प्लेग हो गया था तब उन्होंने स्वयं उसकी शुश्रूषा बिलकुल निर्भय होकर की थी। प्लेग ने उन पर भी अपना कोप दिखलाया था और आघात किया था परन्तु सौभाग्य से वे उससे मुक्त हो गईं।

श्रीमती रमाबाई की पतिभक्ति किस प्रकार की है, वह उनके उस व्याख्यान से मालूम होता है जो उन्होंने भारत-महिला-परिषद में प्रमुख की हैसियत से दिया था। अपने पूज्य पति के सम्बन्ध में उन्होंने भावयुक्त शब्दों में अपनी वैधव्यदशा को सूचित करते हुए कहा था—"यह सत्य है कि उत्तमोत्तम,

प्रेममय और पवित्र सहवास में मेरे जीवन के २७ वर्ष सार्थक हुए हैं और उसके परिणाम में अपने मन की स्थिति के लिए यह योग्य नहीं है कि मैं सदा विलाप करती रहूँ । अब तो यही योग्य और उचित है कि दैव-इच्छा से जो दशा प्राप्त हुई है उसी में रह कर उनके चरण-कमलों का चिन्तन करती हुई जीवन बिताऊँ और अपने कर्त्तव्य में सदा तत्पर रहूँ । परन्तु अत्यन्त खेद से मैं यह स्वीकार करती हूँ कि मुझ में इतनी सामर्थ्य नहीं । वे (रानडे) निरन्तर यह उपदेश किया करते थे कि 'सुख और दुःख दोनों देह के भोग हैं या मन के विकार हैं । उनको बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिए । प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्त्तव्य में लगे रहना चाहिए । इस प्रकार बर्ताव रखने से मनुष्य-जीवन सार्थक होता है' । इसी बोध के अनुसार उनका व्यवहार होता था । रात की रात काम करते बीत जाती । उनकी छाती में दर्द भी होने लगता परन्तु काम के सामने वे सब भूल जाते । वे देह-सम्बन्धी विकारों को भूल जाते थे । इस प्रकार उनकी कर्त्तव्य-परायणता और उद्योग पर अत्यन्त प्रीति थी । ऐसा सहवास मिलने पर भी मुझको वह सामर्थ्य प्राप्त न हुआ ! उस दैवी गुण का मुझे अल्प अंश भी नहीं मिला । यह बात मुझे खेद से स्वीकार करनी पड़ती है । नहीं तो क्या यह उचित बात है कि जिस कार्य में उन्होंने पिछले १८ वर्ष तक तन, मन, धन से परिश्रम किया और उस प्रवृत्ति में उनके साथ मैंने भी थोड़ा सा भाग लिया उसमें, सम्मिलित होने के

लिए आपकी ओर से गुरुवर्य डा० भाण्डारकर मुझसे कहें या आग्रह करें ? जो हो; आज मैं आप लोगों के सामने खड़ी हूँ और आज आपने मुझे जो प्रमुख का स्थान दिया है उसका मर्म मैं समझती हूँ। मैं कोई पण्डिता नहीं हूँ जिसके कारण मुझे यह स्थान दिया गया है। देवताओं के चरण-कमलों में जो पुष्प अर्पण किये जाते हैं उनकी निर्माल्य अवस्था हो जाने पर भी उनको हम एक विशेष भाव से देखती हैं और उनका आदर करती हैं। ऐसी ही भावना से और हेतु से प्रेरित होकर आपने आज मेरा सम्मान किया है और मुझको यह एक असाधारण भूषणरूप मालूम होता है जिसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।"

रानडे के पिता का देहान्त सन् १८७७ ईसवी में कोल्हापुर में हुआ। उनके मरने पर रानडे ने अपनी सौतेली माता और उनके दोनों पुत्रों को—अपने भाइयों को—अपने पास बुला लिया। रानडे इस बात का बड़ा विचार रखते थे कि उनको किसी बात का बुरा न मालूम हो और उनको कोई खेद न हो। श्रीमती रानडे ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि रानडे सब कुटुम्बी जनों को प्रसन्न रखते हुए गृहस्थी का काम चलाते थे और एक आदर्श कर्त्ता थे। उनके छोटे भाई श्रीयुत नीलकण्ठराव का कहना है कि रानडे उनको भाई की तरह नहीं मानते थे बल्कि पिता के समान छोटे भाइयों पर स्नेह रखते थे। उन्होंने अपने दोनों भाइयों को शिक्षा दी और क्रम से उनका विवाह—पूना के इञ्जिनियरिङ्ग विभाग के एकाउन्टेन्ट राव साहब दामोदर

जनार्दन गोखले, और बम्बई एलफिन्स्टन हाई स्कूल के हेड मास्टर रा० सा० वामन आबाजी मोडक, कुलीन गृहस्थों के यहाँ किया। नीलकण्ठराव को मैट्रिक तक शिक्षा दिला कर रानडे ने सन् १८८६ ईसवी में ५००० रु० ज़मानत के दाखिल करके 'सैकन्ड बाम्बे लैन्सर्स' नामक फ़ौज में 'कमिशन्ड आफ़िसर' की जगह दिलवादी। परन्तु फ़ौज में स्थायीरूप से जगह मिलने में बहुत दिन लगते देख कर सन् १८८८ ईसवी में उनसे नौकरी छुड़वादी और ५००० रु० वापिस ले लिये। उन्होंने इन्दौर में उनको फिर तुरन्त दूसरी जगह नौकरी दिलवाई। महाराजा हुल्कर ने उन्हें अपने दूसरे रिसाले में लेफ्टिनेन्ट एज्युटेन्ट की जगह दी। सन् १८९४ ई० तक यहाँ काम करने पर उन्होंने स्पेशल जज की जगह काम किया और फिर इन्दौर में खफ़ीफ़ा के जज रहे। अब थोड़े दिन से पैन्शन लेकर वे निवृत्त हुए हैं। कुछ वर्षों के लिए, बीच में, महाराजा शिवाजीराव हुल्कर ने उन्हें पूना, पंढरपुर और जजोरी में मुक़द्दमों की निगरानी के लिए भेजा था।

दूसरे भाई श्रीपदराव ने भी उच्च शिक्षा प्राप्त की है। उन्होंने बम्बई के ग्रान्ट मेडिकल कालेज में पढ़ कर डाक्टरी की एल० एम० एस० की डिगरी ली है। कुछ काल तक स्टेट सर्जन रह कर आप काठियावाड़ में वढवान, माँगरोल और पोरबन्दर में रहे। फिर सन् १९०० ई० में, जब दक्षिण अफ्रिका में बूअरों की लड़ाई हो रही थी उस समय वे वहाँ चले गये। बम्बई के

नामी सेठ दामोदरदास सुखड़वाला ने बहुत से डाकृरों को लड़ाई पर भेजा था, उनमें से एक श्रीपदराव भी थे। अपने पूज्य बड़े भाई की मृत्यु का समाचार सुन कर वे दक्षिण अफ्रीका से वापिस आ गये। इसके बाद वे सकुटुम्ब विलायत गये। वहाँ एडिनवरा में डाकृरी की परीक्षा पास की और एल० आर० सी० पी; आर० सी० एस, तथा डी० पी० एच० की डिगरियाँ लीं और लन्दन में आकर 'ट्रापिकेल स्कूल' में गरम देशों की विशेष व्याधियों के सम्बन्ध में शिक्षा प्राप्त की और परीक्षा पास कर अब आप बम्बई में डाकृरी करते हैं।

इससे मालूम हो जाता है कि रानडे अपने छोटे भाइयों पर सगे भाइयों से भी विशेष प्रेम रखते थे। शिक्षा दिला कर उनको केवल रोज़गार से ही नहीं लगाया था बल्कि वे इसका भी सदा विचार रखते थे कि उनका भविष्य में श्रेय हो। अवसर पाकर आप उन्हें शिक्षा भी करते थे। श्रीयुत नीलकण्ठ-राव जब इन्दौर में इजरा के महकमे के जज बनाये गये उस समय रानडे ने उन्हें एक पत्र लिखा था जिससे मालूम होता है कि उनका भाइयों के लिए कैसा स्नेह था। उन्होंने लिखा था:—

तासगाँव। ६। नवम्बर १८६०।

प्यारे भाई,

५ तारीख़ का तुम्हारा पत्र आया। महाराजा ने तुमको इजरा महकमे का न्यायाधीश बनाया है इसके लिए मैं उनको पूर्ण रीति से धन्यवाद देने में असमर्थ हूँ। यहाँ पर, मैं तुम्हें कुछ शिक्षा देना चाहता हूँ।

तुम्हारे प्रपितामह कर्नाटक में नौकरी करते थे और ५००० सवारों के अफ़सर थे। उन्होंने अपने स्वामी को हानि पहुँचाने के बदले सिंहगढ़ में क़ैदी बन कर रहना स्वीकार किया था। तुम्हारे दादा ने ४० वर्ष तक ब्रिटिश सरकार की नौकरी करके पेन्शन ली थी। तुम्हारे पिता ने भी ४० वर्ष तक कोल्हापुर राज्य की सेवा करके पेन्शन ली थी। और तुम्हारे भाई ने भी अपनी नौकरी के २५ वर्ष अभी पूरे किये हैं। इन सब को देखने से मालूम होगा कि तुम्हारे बड़ों ने सुयश की प्राप्ति की न कि धन की। फ़ौजी काम के मुक़ाबिले में तुम दीवानी का काम ज़्यादा अच्छी तरह कर सकोगे। जैसे हो, तुमको चाहिए कि अपने राजा को, अफ़सरों को और अपने अन्तःकरण को सन्तुष्ट रखना और उनसे सत्यता का व्यवहार करना। अन्तःकरण से जो शब्द निकलता है वह तुम्हारे काम में सहायभूत होगा और उसके अनुसार तुम प्रामाणिकता से अपना काम कर सकोगे। तुम्हें काम में जो शङ्का उत्पन्न हो उसके बारे में जब आवश्यकता हो मुझसे पूछते रहना। ब्राउटन का ज़ाब्ता दीवानी भेजता हूँ। क़ानून की कोई उलझन तुम्हारे काम में पड़े तो मुझसे पूछ लेना। मैं तुम्हारी शङ्काओं के समाधान करने का यत्न करूँगा। महाराजा साहब ने तुम पर जो उपकार किया है और तुम्हारे द्वारा हम सब पर किया है उसके लिए मेरी ओर से उनके सम्मुख कृतज्ञता प्रकट करना। मैं इस महीने के अन्त में सतारा ज़िले में अपना दौरा पूरा करूँगा।

सखू को चेचक निकली है। हमको आशा है, जल्दी आराम हो जायगा। अपनी तबीयत ठीक रखना। ख़ूब कसरत करना और गाड़ी ख़रीदने का इरादा मत करना क्योंकि ऐसा करने से तुम घोड़े पर चढ़ना छोड़ दोगे। जो इस बात का पूरा इरादा कर लो कि अपनी शक्ति को बनाये रखोगे तो गाड़ी ले लेना। फिर भी उसे अपने काम में मत लाना, तुम्हारी स्त्री उसका उपयोग करे तो कुछ हर्ज नहीं है।

एम० जी० रानडे

सन् १८८६ ई० में नीलकंठराव के हाथ से बन्दूक़ छूट जाने से पाँच, छः आदमियों को चोट लगी थी। उस समय रानडे को बड़ी चिन्ता हुई। महाराजा हुल्कर की आज्ञानुसार इन्होंने १०० रु० तुरन्त ही हर एक आदमी को, जिस जिस को चोट लगी थी, दे दिये और अपने भाई के संकट को दूर कर दिया।

छोटे भाई श्रीयुत श्रीपदराव जब पूना के डेकन कालिज में पढ़ते थे तब उनको नदी में तैरने और नाव चलाने का बड़ा शौक़ हो गया था। रानडे ने उनके लिए एक नाव ख़रीद कर उनकी इच्छा पूरी की। जब श्रीपदराव पहली बार एल० एम० एस० की परीक्षा में पास न हुए तो उनको बड़ा खेद हुआ था; यहाँ तक कि वे घर भी न आये थे। रानडे ने यह समझ कर कि कहीं वह कोई काम अनुचित न कर डाले, अपनी पत्नी को कालिज में भेज कर उनको बुलवा लिया था और उनके खेद को दूर करने का, कितने ही प्रकार से, प्रयत्न करके उनको फिर उत्साह दिलाया था।

रानडे की बहिन दुर्गा अक्का उनसे दो तीन वर्ष छोटी हैं। छोटी अवस्था में विधवा हो गई थीं, इससे रानडे का उन पर अत्यन्त स्नेह था। रानडे के पिता का देहान्त हो जाने पर दुर्गाबाई पूना में रह कर ज़िमींदारी का काम देखती थीं और बड़ी चतुराई से गृह-प्रबन्ध करती थीं। रानडे को अपनी बड़ी गृहस्थी की देख भाल के लिए समय कम मिलता था, इस लिए दुर्गा अक्का से उनको बड़ी सहायता मिलती थी। अब भी उनकी

बहिन श्रीमती रमाबाई के साथ रहती हैं और जायदाद का प्रबन्ध करने में बड़ी सहायता करती हैं ।

रानडे के पास घर के लोगों के सिवा दूसरे सम्बन्धी, नौकर चाकर और विद्यार्थी लोग बड़ी संख्या में रहते थे । इससे घर में सदा बड़ी चहल पहल रहती थी । इतने लोग घर में रहते थे फिर भी कुटुम्बी लोग उनकी बरदाश्त रखते थे और रानडे स्वयं समय समय पर उनकी पूछताछ किया करते थे ।

गृहव्यवस्था में रानडे स्वयं बहुत हस्तक्षेप नहीं करते थे । पिता के मरने पर उनकी तनख़्वाह और रुपये पैसे तथा हिसाब श्रीमती रमाबाई के पास रहता था । श्रीमती रमाबाई बराबर हिसाब रखतीं और गृहस्थी के काम काज देखती थीं । रानडे स्वयं कभी कोई वस्तु मोल नहीं लेते थे । यह बड़ाई के कारण नहीं, बल्कि अपने सरल स्वभाव से । श्रीमती रानडे का कहना है कि कलकत्ते में बँगला पुस्तकें उन्होंने पहले ही पहल अपने आप मोल ली थीं । यह उनका पहला सौदा था ।

रानडे जितना प्रेम अपनी माता, भाई, बहिन पर रखते थे उतना ही श्रीमती रमाबाई पर भी रखते थे । उनके निरभिमानी और विवेकी होने से कोई भी ऐसा नहीं था जिसको सन्तोष न हो । विद्या और लक्ष्मी जैसी ईश्वर ने उनको दी थी उसी के अनुसार गृहव्यवस्था भी थी, इससे सबको आनन्द होता था । सांसारिक दृष्टि से देखा जाय तो यह बड़े खेद की बात है कि

उनके कोई सन्तति नहीं है परन्तु वे कभी इसके कारण दुःखी या चिन्तातुर नहीं दिखाई देते थे।

श्रीमती रमाबाई के कोई सन्तान नहीं, इससे इन्होंने सखूबाई नामक अपनी एक माता-पिता-विहीन भतीजी को जन्म से पाला था। सन् १८८० ईसवी से, जब से सखूबाई का जन्म हुआ तभी से श्रीमती रमाबाई ने उसे अपने पास रखा। उसका विवाह भी किया, परन्तु छः वर्ष हुए कि एक पुत्र का जन्म देकर उस का देहान्त हो गया। श्रीमती रमाबाई को इससे बड़ा खेद हुआ। 'हमारे जीवन की कुछ बातें' नामक अपनी पुस्तक श्रीमती रमा-बाई ने स्वर्गस्थ सखूबाई को समर्पित की है।

रानडे ने अपने भाई नीलकंठराव के पुत्र को गोद लेने की इच्छा दर्शाई थी। इसके अनुसार लड़के के नामाभिधान के दिन नीलकंठराव ने उसको रानडे के अधीन किया था। रानडे का विचार था कि दत्त-विधान की क्रिया उसके यज्ञोपवीत से पहले हो जाय ताकि वे स्वयं उसका यज्ञोपवीत कर सकें। यदि इससे पूर्व ही उनका देहान्त हो जाय तो पत्नी को यह अधिकार अपनी वसीअत में लिख दिया था। उसी आज्ञानुसार श्रीमती रमाबाई ने नीलकंठराव के पुत्र चि० नारायणराव उपनाम नानु को १९ मार्च सन् १९०४ ई० में गोद लिया है। नारायण की अवस्था इस समय (सन् १९१४ में) २०, २१ वर्ष की है और इस समय वे बम्बई के ग्रान्ट मेडिकल कालिज में डाक्टरी पढ़ रहे हैं। लोगों की यही इच्छा है कि श्रीमती रमाबाई के सुस्वभाव और सुशिक्षा

से वह अपने सुविख्यात पिता के उत्तम गुणों का अनुकरण कर कीर्ति सम्पादन करें।

रानडे अपने नौकरों का भी हाल पूछा करते थे। यदि उनसे कोई दोष या भूल हो जाय तो अपने क्षमाशील स्वभाव के कारण कभी क्रोध नहीं करते थे और न नौकरी से अलग करते थे। जब अन्तिम अस्वास्थ्य के कारण उन्होंने छुट्टी ली थी तो उनके अर्दली के सिपाहियों ने रोते रोते उनसे बिदा ली थी। चोबदार उनके पैरों पर सिर रख कर रोने लगा था। इसे देख कर उनकी आँखों में भी पानी आगया था। यदि उनके नौकरों में कोई बीमार होजाता तो वे उसकी बड़ी चिन्ता करते और उसके इलाज का प्रबन्ध कर देते थे। प्लेग के समय उन्होंने अपने नौकरों की बड़ी फ़िक्र की थी। श्रीमती रानडे ने इस संबंध में अपनी पुस्तक में विस्तार से लिखा है। यहाँ पर दो एक घटनाओं का वर्णन दिया जाय तो निरुपयोगी न समझा जायगा।

सन् १८९९ ई० की गरमी की छुट्टी में रानडे महाबलेश्वर पर 'माइट कॉटेज' में सपरिवार रहे थे। एक दिन, वे रोज़ की तरह, मित्रों के साथ घूम फिर कर आ रहे थे कि उनको लू लग गई और उनकी तबीयत बहुत बिगड़ गई। डाक्टरों ने कहा कि 'ब्रेन फ़ीवर' हो गया है और उनके दिमाग़ में बुख़ार की गरमी पहुँच गई है। गणू नाम का एक नौकर उनके पैरों पर घी मसलने बैठा था। रानडे के पैरों में मोज़े थे, उन्हीं पर उसने घी मलना शुरू कर दिया। मोज़ों को उसने देखा ही नहीं।

रानडे को इस पर क्रोध के बदले हँसी आई। उनकी पत्नी चारपाई के पास बैठी कुछ पढ़ रही थीं। रानडे को बीमारी में अकारण हँसते देख कर वह डर गईं और आश्चर्य से पास जाकर पूछने लगीं 'क्या हुआ ?'। रानडे को नौकर पर ऐसी हँसी आ रही थी कि वह रुकी नहीं; परन्तु श्रीमती रमाबाई को चिन्ताकुल देख कर उन्होंने हँसी का कारण बतला दिया। तब नौकर मोज़े उतार कर घी मलने लगा परन्तु रानडे ने उससे एक भी कड़ा शब्द नहीं कहा। बजाबा नाम का एक नौकर रानडे के पास २५ वर्ष तक रहा और अब भी वह श्रीमती रमाबाई की सेवा में है। क्योंकि प्रामाणिक नौकरों को वे कभी अपने पास से आजीवन अलग नहीं होने देते थे। रानडे एक रात को, जाड़े के दिनों में, पैर धोने के लिए खड़े थे। बजाबा ने जल्दी से गरम पानी का बर्तन चूल्हे पर से उठा कर उनके पैरों पर उबलता हुआ पानी डाल दिया। जल्दी पैर धुलाने के विचार में उसने, ठंडा पानी मिलाये बिना ही, गरम पानी पैरों पर डाल दिया। रानडे के पैर जल गये और कितने ही दिन तक उनको तकलीफ़ सहनी पड़ी; पर उन्होंने बजाबा से सिर्फ़ इतना ही कहा "ऐसी जल्दी करने की आवश्यकता ? मेरे पैर जला दिये, ऐसी मूर्खता का काम किया।"

रानडे की पहली पत्नी जब अपने पति के घर आई थीं तो उनके साथ वामन पाण्डुरंग जोशी नाम का एक ८ वर्ष का लड़का भी कोल्हापुर में रहने आया था। रानडे के पिता ने जोशी

को शिक्षा दी और फिर पंढरपुर में नौकर करा दिया । जोशी पेंशन लेकर रानडे से लोनावला में मिलने आये तो उन्होंने पूछा "वामनराव अब तुम्हारा क्या काम करने का विचार है ?" उन्होंने कहा—"मैंने पेंशन ले ली है; अब मैं चैन करूँगा ।" रानडे को यह बात पसन्द न आई । इससे जोशी को उन्होंने अपने घर का काम-काज करने के लिए रख लिया । अब भी जोशी श्रीमती रमाबाई के पास रह कर उनके मुख्य-कारभारी की तरह काम करते हैं । रानडे के, अपने नौकरों को क्षमा करने के, दो दृष्टान्त और दिये जाते हैं । वे जानने योग्य हैं ।

उनके एक रसोइया ब्राह्मण को घर से चीज़ें चुरा ले जाने की आदत पड़ गई थी । वह कभी पकड़ा नहीं गया था, इस लिए छोटी बड़ी सब तरह की चीज़ें चुराने लगा था । एक बार वह लोहे की सन्दूक़ खोल कर गहने चुरा रहा था कि इतने में घर के दूसरे नौकरों ने उसे पकड़ लिया । नौकरों ने उसे पकड़ कर रानडे के सामने पेश किया । रानडे ने उस समय जो किया उसे सुन कर लोगों को अवश्य आश्चर्य होगा । और कोई मालिक होता तो चोर नौकर को पुलिस के हवाले किये बिना न रहता; परन्तु शान्त-स्वभाव रानडे ने यह कुछ नहीं किया । उसे गाँव को रवाने कर दिया ।

सन् १८९९ ई० में, गरमी के दिनों में रानडे लोनावला में थे । एक दिन उन्होंने एक बड़ी उम्र के लड़के को कुछ सरकारी

काग़ज़ात डाक में डालने के लिए भेजा। यह लड़का रानडे के पास रहता था और उनकी देख रेख में शिक्षा पाता था। डाक में डालने के लिए जो काग़ज़ात दिये थे वह रानडे की लिखी हुई उस ख़ूनी मुक़द्दमे की तजवीज़ थी जिसमें चापेकर बन्धु अभियुक्त थे। इस मुक़द्दमे को रानडे और जस्टिस पार्सन्स ने सुना था। रानडे ने अपना और जस्टिस पार्सन्स का फ़ैसला डाक में डालने के लिए उस लड़के को दिया था। थोड़ी देर बाद लड़के ने आकर जवाब दिया कि डाकघर जाते समय रास्ते में उससे लिफ़ाफ़ा खो गया। मकान से डाकघर दूर नहीं था, रास्ते में आदमियों की भीड़ भी नहीं थी और दिन में अचानक लिफ़ाफ़े का खो जाना आश्चर्य की बात थी। रानडे को विश्वास नहीं हुआ। लिफ़ाफ़े के खो जाने के थोड़ी देर बाद बम्बई और पूना में यह बात बड़ी शीघ्रता से फैल गई और फ़ैसले में जो बातें लिखी थीं वह भी लोगों को मालूम हो गईं। इससे मालूम हो गया कि लड़के ने लिफ़ाफ़ा चापेकर से मिले हुए लोगों को दे दिया था। लड़के की इस मूर्खता के कारण रानडे और उनके साथी जज को दूसरी बार फ़ैसला लिखना पड़ा था। पाठकों को यह जानने की इच्छा होगी कि रानडे ने इस लड़के को क्या दण्ड दिया। काम तो उसने ऐसा किया था कि वह घर से निकाल दिया जाता परन्तु रानडे ने उसे सिर्फ़ कड़ी फटकार बताई थी और कुछ दण्ड नहीं दिया। इस लड़के के पिता ने मरते समय उसे रानडे के भरोसे छोड़ा था। इससे रानडे ने

यह समझा कि उसे घर से निकाल देने में मरे हुए आदमी से विश्वासघात होगा। अपनी कीर्त्ति की इतनी परवा नहीं की जितनी मृत मनुष्य के इन पर भरोसा रखने की की, और लड़के को घर में ही रहने दिया।

इन सब बातों से जान पड़ता है कि रानडे अतिशय सुशील और क्षमावान् थे। नौकरों को उनसे किसी तरह की शिकायत नहीं थी, बल्कि बिना उनकी मरज़ी के रानडे कभी उनको अलग नहीं करते थे। एक नौकर को उन्होंने चोरी के क़ुसूर पर निकाला था। यदि उसे अलग न किया जाता तो सम्भव था कि वह बड़ी चोरी करने लग जाता या माल लेकर भाग जाता।

रानडे अपने काम को नियम से किया करते थे। उनकी समय-व्यवस्था जानने योग्य है। वे प्रातःकाल पाँच बजे उठा करते थे। एक घंटा ईश्वर का ध्यान करके हाथ मुँह धोते और फिर टहलने के लिए बाहर जाते थे। कपड़े पहिनने में उनका प्राइवेट सेक्रेटरी बम्बई के प्रसिद्ध समाचारपत्र 'टाइम्स आफ़ इन्डिया' और 'बाम्बेगज़ट' में से तार पढ़ सुनाता। सम्पादकीय और मुख्य लेख तथा अन्य नवीन समाचार पढ़ कर सुनाता था। आठ बजे तक रानडे बाहर घूमते और फिर मकान पर आकर हाईकोर्ट में पेश होने वाले मुक़द्दमों के काग़ज़ात देखते। फिर सुबह की डाक देख कर स्नान करते। स्नान करते, भोजन करते और कपड़े पहिनते समय गृह-व्यवस्था या जाति-सम्बन्धी बातें

करते और आये गये लोगों की पूछताछ करते। हाईकोर्ट में ११ बजे से ५ बजे तक बैठते, फिर वहाँ से उठ कर सीधे यूनिवर्सिटी की सभा में या और दूसरी किसी जगह–जहाँ से उनको निमन्त्रण आया हो—चले जाते और वहाँ होकर घर आते। घर आकर अपने प्राइवेट सेक्रेटरी को बतलाते कि किस चिट्ठी का क्या जवाब देना है। चिट्ठी लिख जाने के बाद समाचारपत्र या लेख आदि पढ़ते। रात के ९ बजे तक बाहर के सब कामों से निवृत्त हो भोजन के लिए उठते। रात्रि का भोजन वे बड़े शान्तभाव से करते और साथ साथ घर के सब लोगों से यथोचित बातें करते। विद्यार्थियों से पढ़ने का हाल पूछते, और अपनी बहिन दुर्गा अक्का से जायदाद के प्रबन्ध की बातें करते। भोजन कर चुकने पर, जो पुस्तकें उनके पास सम्मति और समालोचना के लिए आतीं उनको अपनी पत्नी से पढ़वा कर सुनते। रात के साढ़े दस बजे सो जाते। साढ़े छः घंटे तक वे पलँग पर रहते थे परन्तु देशसम्बन्धी बातों के विचार में और दूसरी प्रवृत्तियों में उनका मन घूमा करता था। विश्राम तो केवल तीन चार घंटे मिलता था।

रानडे अपना थोड़ा सा समय भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। समय की ऐसी व्यवस्था रखने पर भी रविवार या दूसरी किसी छुट्टी में अवकाश मिलता तो उसमें लेख, भाषण आदि तैयार करते थे और पुस्तकों को पढ़ कर अपनी ज्ञान-वृद्धि करते थे।

रानडे की रहन सहन बड़ी सादी थी। सुधारक होने पर

भी वे खाने पीने में पुरानी चाल के अनुयायी थे। दक्षिण घाट के लोग जैसा सादा भोजन करते हैं वैसा उनको पसन्द था। पान खाने का भी उनको व्यसन नहीं था। भोजन करने के बाद मुखवास के लिए चिकनी सुपारी या बदाम लेते थे। चाय को भी नियम से नहीं पीते थे, न उसकी आदत रखते थे। रुचि हो तो भोजन करने के उपरान्त या तीसरे पहर फल खाते थे। प्रति दिन प्राय: सवेरे नहीं तो सायंकाल को एक घंटे पाँच-छः मील घूमने की आदत थी। इसके बिना उनको चैन नहीं पड़ता था।

उनके कपड़े भी बड़े सादे होते थे। सिवा उस समय के जब हाईकोर्ट जाना हो या किसी सभासमाज में जाना हो, रानडे सदा देशी लिबास में रहते थे। घर में दक्षिणी धोती पहिनते थे। जाड़े के दिनों में फलालेन की बंडी पहिनते थे और दूसरी ऋतुओं में बदन में धोती ओढ़ते थे या कुरता पहन लेते थे। सिर पर टोपी पहिनते थे और पैरों में दक्षिणी चट्टी जूता। जब बाहर जाते तो अँगरखा या कोट और पतलून बूट पहिनते थे। गले में डुपट्टा भी डालते थे। उच्च पद को प्राप्त करने पर भी वे ऐसे ही सादे कपड़े पहिनते थे। अन्तिम दिन जिन कपड़ों को रानडे ने पहना था उनको, ज्यों के त्यों, श्रीमती रमाबाई ने एक आलमारी में सुरक्षित रख छोड़ा है जिनसे उनके लिबास की सादगी मालूम होती है।

रानडे का शरीर ऊँचा, गौरवर्ण और पुष्ट, परन्तु भारी था।

देखने में उनका शरीर सुडौल नहीं था। उनका विशाल और बाहर निकला हुआ कपाल, दयालु और मुसकराता सा मुख, और उसकी तेजस्वी तथा प्रौढ़ छाया—जिसके कारण अनजान को भी एक दम पूज्यभाव उत्पन्न हो—इसके सिवा रानडे की आकृति में कोई बात आकर्षक नहीं थी। सबसे प्रशंसनीय तो उनकी बुद्धि, शान्तता और मधुर नम्रता तथा आनन्दी मुख-मुद्रा थी जो शरीर में स्थित महान् आत्मा से प्रोत्साहित और प्रकाशित रहती थी। यदि शारीरिक सुन्दरता की कमी उनमें समझी जाय तो बुद्धि-बल और हृदय के अनेक गुणों ने—जिनके कारण देश के प्रसिद्ध सज्जनों में वे अग्रगण्य थे—उस न्यूनता को अच्छी तरह पूरा कर दिया था।

रानडे के शरीर पर कितनी ही बार अनिष्ट घटनायें हुईं परन्तु जिनका जन्म भारतभूमि के हित के लिए हुआ था उनकी आपत्तियों को दयालु भगवान् ने टाल दिया था। पहली घटना जब रानडे केवल दो, तीन वर्ष के थे तब हुई थी। उनकी माता बालक रानडे और छोटी लड़की दुर्गा अक्का को लेकर आंबे-गाँव से कोल्हापुर अपने पिता के घर जाती थीं। वे बैलगाड़ी में दोनों बच्चों को लेकर सो गईं, रात को न जाने किस तरह बालक रानडे सड़क पर गिर पड़ा और किसी को उसकी ख़बर भी नहीं हुई। गाड़ी आगे बढ़ती चली गई। एक मील गाड़ी से पीछे विट्ठलराव, रानडे के चचा, घोड़े पर चले आ रहे थे। उन्होंने अँधेरी रात में जंगल में बालक का रोना सुना। पास

जाकर देखा और उठाया तो अपने ही भतीजे को पाया । ईश्वर को अनेक धन्यवाद देते हुए उन्होंने घोड़ा बढ़ा कर गाड़ी को पकड़ा । उन्होंने अपनी भाभी को जगा कर पूछा कि दोनों बालक अच्छी तरह से तो हैं ! माता रानडे को न पाकर घबरा गईं । तब बिट्ठलराव ने बालक को देकर संकट और घबराहट को दूर किया । खोये हुए बालक को पाकर माता की आँखों में प्रेमाश्रु भर आये । यदि बालक रानडे अपने चचा को न मिला होता और कोई जङ्गली जानवर का भक्ष्य बन गया होता तो भारतवर्ष का एक महान् रत्न अल्प आयु में ही गुम हो जाता । परन्तु सौभाग्यवश ईश्वर की इच्छा अनुकूल थी ।

इसके सिवा रानडे कितनी ही बार भयङ्कर रोगों से ग्रस्त हो गये थे । अपने पिता का पहला वार्षिक श्राद्ध करने के लिए जब रानडे सन् १८७८ ईसवी में नासिक से पूना गये थे तब वहाँ उनको बड़ा भयङ्कर ज्वर आने लगा था । आठ दिन में यह रोग इतना बढ़ गया था कि उनके स्वजनों और स्नेहियों को चिन्ता और भय उत्पन्न हो गया था । शहर के लोग रोग को बड़ा भयङ्कर समझते थे और भीड़ की भीड़ उनके स्वास्थ्य-समाचार पूछने के लिए मकान पर आती थी । सब लोग उनको शीघ्र आरोग्य प्राप्त होने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे । पर स्वयं रानडे इस बात पर ज़रा भी न घबराते । अपनी शय्या के पास उन्होंने धार्मिक वृत्ति से ईश्वर-प्रार्थना कराई थी । डा० विश्राम-रामजी घोले ने डाक्टरी में बड़ा नाम पाया था और बड़े चतुर

चिकित्सक होने से ये वाइसराय के आनरेरी सर्जन बनाये गये थे। उन्हीं की चिकित्सा से रानडे को आरोग्य प्राप्त हुआ और सब लोगों की चिन्ता दूर हुई।

दूसरी बार उनको जो बीमारी हुई वह इससे भी कड़ी थी। जब रानडे स्पेशल जज थे तो एक बार किसानों की हालत देखने के लिए दौरे पर शोलापुर ज़िले में करमाला को गये थे। वहाँ उनको अतिसार हो गया। वहाँ के डाक्टर को बुला कर श्रीमती रमाबाई ने इलाज कराया; परन्तु रोग बहुत बढ़ जाने से डाक्टर ने अपने वश से बाहर की बात समझ कर जवाब दे दिया। श्रीमती रमाबाई साधारण स्त्री की तरह घबरा नहीं गईं। उन्होंने अपनी ननद को पूना तार दिया कि डाक्टर को लेकर तुरन्त आओ। तार पहुँचते ही, रात को, दुर्गा अक्का डाक्टर विश्राम-रामजी घोले के यहाँ गईं और वहाँ से पहली गाड़ी से दोनों करमाला आये। रानडे की दशा बिगड़ गई थी और श्रीमती रमाबाई भी चिन्तातुर हो रही थीं परन्तु इस समय भी दूसरी बार डाक्टर घोले ने रानडे को रोग-मुक्त किया। बिलकुल अच्छे होने में तो एक महीना लगा परन्तु प्राण बच गये। यह रोग अच्छा तो हो गया परन्तु जिस रोग ने अन्त में उनके प्राण लिये उसने शरीर में घर कर लिया।

सन् १८९३ ईसवी में जब रानडे शोलापुर में थे तो एका-एक उनके पेट में दर्द हो गया। तबीयत बहुत ख़राब हो गई। तुरन्त इलाज करने से लाभ हुआ। इसी समय रानडे के पास

इस बात की सूचना आई थी कि वे हाईकोर्ट के जज बनाये गये हैं। शुभ समाचार के सुनने से कहीं रोग-ग्रस्त चित्त को अत्यन्त हर्ष हो और उससे हानिकारक परिणाम हो, ऐसी शङ्का उनके निकटवर्ती लोगों को हुई परन्तु उनके आत्म-संतोषी और शान्त स्वभाव से ऐसी चिन्ता करना भूल थी। हर्ष-समाचार सुन कर वे शान्ति-पूर्वक पूना जाने की तैयारी करने लगे थे।

रानडे ने बी० ए० की आनर्स और एल-एल० बी० की परीक्षा के लिए बड़ी मेहनत की थी। परीक्षा के लिए पढ़ने से उनकी आंखें सदा के लिए निर्बल हो गई थीं। धीरे धीरे आँखें ज़्यादा निर्बल होती गईं, यहाँ तक कि रानडे को अपने लिखने पढ़ने का काम दूसरों से कराना पड़ता था। यद्यपि बाह्य इन्द्रियों में क्षीणता आ गई थी परन्तु आंतर शक्ति कभी निर्बल नहीं हुई।

मनुष्य के चरित्र पर समकालीन मनुष्यों के व्यवहार का कुछ अंशों में प्रकाश पड़ता है। विद्याभ्यास के समय जैसे लोगों की संगति होती है वैसा ही रंग अपनी प्रकृति और मन पर भी चढ़ता है। विद्यार्थी लोग एक दूसरे को देख कर अपना काम उमङ्ग से करते हैं और जीवन में कीर्त्ति सम्पादन करते हैं। रानडे का सहाध्यायी-मण्डल कैसा दिव्य था, यह दिखाने के लिए उसका भी कुछ हाल देना उचित है।

कोल्हापुर की पाठशाला में रानडे के सहाध्यायियों में रा० ब० विनायकराव कीर्तने, उनके दो भाई बलवन्तराव तथा

त्र्यम्बकराव कीर्तने, महादेव मोरेश्वर कुन्टे, बी० ए० और विट्ठल नारायण पाठक एम० ए० मुख्य थे। इनमें से विनायकराव कीर्तने इन्दौर के दीवान हो गये थे। श्रीयुत कुन्टे और पाठक ने पूना हाईस्कूल के हेडमास्टर होकर अच्छा नाम पाया था। रानडे ने जब कालिज में प्रवेश कर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी तो उनके साथ तीन और विद्यार्थियों ने बी० ए० पास किया था। उनमें से पहले तो संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर हैं और दूसरे श्रीयुत वामन आबाजी मोडक एवं बाल मंगेश बागले थे। इन सब सज्जनों ने बड़ी कीर्त्ति सम्पादन की है। बम्बई यूनिवर्सिटी के पहिले ग्रेजुएट होकर जैसा चाहिए वैसा नाम पाया। नास्तिकता और राजद्रोह के दोषों से बचे रह कर प्रार्थना-समाज के उत्साही सदस्य रहे और श्रीयुत बागले को छोड़ कर—जिनका देहान्त जल्दी हो गया था—तीनों ने सरकार से सी० आई० ई० का ख़िताब पाया।

सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर एम० ए०, पी-एच० डी०, सी० आई० ई० ने रानडे की तरह असाधारण कुशलता दिखला कर बी० ए० की परीक्षा पहले वर्ग में पास की थी। उन्होंने बी० ए० में संस्कृत, दूसरी भाषा की तरह, पढ़ी थी। संस्कृत में असाधारण योग्य होने से वे पूना कालिज के 'सीनियर फ़ेलो' बनाये गये थे। सन् १८६४ ई० में सिन्ध हैदराबाद हाईस्कूल के और फिर रत्नागिरि हाईस्कूल के हेड-मास्टर बनाये गये थे। आपने अपने से पहले जो अँगरेज़ हेड

मास्टर था उससे ज़्यादा होशियारी से काम किया और मदरसे को बहुत सुधार दिया। इन दिनों इन्होंने संस्कृत का ऐसा अच्छा अभ्यास किया था कि एक संस्कृत के विद्वान् की हैसियत से उनका नाम भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि यूरप तक में हो गया। सन् १८६९ में एलफ़िन्स्टन कालिज बम्बई में संस्कृत अध्यापक की जगह ख़ाली होने पर उनको वहाँ काम करने का अवसर दिया गया। उसके बाद फिर कितने ही वर्ष तक उन्होंने उसी कालिज में सहकारी अध्यापक की जगह काम किया। सन् १८८२ ई० में डेक्कन कालिज पूना में आपको पूर्वीय भाषाओं के अध्यापक की जगह दी गई। नौकरी से निवृत्त होने तक आप इसी पद पर बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त करते हुए बराबर काम करते रहे।

एक विद्यार्थी और शिक्षक की तरह डा० भाण्डारकर ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। कर्त्तव्य-परायणता और हर एक काम को पूरी रीति से करने के कारण उनका बड़ा नाम हुआ है। उन्होंने राजकीय विषय को अपने कामों से अलग रक्खा है। सत्त्वशील और प्रबल इच्छा-शक्ति वाले होकर, रानडे की तरह, डा० भांडारकर एक उत्साही सुधारक और प्रार्थना-समाजी हैं। दूसरे लोगों की तरह वे वाक्-सुधारक नहीं। उन्होंने अपनी विधवा बेटी का पुनर्विवाह शिक्षा-विभाग के एक डिप्टी इन्सपेक्टर से किया है और उससे विधवा-विवाह-पक्ष को अपने दृष्टान्त से पुष्ट किया है। विद्या के विषय में प्राचीन खोज, संस्कृत-साहित्य, शब्द-व्युत्पत्ति आदि पर लेख और पुस्तकें

लिखी हैं। उनकी संस्कृत की पहली दूसरी पुस्तक हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि यूरप के कितने ही देशों में भी निश्चित पाठ्य पुस्तकों में से हैं। उनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर जर्मनी की गोटिंगन यूनिवर्सिटी ने उन्हें पी० एच० डी० की डिगरी दी है। विद्वानों की संस्थाओं ने उनको और भी डिगरियाँ दी हैं। हमारी सरकार ने भी सी० आई० ई० का ख़िताब देकर, बम्बई यूनिवर्सिटी के वाइस-चैन्सलर बना कर और धारा-सभा के सभासद बना कर उनकी सेवाओं का योग्य आदर किया है। बम्बई विश्वविद्यालय ने एल-एल० डी० की मानसूचक पदवी पहले इन्हीं देशी सज्जन को दी है। थोड़े वर्ष हुए, सरकार ने उनको 'सर' की उच्च पदवी दी है जिससे अब वे सर रामकृष्ण भाण्डारकर कहलाते हैं।

श्रीयुत वामन आबाजी मोडक बी० ए०, सी० आई० ई० का जन्म सन् १८३६ में हुआ था। रानडे और डा० भाण्डारकर के साथ दूसरे वर्ग में इन्हों ने बी० ए० पास किया था। पूना कालिज में 'दक्षिणा फ़ेलो' की जगह काम करने के बाद वे वहाँ के हाईस्कूल में मि० टी० बी० कर्कहम साहब के मातहत शिक्षक नियत किये गये थे। सन् १८६७ में हैदराबाद और डा० भाण्डारकर के बाद रत्नागिरि हाईस्कूल में भेजे गये थे। सन् १८८२ में उनको एलफ़िन्स्टन हाईस्कूल के मुख्य अध्यापक की जगह दी गई, जहाँ पर हमेशा कोई अंग्रेज़ ही रक्खा जाता था। सन् १८९३ में पेंशन लेने तक बड़े मान से वहीं पर काम

करते रहे । उन्होंने डा० भाण्डारकर, श्रीयुत कुन्टे और पाठक की तरह यह दिखला दिया था कि उनके जैसे उच्च शिक्षा-प्राप्त लोग अँगरेज़ों की तरह काम कर सकते हैं। सरकार ने उनकी सेवा के उपलक्ष में सी० आई० ई० की पदवी दी थी परन्तु वे इसको बहुत काल तक भोग नहीं पाये क्योंकि तीन वर्ष तक पक्षाघात से पीड़ित रहकर सन् १८९७ में उनका देहान्त हो गया । यद्यपि रानडे और डा० भाण्डारकर जैसी उत्कृष्ट मानसिक शक्ति उनमें नहीं थी परन्तु उनकी शक्तियाँ ऊँचे दरजे की थीं । मदरसे के काम में वे बड़ी कड़ी निगाह रखते थे परन्तु उत्साही होने से और एकनिष्ठा से अपने काम में लगे रहने से वे अपने शिष्यों को बड़े प्रिय थे । समाज-सुधार और धार्मिक विषयों में अपने दूसरे सहाध्यायियों की तरह वे अग्र भाग लेते थे । उनके व्याख्यान प्रभावशाली होते थे ।

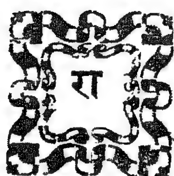
श्रीयुत बाल मंगेश वागले ४० वर्ष की अवस्था में ही सन् १८८८ में संसार छोड़ गये थे । इन्होंने दूसरे वर्ग में बी० ए० पास किया था । परन्तु पढ़ना जारी रखा था और रानडे के साथ साथ एम० ए० तथा एल-एल० बी० पास किया था । सन् १८६८ में एडवोकेट की परीक्षा पास करने वाले आप पहले ग्रेजुएट थे । यह आशा की गई थी कि श्रीयुत वागले बहुत अच्छे वकील होंगे, परन्तु ऐसा नहीं हुआ । क्योंकि 'एडवोकेट' की परीक्षा पास कर लेने पर, थोड़े दिन बाद, कुछ समय के लिए जब यह सफ़ीफ़ा के जज बनाये गये थे तो इन्होंने बहुत अच्छी तरह

काम करके नाम पाया था। जब मि० दादाभाई नौरोजी को महाराजा श्रीमन्त मल्हारराव गायकवाड़ ने बड़ोदे के मुख्य दीवान की जगह बुलाया था तब दादाभाई श्रीयुत वागले को अपने साथ बड़ोदा ले गये थे और वहाँ उनको न्यायाधीश की जगह दी थी। दादाभाई ने दीवान का पद त्याग किया तो इन्होंने भी अपनी इच्छा से नौकरी छोड़ दी। अपने सहपाठियों की तरह श्रीयुत वागले भी सुधारक थे और प्रार्थना समाज के सदस्य थे।

इनके अतिरिक्त रा० ब० शंकर पांडुरंग पंडित रानडे के परम मित्र थे। ये 'ओरिएन्टल ट्रान्सलेटर' थे और फिर पोर-बन्दर राज्य के एडमिनिस्ट्रेटर हो गये थे। रानडे जब शिमले गये थे तो इनको अपने साथ ले गये थे और जब वे बीमार हुए थे तब रानडे के बँगले में, उनके पास, बम्बई आकर रहे थे। उनके सहवास से एक दूसरे को बड़ा आनन्द होता था। सन् १८६४ की १८ मार्च को उनकी मृत्यु हो जाने से रानडे को अतिशय क्लेश हुआ था। श्रीमती रानडे का कहना है कि उनको इतना दुःख हुआ था जितना अपने सगे भाई या लड़के के मरने से होता है।

दसवाँ अध्याय।

अंतकाल और उस समय का सम्मान।


नडे बराबर अपने कामों में लगे हुए थे कि सन् १६०० के जुलाई महीने के अन्त में अति-सार का रोग हो गया। डाक्टर भालचन्द्र कृष्ण के इलाज से और श्रीमती रमाबाई की दिन रात की शुश्रूषा से रोग का कोप जल्दी शान्त होगया परन्तु इस बीमारी से रानडे बहुत दुर्बल हो गये और शरीर में रक्त बहुत कम हो गया। सन् १८६० में भी उनको अतीसार का रोग हो चुका था। उसके परिणाम में हृदय-रोग के चिह्न दिखाई देने लगे थे। हृदय-रोग अब बहुत कष्ट देने लगा। ४० वर्ष पहले, सुविख्यात डाक्टर भाऊ दाजी ने इलाज करते समय कहा था कि उनका हृदय बहुत निर्बल है उस पर बहुत भार न पड़ना चाहिए। सन् १८६१ में हृदय में दर्द होने लगा परन्तु वह बहुत भयानक नहीं जान पड़ता था। पिछली बीमारी से उनका यह रोग बढ़ गया। रात को सोने के समय कलेजे में खिँचाव होता था और उसकी पीड़ा से रानडे की तबीयत बहुत बिगड़ जाती थी और जी घबराने लगता था। सेक करने से और दवा पीने से जब जँभाई आती थी तब दर्द बन्द होता था और उन

को तुरन्त नींद आ जाती थी । उन्होंने रा० ब० मानकर को १० सितम्बर सन् १९०० को पत्र लिखा था जिससे उनकी बीमारी का हाल मालूम होता है ।:—

"तुम्हारा स्नेह-पत्र पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ । इस समय जो व्याधि मुझे हुई थी वह अतिसार की नहीं थी बल्कि उसके परिणाम से मैं पीड़ित था । मेरे ज्ञान-तन्तु निर्बल हो गये हैं, इससे पीड़ा होती थी । १०-१५ दिन बाद इसी कारण से मेरे बायें हाथ और हृदय के ऊपरी भाग में दर्द होने लगा था । रात के १ बजे बाद यह दर्द रोज़ उठता था और उससे बहुत दुःख तथा बेचैनी होती थी । अब भी तीसरे चौथे दिन दौरा हो आता है । डाक्टरों का कहना है कि शरीर में ख़राब गैस बनती है, उसके कारण यह दर्द होता है । उनका कहना है कि साधारण बल आने पर यह जाता रहेगा । मैं दो महीने के लगभग घर पर रहा हूँ । अब कचहरी जाने लगा हूँ । अक्तूबर की छुट्टियों के बाद, छुट्टी लेकर महाबलेश्वर जाने का विचार है ।"

आरोग्य-प्राप्ति के लिए उन्होंने एक महीने की छुट्टी ली और जल-वायु परिवर्त्तन करने के लिए बाँदरा और माथेरान गये । वहाँ उनको कुछ बल भी प्राप्त हुआ परन्तु ऐसे न होने पाये थे कि हाईकोर्ट में काम कर सकें । छुट्टी बीतने पर, निर्बल होते हुए भी वे काम पर आ बैठे । शरीर अशक्त होने से डाक्टरों ने छुट्टी लेने की सलाह दी और इसके अनुसार उन्होंने ७ जनवरी सन् १९०१ से छः महीने की छुट्टी ली । छुट्टी लेने पर हाईकोर्ट का काम तो छूटा परन्तु पढ़ना-लिखना, पत्र-व्यवहार

और समाज-सुधार के काम जारी रहे । अपनी व्याधि की भयंकरता को जानते हुए भी वे उसको छिपाते थे और इस बात का प्रयत्न करते थे कि दूसरों को उसकी ख़बर न हो । लाहोर की सोशल कान्फ़रेन्स में जाने का विचार किया और जाने की सब तैयारी भी कर ली थी । अपना प्रास्ताविक व्याख्यान, जो प्रति वर्ष दिया करते थे, तैयार कर लिया था और जाने के लिए पहले दर्जे की एक गाड़ी भी रिज़र्व करा ली थी परन्तु जाने के दिन कलेजे में ज़ोर से दर्द हो उठा और उनके चिकित्सक डा० भालचन्द्र ने उनको जाने से रोका । बड़े निराश होकर और क्लेश से अपने जाने का विचार उन्होंने छोड़ा और लाहोर के बदले लोनावला गये ।

लोनावला, पहाड़ पर होने से, गर्मी के दिनों में बड़ा ठंडा रहता है परन्तु जाड़े के दिनों में वहाँ की सरदी असह्य होती है । लोनावला में रानडे की तबीयत ठीक नहीं हुई । दिन पर दिन स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया । थोड़े ही दिन वहाँ रह कर वे बम्बई लौट आये । बम्बई की गरम हवा से उनको तुरन्त लाभ होता दिखाई दिया । सन्ध्या को अपनी पत्नी और भाई के साथ गाड़ी में बैठ कर वे हवा खाने जाने लगे और दो दो मील पैदल भी चलने लगे जिससे ऐसा मालूम होने लगा कि थोड़े ही दिनों में बिलकुल रोग-मुक्त हो जायँगे । यद्यपि डाक्टरों ने मना किया था परन्तु उन्होंने एक न सुन कर अपना अभ्यास फिर जारी कर दिया । वे 'उपनिषद', 'मिल्मर-कृत क्रिस्तान धर्म का इतिहास',

"'जस्टिन मैकार्थीकृत अपने समय का इतिहास' पढ़ने लगे। जब डाक्टर लोग इस बात का आग्रह करते थे कि थोड़े दिन पढ़ना-लिखना बन्द किया जाय तो आप कह देते कि "जब किसी मनुष्य से कोई काम न हो सके तो फिर जीवित रहने की ही कौन सी आवश्यकता है? क्या निरुद्यमी और निरुपयोगी जीवन से मर जाना ज़्यादा अच्छा नहीं है?"

बुधवार, १६ जनवरी सन् १६०१ को उनकी तबीयत इतनी अच्छी होगई थी और वे ऐसे प्रसन्न थे कि उन्होंने टेलीफ़ोन द्वारा अपने डाक्टर को कहलाया था कि रात को देखने आने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु थोड़ी देर बाद ही ऐसा मालूम हुआ कि एक डाक्टर को रात भर पास रखने की आवश्यकता होगी। क्योंकि वे आरोग्यता और प्रसन्नता के चिह्न ऐसे थे जैसे बुझते हुए दिये का क्षणिक प्रकाश। उस दिन उन्होंने अपना सब काम किया और फिर गाड़ी में बैठ कर अपनी पत्नी और भाई के साथ एक मील घूम भी आये थे। बँगले पर जब वापिस आये तो जयपुर राज्य के दीवान राय बहादुर कान्तिचन्द्र मुकर्जी की नागपुर में अकस्मात् मृत्यु होने की तार द्वारा आई हुई सूचना उनको पढ़ सुनाई गई। मुकर्जी बाबू फ़ेमिन कमीशन के एक सभासद् थे। इसके लिए खेद प्रकट करके वे कहने लगे "काम करते करते मरना कैसी अच्छी मृत्यु है!" बड़े ही आश्चर्य की बात है कि दो ही घंटे में उनकी यह इच्छा पूरी हुई। ऊपर लिखे शब्द कह कर उन्होंने १८ पत्र लिखाये; जस्टिन मैकार्थी की पुस्तक 'हमारे

समय का इतिहास' में से एक अध्याय पढ़वा कर सुना; और उसके बाद पुनर्विवाह के पक्षपाती सेठ भगवानदास माधवदास और श्रीयुत भाजेकर वकील तथा दूसरे सज्जनों से मुलाक़ात की। यह लोग अगले दिन एक भाटिया विधवा का पुनर्विवाह करने वाले थे, उसी के लिए रानडे से सलाह लेने आये थे। और चूँकि भाटिया जाति में यह पहला विधवा-विवाह था, उसे लोग धूम धाम से करना चाहते थे। श्रीमती रमाबाई रानडे से यह प्रार्थना की गई थी कि वे स्वयं जाकर बम्बई के गवर्नर की पत्नी लेडी नार्थकोट को विवाह-उत्सव में पधारने के लिए निमंत्रण दें। रानडे ने इस बात को पसन्द किया। परन्तु दैव-इच्छा की प्रेरणा से श्रीमती रमाबाई ने कहा "यदि मेरे स्वामी की तबीयत ठीक रही तो मैं इस काम को कर दूँगी।" श्रीमती ने तो अपने पति की ओर से ऐसी चिन्ता दर्शाई, परन्तु रानडे ने उसका ख़्याल नहीं किया। वे आये हुए सज्जनों से बातें करने में लग गये और उनसे बहुत सी बातें पूछ कर सलाह दी। लोगों के जाने पर, रात्रि का भोजन किया और घर की एक स्त्री से प्रार्थना-समाज के भजनों की पुस्तकों में से भजन गवा कर सुने। इस समय उनको दर्द का दौरा शुरू हो गया। दर्द कम होजाने पर, ९ बज कर ४५ मिनट पर, उनको थोड़ी सी नींद आगई। सवा दस बजे वे एकाएक उठ बैठे और कलेजे में दर्द बताया। धीरे धीरे दर्द बहुत बढ़ गया, यहाँ तक कि वे कहने लगे कि इसके सहन करने से तो मर जाना अच्छा है।

उनके भाई नीलकण्ठराव को डाक्टर के बुलाने की अत्यन्त आवश्यकता मालूम पड़ी। डा० भालचन्द्र को टेलिफ़ोन दिया; और जल्दी के कारण, पास ही एक डाक्टर जहाँगीर जी रहते थे उनको बुलाने के लिए भाग कर नीलकण्ठराव गये। डाक्टर ने आकर देखा तो मालूम हुआ कि नाशकारक व्याधि के रोकने का अब कोई उपाय नहीं रहा। अपनी प्रिय पत्नी के कंधे पर झुका हुआ सिर रख कर रानडे ने कहा "मेरी मृत्यु अब जल्दी होने वाली है।" इसके बाद उनको ख़ून की एक उलटी हुई और साढ़े दस बजे के लगभग—विना किसी सन्तति को छोड़े प्रिय पत्नी, विमाता, दो भाई और विधवा भगिनी को दुःखसागर में डाल कर—उनका पवित्र आत्मा क्षणभंगुर संसार को छोड़ कर परमात्मा में विलीन हो गया। जिन्होंने सिर्फ़ दो ही घण्टे पहले, रा० ब० कान्तिचन्द्र का मृत्यु-समाचार सुन कर काम करते हुए मरने की इच्छा दर्शाई थी उन्होंने काम करते करते ही अपना देह त्याग किया। उनकी आकस्मिक और खेदकारक मृत्यु की बात पर ध्यान देने से रामदास स्वामी का यह वचन याद आ जाता है:—

"चिरंजीव हे सर्व मानिताती। अकस्मात सोडोनिया सर्व जाती।
मरे एक त्याचा दुजा शोक वाहे। अकस्मात तोही पुढें जात आहे॥"

अर्थात् सब मनुष्य अपने को चिरंजीवी—अमर—मानते हैं। परन्तु एक एक करके सब इस जगत् को छोड़ कर चले जा रहे हैं। एक मरता है तो उसके लिए दूसरा शोक करता है और वह भी अकस्मात् फिर उसी के रास्ते चला जाता है।

श्रीयुत अगाशे का कहना है कि इन महापुरुष ने अपने जीवन से बहुत से उपदेश और बोध हमको दिये हैं; उसी प्रकार अपनी मृत्यु से भी एक प्रकार की शिक्षा दी है। जो लोग अन्त समय उनके पास थे वे कहते थे कि मृत्यु, बिलकुल अकस्मात्, इस प्रकार हुई मानो काल उनके पवित्र शरीर को छूने से डरता हो और चुपचाप पैर दबा कर आया हो। सब प्रकार की वासनाओं से रहित होकर और अपनी इच्छा के अनुसार अन्त समय तक काम करते हुए उन्होंने देह त्याग किया था। महाराज तुकाराम के शब्दों में "मरण माझे मरोंन गेलें। मज केलें अमर।" कह सकते हैं कि उनका मृत्यु ही मर गया है, वे तो अमर हो गये। यह कोई नहीं कह सकता कि 'महान्' शब्द में जो उत्तरदायित्व है उसको उन्होंने अन्त समय तक नहीं निभाया। और अन्तिम घड़ी तक जो 'महान्' कहाने योग्य है वही वास्तव में महान् है।

हिन्दुस्तान का अत्यन्त उज्ज्वल नक्षत्र भारत के आकाश से इस प्रकार यकायक अस्त हो गया। 'ग्रेजुएटों के मुकुटमणि', 'पूना के बिना मुकुट के राजा' ने परलोक-गमन किया। जिस समय देश की उन्नति के लिए उनकी अति आवश्यकता थी उस समय इस प्रकार वे उठा लिये गये। भारतवर्ष के शिक्षित-समाज में यह एक अपूर्व हानि हुई, क्योंकि उनके स्थान की पूर्ति नहीं हो सकती। भारतवर्ष में जब यह अशुभ समाचार फैला तो उनके असंख्य मित्रों और प्रशंसकों के हृदय शोक, उद्वेग तथा उदासी में डूब गये। जब उनके मित्रों और स्नेही लोगों को

इतना दुःख हुआ तो उनके कुटुम्बियों और विशेष कर श्रीमती रमाबाई की क्या दशा हुई होगी, जो एक देवदूत की तरह उनकी शय्या के पास दिन-रात शुश्रूषा के लिए उपस्थित रहती थीं और अब जिनको वैधव्य-दुःख भोगना पड़ा है। श्रीमती को तुकाराम महाराज के इस वचन "सुख पहातां जवा पाडें। दुःख पर्वता येंढ़ें॥"—मनुष्य का सुख जव के दाने के समान है और दुःख पर्वत जितना है—का सत्य अनुभव हुआ होगा।

१७ जनवरी को प्रातःकाल, बम्बई में रानडे के देहत्याग की ख़बर फैल गई। पहले दिन जब वे सन्ध्या को हवा खाने गाड़ी में निकले थे तब जिन लोगों ने उनको देखा था, उनको यह समाचार सत्य नहीं जान पड़े। परन्तु दैनिक पत्रों में प्रकट होते ही बहुसंख्यक लोग—जिनका रानडे के प्रति बड़ा ही पूज्य भाव था और जो उनको महापुरुष मानते थे—अपने भावों को प्रदर्शित करने और शोकातुर सम्बन्धियों से समवेदना प्रकट करने के लिए पेडर रोड पर रानडे के बँगले में एकत्र होने लगे। सबसे पहले आने वालों में चीफ़ जस्टिस सर लारेन्स जेन्किन्स, जस्टिस चन्दावरकर, क्रो, और कैंडी, हाईकोर्ट के रजिस्ट्रार मि० आर. डी. शेठना, स्वर्गीय सेठ जमशेदजी नसरवानजी टाटा और मि० लाउन्डिस् बैरिस्टर (जो अभी बड़ी कौंसिल में ला-मेम्बर हुए हैं) मुख्य थे। चीफ़ जस्टिस अपने साथ फूलों की एक माला शव पर रखने के लिए लाये थे। पीछे से डाक्टर सर भालचन्द्र कृष्णराव, ख़फ़ीफ़ा के जज

मिस्टर रुस्तमजी पटेल, प्रो० ए० वी० काथवारे, सेठ त्रिभुवनदास मंगलदास, सेठ वीरचन्द दीपचन्द, मि० अरदेशर फ़्रामजी, मि० ई० ई० सेटसुर, एन० जी० वेलिनकर, सरकारी वकील रा० ब० कीर्त्तिकर, रा० ब० एन० टी० वैद्य, डा० पालेकर और शान्ताराम विट्ठल, माननीय श्रीयुत दीक्षित, श्रीयुत एन० वी० गोखले, श्रीयुत सुन्दरनाथ खोटे, सेठ भगवानदास, दामोदरदास, श्रीयुत पी० के० तैलंग, (रानडे के मित्र श्रीयुत बि० एम० वागले के दोनों पुत्र) वी० बी० और के० बी० वागले, श्रीयुत डी० जी० पाध्ये, गोकलदास तेजपाल हाईस्कूल के हेड मास्टर, श्रीयुत बी० एन० भाजेकर, बी० एम० पंडित, बालाजी पाण्डुरङ्ग, जी० एन० नाडकर्णी, वी० एस० आर्जुने, आर० एन० परमानन्द, एस० वी० भांडारकर, बी० के० भाटवड़ेकर, मान० दाजी आबाजी खरे, नारायण वि० मंडलिक, एम० आर० बोडस और दूसरे वकील तथा गृहस्थ आये थे।

रानडे के शव को लेकर सब लोग १० बजे श्मशान की ओर चले। हिन्दुओं की रीति के अनुसार शव को सादा अरथी पर रक्खा था और ऊपर से एक श्वेत शाल उढ़ाई थी। गले में चीफ़ जस्टिस का हार पहना दिया गया था। उनके भाई नीलकंठराव, रीति के अनुसार, दाह-संस्कार के लिए अग्नि लिये चल रहे थे। हाईकोर्ट के जज पेडर रोड के अन्त तक, शव के साथ, गये थे। चीफ़ जस्टिस श्मशान तक जाते थे परन्तु लोगों ने उनको समझा कर वापिस जाने के लिए कहा।

शव को पेडर रोड से गोवालिया तालाब होकर कीन्स रोड पर होते हुए ले गये। जिस समय एलफ़िन्स्टन, ग्रान्ट मेडिकल और विलसन कालेज रास्ते में आये तो सैकड़ों विद्यार्थी उनमें से निकल कर आ गये और लोगों के साथ श्मशान को चलने लगे। अपने सच्चे और सर्वोत्तम हितचिन्तक की मृत देह को विद्यार्थी बड़े पूज्य भाव से उठाने लगे और अरथी में कंधा लगाने लगे। मैरीन लाइन्स के सामने श्मशान तक पहुँचते पहुँचते सब जाति और धर्म के लोग एकत्र हो गये थे और वहाँ एक ऐसा चित्ताकर्षक दृश्य था जैसा कि किसी बड़े सरकारी अफ़सर की मृत्यु होने पर पहले कभी देखा नहीं गया था। मुसलमानों के सिवा, सब जाति के लोग वहाँ पर मौजूद थे। मुसलमानों को यह शङ्का थी कि श्मशान में अगर जायँगे तो किसी को आपत्ति होगी; परन्तु यह बात निर्मूल थी क्योंकि जैसे पारसी और अँगरेज़ों के साथ रानडे के कुटुम्बियों ने बर्ताव किया था वैसा ही उनके साथ भी किया जाता। फिर भी यह देखा गया था कि जो मुसलमान रास्ते में मिले थे वे मृत सज्जन के सम्मान के लिए अपनी गाड़ियों से उतर कर सड़क पर खड़े हो गये थे; और जस्टिस रानडे के प्रति अपना भाव दिखाने में किसी प्रकार दूसरे लोगों से पीछे नहीं रहे थे। कितने ही पारसी विद्यार्थियों ने रानडे की मृत देह के अन्तिम दर्शन करने की इच्छा प्रकट की थी, उसे रानडे के सम्बन्धियों ने सुधरे हुए विचार के अनुसार पूर्ण

कर दिया था। पुरानी रीति के अनुसार, रानडे के शव को सिवा उनकी जाति के ब्राह्मणों के और कोई हाथ नहीं लगा सकता था; परन्तु इसका विचार न करके, सब प्रकार के ब्राह्मणों को उनकी अरथी में कंधा लगाने का अवसर दिया गया था। १२ बजे के लगभग सब लोग श्मशान में पहुँचे। सब उपस्थित सज्जनों को अन्तिम दर्शन करा कर चन्दन की चिता पर शव रक्खा गया। सब धर्मक्रिया हो जाने पर नीलकंठराव ने अग्नि-संस्कार किया। इधर अग्नि अपना काम कर रही थी कि सर भालचन्द्र ने उपस्थित सज्जनों को सम्बोधन कर नीचे लिखे हृदयद्रावक शब्द कहे:—

"बन्धुगण! हिन्द के आकाश में एक महान् नक्षत्र अस्त हुआ है। आप सब लोगों को इस महापुरुष के देहान्त से कैसी वेदना हो रही है, यह मैं आपके चेहरों से देख रहा हूँ। श्रीयुत रानडे एक साधु पुरुष थे। उनके पवित्र साधुवत् जीवन के कारण आज हम उनके लिए शोकाकुल हो रहे हैं। उनमें विद्वत्ता, उद्योग और बुद्धि-बल ऐसे अनुपम थे कि उनके कारण वे सब के स्तुति-पात्र थे। परन्तु इनके अतिरिक्त मृदुल स्वभाव, अपूर्व दृढ़ता, निर्बल और दुःखी जनों के लिए उनकी चिन्ता, क्षमाशीलता, और अविचल परिश्रम—यह सब गुण उनमें एक जगह एकत्र थे और अब शायद ही ऐसे पुरुष को हम देख सकेंगे। उनके कुटुम्बीजनों की—उनकी पत्नी, भाई, बहिन की—जो हानि हुई है उसकी कल्पना नहीं हो सकती। ऐसा होते

हुए भी यदि उनको कुछ आश्वासन मिले तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हम भी तुम्हारे दुःख के भागी हैं। राव बहादुर रानडे के मरने से किसी एक व्यक्ति या एक कुटुम्ब, अथवा एक जाति की ही हानि हुई है, यह बात नहीं है; प्रत्युत समस्त देश, वर्तमान काल और भावी सन्तान को हानि पहुँची है। उन की सी उन्नत आत्मा के लोग, किसी भी काल में, बहुत थोड़े उत्पन्न होते हैं और जब उनका देहावसान होता है तो उनकी कमी पूरी नहीं होती। इस दुःखद अवसर पर यही हमारा कर्त्तव्य है कि हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि उनकी आत्मा को वह शान्ति प्रदान करे। जिन सम्बन्धियों को रानडे ने छोड़ा है उनके प्रति भी हमारा कर्त्तव्य है। मैं कह चुका हूँ कि श्रीयुत रानडे के मरने से हम सबको ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक की आत्मीय हानि हुई है; परन्तु हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे शोक से भी अधिक भार कुछ लोगों को सहन करना पड़ा है। उनकी शय्या के पास जो आतुरता से बैठी रहती थीं और जो इस समय वैधव्य-दुःख में पड़ी हैं ऐसी उनकी धर्मपत्नी, उनकी मातास्वरूप बड़ी भगिनी, और हमारे सामने खड़े हुए उनके दुःखी भाई—इन सब को हमें हृदय से आश्वासन देना चाहिए। मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि उन को धैर्य और बल दे जिससे कि उनमें इस दारुण दुःख को सहने की शक्ति हो। मुझ से शोकवश अब विशेष नहीं कहा जा सकता। अब हमको यहाँ से चुपचाप बिदा होना चाहिए।"—

आर्यन हाईस्कूल के हेडमास्टर श्रीयुत वैद्य ने भी ऐसा ही एक भाषण दिया था। उसके बाद सब लोग धीरे धीरे जाने लगे। चिता की भस्म दूध से ठंडी की गई और फिर वह रानडे की बड़ी भगिनी की इच्छानुसार गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम—त्रिवेणी—में इलाहाबाद लाकर पधराई गई।

बम्बई की सब अदालतें—हाईकोर्ट, स्माल-काज़ कोर्ट और पुलिस कोर्ट—रानडे के सम्मान के लिए बन्द की गई थीं। हाकिमों ने रानडे की मृत्यु पर शोक प्रकट करके उस दिन काम बन्द रक्खा। कालेज, मदरसे, पाठशाला, धार्मिक कार्यालय और कपड़े तथा नाज के बाज़ार भी बन्द रक्खे गये थे। लोग केवल बम्बई में ही शोक नहीं दिखा रहे थे, बल्कि समस्त देश के समाचारपत्रों के लेखों से और रानडे के कुटुम्बियों के पास आये हुए असंख्य तारों तथा पत्रों से विदित होता था कि भारतवर्ष में रानडे के लिए लोग दुःखी हो रहे थे।

उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में मदुरा तक, और पूर्व में रंगून से लेकर पश्चिम में पेशावर तक सब जगह से; और हिन्दुस्तान के बड़े लाट लार्ड कर्ज़न, बम्बई के गवर्नर लार्ड नार्थकोट, बंगाल के छोटे लाट, महाराजा गायकवाड़, महाराजा हुल्कर, और कोल्हापुर के महाराज जैसे बड़े लोगों के पास से; और इसी प्रकार अनेक शोक-सभाओं और संस्थाओं से लगभग एक हज़ार तार श्रीमती रमाबाई रानडे और नीलकंठराव के पास आये थे। पूना, अहमदनगर, अमरावती, सतारा,

शोलापुर, बेलगाँव, अहमदाबाद, बड़ोदा इन सब जगहों में और हिन्दुस्तान के अनेक नगरों में शोक-सभायें हुई थीं और उन्होंने रानडे की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए उनके कुटुम्बी-जनों से सहानुभूति दिखलाई थी। स्त्रियों ने अपनी सभायें की थीं और पुरुषों से स्पर्धा दिखलाई थी। एक सब-जज की सुशिक्षिता स्त्री और प्रसिद्ध मराठी ग्रन्थकर्त्री श्रीमती काशीबाई कानिटकर ने श्रीमती रमाबाई के पास एक छोटा परन्तु भाव-युक्त तार भेजा था कि "यह न समझिएगा कि आप अकेली को सन्ताप हुआ है।" बम्बई, पूना और अहमदाबाद के प्रार्थना-समाज-मन्दिरों में रानडे के लिए प्रार्थना की गई थी। अशुभ समाचार को सुन कर पूना से डाक्टर भांडारकर, अध्यापक गोखले और अन्य मित्र-गण, तथा फर्गुसन कालेज के बहुत से विद्यार्थी अन्तिमक्रिया में सम्मिलित होने के लिए बम्बई आने वाले थे। परन्तु रेल छूट जाने से विवश हो कर रह गये। पूना में जो प्रार्थना रानडे की आत्मा को शान्ति मिलने के लिए की गई थी वह डाक्टर भांडारकर के प्रमुखत्व में हुई थी।

लार्ड कर्ज़न ने बम्बई के गवर्नर की मारफ़त श्रीमती रमाबाई के पास तार भेजा था। और बम्बई के गवर्नर लार्ड नार्थकोट ने अपने पत्र में जो लिखा था तथा भाषण में कहा था उससे जान पड़ता है कि रानडे के प्रति इन दोनों बड़े अफ़सरों का कैसा भाव था। बम्बई सरकार के प्राइवेट सेक्रेटरी का तार यह

था:—"वाइसराय बहादुर ने अपने तार में यह इच्छा प्रकट की है कि नीचे लिखे शब्दों में आपके साथ इस आपत्ति में सहानुभूति प्रकट की जाय—'वाइसराय यह समझते हैं कि रानडे के मरने से जन-समाज ने एक न्यायाधीश ही नहीं खोया बल्कि देशवासियों की मानसिक और नैतिक उन्नति के लिए उत्साह से परिश्रम करने वाला मनुष्य गँवाया है" ।

बम्बई के गवर्नर साहब ने अपने प्राइवेट सेक्रेटरी द्वारा यह सँदेशा भेजा था:—"हमारे प्रान्त में, और समस्त हिन्दुस्तान में मिस्टर जस्टिस रानडे का नाम एक अति उत्तम विचार शक्ति वाले और पूरे मन से काम करने वाले सज्जन की तरह बहुत काल तक याद किया जायगा। सुधार के लिए सतत प्रयत्न करने और अपनी हिम्मत तथा निश्चय से उन्होंने अपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की है। यह एक सार्वजनिक हानि हुई है। उनकी मृत्यु से केवल उनके कुटुम्बीजनों (जिनके साथ लार्ड और लेडी नार्थकोट पूर्ण रीति से भाग लेते हैं) को ही क्लेश नहीं हुआ है बल्कि बिना जाति और धर्म के भेद के सब लोगों को इस प्रान्त में दुःख हुआ है।"

बम्बई सरकार की ओर से २४ जनवरी सन् १९०१ को एक प्रस्ताव गज़ट में इस तरह छपा था:—

"गवर्नर-इन कौंसिल ने महाराणी कैसरहिन्द के बम्बई हाईकोर्ट के जज आन० जस्टिस महादेव गोविन्द रानडे एम्० ए०, एल-एल० बी०, सी० आई० ई०, के मृत्यु-समाचार

बहुत शोक से सुने हैं। मिस्टर रानडे के संबंधियों पर जो विपत्ति पड़ी है उसके लिए वे खेद प्रकट करते हैं। मिस्टर रानडे के मरने से सरकार ने एक सब से नामांकित और स्वामिभक्त नौकर खोया है जिसने अपने अगाध ज्ञान, गम्भीर न्यायबुद्धि और भलमनसाहत के साथ स्वतंत्रता के कारण ख्याति पाई थी।"

सन् १९०१ ईसवी के बम्बई विश्वविद्यालय के कन्वोकेशन के अवसर पर, चान्सलर की हैसियत से, लार्ड नार्थकोट ने रानडे के लिए अपने व्याख्यान में कहा था:—

"मेरी तरह, आप लोगों को भी यह जान पड़ता होगा कि यूनिवर्सिटी का एक अग्रगण्य सभासद नहीं रहा जिसके नाम को याद कर आज हम सब लोग उसके प्रति योग्य मान दिखलाना चाहते हैं। मिस्टर रानडे के मरने से हिंन्दुस्तान को जो हानि हुई है उसके लिए चारों ओर से देशी और अँगरेज़ लोगों ने एक सा दुःख प्रकट किया है। मैं यह कहने की हिम्मत करता हूँ कि देशी और अँगरेज़ों से एक सा शोकनाद उत्पन्न कराने में रानडे ने अन्तिम परन्तु महत्त्व की एक देशसेवा की है। मुझे आशा है कि भव्य चरित्र और उच्च मानसिक शक्ति वाले रानडे के प्रति हम एकमत हो करें एक सा भाव प्रदर्शित करते हैं, इस बात के चिह्न दिखाई देते हैं। यदि मैं अति संक्षेप से भी मिस्टर रानडे ने जो काम किये हैं उनका विवेचन करूँ तो मुझे आप लोगों को बहुत देर तक रोक रखना पड़ेगा।

आज हम उनको एक प्रसिद्ध न्यायाधीश की तरह नहीं स्मरण कर रहे हैं, बल्कि विश्वविद्यालय के एक उत्तम सभासद की तरह उनको याद करते हैं। उन्होंने सन् १८६२ ई० में बी० ए० की परीक्षा पहले वर्ग में पास की थी जिसके लिए सर बार्टल फ्रीअर की ओर से उन्हें धन्यवाद मिला था और सन् १८६५ में एम० ए० की पदवी प्राप्त की थी। जिन्होंने इतिहास में आनर्स से परीक्षा पास की थी और एक पदक पाया था; जो २३ वर्ष की अवस्था में यूनिवर्सिटी के फ़ेलो बने, जिन्होंने सन् १८६८ में आनर्स के साथ एल-एल० बी० को पास किया और फिर जो एल्फ़िन्स्टन कालिज में अँगरेज़ी साहित्य के अध्यापक रहे थे—उन रानडे की आज हम चर्चा करते हैं। रानडे ने न्यायविभाग में बड़ी जल्दी उन्नति की थी और बहुत दिनों तक बाहर रहे थे परन्तु जब से हाईकोर्ट के जज हो कर वे बम्बई आ गये तब से उन्होंने यूनिवर्सिटी के काम में बड़ी भारी सहायता की थी।

"सिन्डिकेट के सभासद और 'डीन' रह कर उन्होंने अपने महद्बुद्धिबल का पूर्ण उपयोग कर यूनिवर्सिटी की सेवा की थी। अपनी होशियारी और ज़ाती कोशिश से उन्होंने साढ़े तीन लाख रुपये सर मंगलदास के दान में से यूनिवर्सिटी को दिलवाये थे। सज्जनो! मैं यह जानता हूँ कि मेरे शब्द अच्छी तरह यह नहीं बतला सकते कि उनके मरने से हमारी कितनी हानि हुई है। परन्तु उनके लिए विशेष कहने की भी आवश्य-

कता नहीं। अन्य लेखक और व्याख्यानदाता उनकी कीर्त्ति भविष्य की प्रजा को बतलायेंगे। मैं आप से जो आज माँगता हूँ वह इतना ही है कि रानडे की मृत्यु से देश की जो क्षति हुई है उसके प्रति और उनके कुटुम्वी जनों के प्रति हार्दिक खेद प्रकट करने वालों के नामों के साथ मुझे भी अपना नाम जोड़ने की आज्ञा दीजिए"।

बम्बई के प्रार्थना-समाज में २१ जनवरी सन् १९०१ को, रानडे की आत्मा को शान्ति प्राप्त होने के लिए एक प्रार्थना की गई थी। उस समय जस्टिस चन्दावरकर ने एक लम्बा व्याख्यान दिया था, उसमें से कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं:—

"+ + + एक दृष्टि से देखा जाय तो उनके जीवन का इतिहास भारतवर्ष और भारतवासियों का पिछले ४० वर्ष का इतिहास है। इस बात को सभी मानते हैं कि श्रीयुत रानडे एक विशाल-बुद्धि और गम्भीर विचार के महान् विद्वान् प्रसिद्ध न्यायाधीश, उत्साही सुधारक और ऐसी ही अनेक-प्रवृत्ति के मनुष्य थे। उनके अद्वितीय बर्ताव और कामों का देश भर में बड़ा प्रभाव पड़ा है। उनके मरने से हम सब को ऐसा मालूम पड़ता है जैसे प्रत्येक का एक मित्र चला गया हो। ऐसे उज्ज्वल कर्तव्यनिष्ठ सज्जन के जीवन-चरित्र का अभ्यास करने योग्य है। मैंने उनके साथ रह कर कितनी ही प्रवृत्तियों में काम किया है, उससे मैं कह सकता हूँ कि उनके जीवन और जीवन-कार्य की कुंजी क्या है—इस बात के जाने बिना उनके जीवनचरित्र का

अभ्यास व्यर्थ है। वह कुंजी रानडे के धार्मिक जीवन से मिलती है। उनके उच्च मानसिक और नैतिक गुण तथा विविध प्रवृत्तियों के विषय उनका धार्मिक भाव स्पष्ट मालूम होता था। यह धार्मिक भाव उनके रहन सहन पर पूर्ण साम्राज्य रखता था और यही भाव उनके जीवन, उनके कार्य और उनसे मिलनेवालों पर चुंबक का सा असर करने की कुंजी थी। यदि मुझसे दो शब्दों में पूछा जाय कि रानडे कैसे मनुष्य थे, तो मैं कहूँगा कि वे ईश्वर पर अनन्य श्रद्धा रखने वाले पुरुष थे। + + + राजकीय, सामाजिक, धार्मिक, शिक्षासम्बन्धी या सुधार-विषयक प्रवृत्तियों को रानडे 'धार्मिक कर्तव्य' समझते थे और इसी भाव से अपने काम में लगे रहते थे। प्रतिपक्षियों की हँसी से, बाधाओं से और निराशा से वे कभी विचलित नहीं होते थे। सीधे मार्ग से अपने काम को किये ही चले जाते थे। कोई शुभ कार्य करने में निष्फल होंगे—यह विचार उनके मन में कभी आता ही नहीं था। + + + मनुष्य मनुष्य में और जातियों में जो भेद है उसे वे बाह्य मानते थे। उनका अद्भुत मन और अन्तःकरण गम्भीरता को पहुँच कर मनुष्य की आत्मा के प्रेरक परमात्मा के दर्शन करने का प्रयत्न करता था। उन्होंने दूसरे के कल्याण के लिए अपना निःस्वार्थी और उत्तम जीवन दिया था बल्कि दूसरों के कल्याण के ही लिए वे जीते थे और परोपकार के अवसर पाकर प्रसन्न होते थे। वे किसी आपत्ति से नहीं डरते थे और सदा अपने मन में स्थित शान्ति का अनुभव करते

का प्रयत्न करते थे। उन्होंने वह सरलता और साधुता प्राप्त की थी जिसकी आवश्यकता का सब सत्य धर्म अनुभव करने के लिए महात्मा उपदेश करते हैं; और उसी साधुता तथा सरलता से कार्य करते हुए वे दूसरों के लिए आदर्श दिखाते थे।"

रानडे के महत्कार्य के विषय में टाइम्स आफ़ इंडिया, बम्बई गज़ट, हिन्दू, बंगाली, मराठा, ट्रिब्यून, बम्बई-समाचार, गुजराती आदि अनेक समाचारपत्रों और पत्रिकाओं ने अपने उच्च भाव दर्शाये थे और भाव-युक्त भाषा में रानडे की प्रशंसा की थी। स्थान-संकोच से उनका विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता। इतना ही कहना काफ़ी है कि उन सब ने रानडे के अनुकरणीय गुणों, उत्तम कार्यों और उनकी नीति-रीति की मनोहारिणी भाषा में प्रशंसा की थी और उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया था।

रानडे के मरने पर उनके जो गुण-गान बड़े बड़े सत्ताधारियों ने और साधारण लोगों ने किये, उससे मालूम होता है कि यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर और 'नाइट' का ख़िताब पाने के लिए वे सर्वथा योग्य थे। उनको यह सम्मान प्राप्त न हो सके, यह एक खेद की बात है। यूनिवर्सिटी को उचित था कि उन महापुरुष को एल-एल० डी० की डिगरी भी देती परन्तु इसमें भी वह चूक गई। अस्तु, इन बातों का कहना अब व्यर्थ है, क्योंकि रानडे कभी किसी पदवी या ख़िताब की परवा नहीं करते थे। जब रानडे के हक़ का विचार किये बिना ही, श्रीयुत तैलंग हाईकोर्ट के जज बनाये गये थे तब भी उन्होंने निराशा की शिकायत का

एक शब्द भी नहीं निकाला था। और कभी कोई मित्र, उनके सामने, इस बात को छेड़ता तो वे कह देते थे कि यह बात करने की कोई आवश्यकता नहीं है। न तो किसी समय उन्होंने स्वयं इस विषय में कुछ कहा न किसी को कहने दिया; यही नहीं, बल्कि मन में इस बात का कुछ बुरा भी नहीं माना कि उनके एक शिष्य को हाईकोर्ट के जज की पदवी मिली और उनको न दी गई। श्रीयुत तैलंग के सम्मान के लिए जो पार्टी दी गई थी उस में रानडे बड़ी ख़ुशी से गये थे और एक भाषण में अपने पुराने शिष्य और मित्र की बहुत बड़ाई की थी।

रानडे की रहन सहन की प्रशंसा सुन कर रामदास स्वामी का वाक्य याद आता है जो उनके लिए सर्वथा योग्य है :—

"देह त्यागितां कीर्ति मागें उरावी।
मना सज्जना हें चि क्रिया धरावी॥
मना चन्दना चे परी त्वां झिजावें।
परी अंतरीं सज्जना नीववावें॥"

अर्थात् हे भले मन! जैसे चन्दन घिसे जाने पर दूसरों को सुगन्धि देता है वैसे ही तू भी अपने दुःखों की चिन्ता छोड़ कर ऐसा काम कर जिससे कि तेरे देह त्यागने पर तेरी कीर्ति बनी रहे।

रानडे ने रामदास स्वामी के वचनानुसार जीवन निर्वाह कर के अपनी कीर्ति अमर कर दी है। नाइट का ख़िताब, एल-एल० डी० और वाइस चैन्सलर की पदवी न मिलने पर भी उनका यश-

दीर्घकाल तक रहेगा—इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। क्योंकि देश-सेवा में उन्होंने बहुत अग्र भाग लिया था और यदि तुलना की जाय तो किसी से इस बात में कम नहीं रहे। मि० ए० ओ० ह्यूम कांग्रेस के पिता समझे जाते थे, उन्होंने रानडे के लिए एक बार कहा था—"यदि कोई पुरुष दिन में २४ घंटे अपने देश की चिन्ता करता है तो वह मि० रानडे हैं।" और इस कारण मि० ह्यूम उनको 'गुरु रानडे' कहा करते थे।

जैसा कि मि० ह्यूम ने कहा है, रानडे केवल विचार में ही बैठे नहीं रहते थे वल्कि अपनी अनेक प्रवृत्तियों से अहर्निश देश की उन्नति के लिए प्रयत्न करते थे। इस बात के कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि रानडे ने अपनी देश-सेवा से अपना नाम अमर कर दिया है परन्तु व्यावहारिक रीति से सर्वसाधारण उनकी कीर्ति को दृढ़ रखने का प्रयत्न करें, यह प्रशंसनीय ही है। अब यह भी जानना चाहिए कि रानडे का स्मारक बनाने के लिए क्या प्रयत्न हुए और कहाँ तक सफल हुए।

स्मारक के सम्बन्ध में उचित कार्य करने के लिए बम्बई के शेरिफ़ मि० जेम्स मेकडानल्ड के निमंत्रण से ९ जुलाई १९०१ को टाउनहाल में एक बृहत् सभा हुई थी जिसके सभापति लोकप्रिय गवर्नर लार्ड नार्थकोट थे। रानडे के प्रति अपना उच्च-भाव प्रदर्शित करने, और स्मारक के विषय में सहानुभूति दिखाने के लिए, लार्ड नार्थकोट पूना से बम्बई इसी निमित्त आये थे।

सभा में बम्बई के सब बड़े आदमी उपस्थित थे; उनमें से विशेष उल्लेखनीय यह थे—बम्बई की कार्यकारिणी सभा के सभासद, सर चार्ल्स ओलिफ़ैन्ट, हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस सर लारेन्स जैन्किन्स और दूसरे जज आन० कैंडी, फुल्टन और चन्दावरकर, डा० पोलन, सर जमशेदजी जीजीभाई, सर दिनशा पीटिट, मि० जमशेदजी टाटा, मि० मेकडानल्ड, प्रो० मूलर, सर भालचन्द्र, आन० प्रो० गोखले, डा० भांडारकर, आन० मेसर्स रहिमतुल्ला सयानी, इब्राहीम रहमतुल्ला, गोकुलदास पारिख, सीतलवड़, खरे, विट्ठलदास ठाकरसी इत्यादि।

आन० मि० (हाल सर) इब्राहीम रहमतुल्ला के प्रस्ताव और मि० बमनजी पीटिट के अनुमोदन करने पर लार्ड नार्थकोट ने प्रमुख पद ग्रहण किया। गवर्नर साहब ने सभा का काम आरम्भ होने के पहले इस तरह पर रानडे के लिए कहा था:—

"जब न्यायमूर्ति रानडे का शरीरान्त हुआ तब समस्त बम्बई प्रान्त में बल्कि भारतवर्ष भर में शोक और दुःख का आर्त्त नाद हुआ था। देशी और अँगरेज़ सबने इसको माना था कि रानडे की मृत्यु से हिन्दुस्तान का एक कुशल, निर्भय, और उत्साही सरकारी कर्मचारी जाता रहा। उनके जीवन के अन्तिम थोड़े महीनों से मैं उन्हें जानता था। मुझे अभाग्यवश इससे पहले उनसे परिचित होने का अवसर नहीं था। इसलिए यहाँ पर उपस्थित सज्जनों में शायद ही कोई ऐसे हों जो रानडे के विषय में मुझसे अधिक कहने योग्य न हों। परन्तु एक सुप्रसिद्ध देशी

सज्जन, एक परिपक्व विद्वान्, उत्तम न्यायाधीश, और अपने देश के हित के लिए अविश्रान्त उद्योग करने वाले के नाम का सम्मान करने में सरकार उद्यत है और मुझ को आशा है कि मेरी इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण समझा जायगा। थोड़े महीने हुए, बम्बई विश्वविद्यालय के सभासदों के सम्मुख मैंने मि० रानडे की प्रशंसा बतौर एक हाईकोर्ट के जज के की थी। इस समय, मैं दूसरे विषय का विचार रानडे के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ। वे एक सुप्रसिद्ध न्यायाधीश ही नहीं थे बल्कि अपने देश की आर्थिक दशा का सूक्ष्म अवलोकन और उसकी ओर सब का ध्यान दिला कर उन्होंने राजा और प्रजा दोनों की बड़ी सेवा की है। दक्षिण के कृषकों का संकट निवारण करने के लिए जो क़ानून बनाया गया है उसके वास्तविक हेतुओं को सूक्ष्मता से समझने और उसके अनुसार काम करने में उन्होंने इस बात का अच्छा उदाहरण दिया है। निर्धन और अनाथ लोगों के दुःख आसानी से समझ में नहीं आते हैं। परन्तु मि० रानडे का ध्यान सदा उन्हीं की ओर रहता था। उनके जैसे निडर सुधारक की और एक ऐसे पुरुष की जो निश्चल भाव से प्रजा की आवश्यकताओं और उनकी इच्छाओं को सरकार के सामने उपस्थित करे—कितनी आवश्यकता थी यह बात मैंने सरकारी मन्तव्यों से, जो सन् १८८६ से १८९४ तक में पास किये गये हैं, मालूम की है। हमारे राजराजेश्वर की देशी और विलायती प्रजा को मित्र भाव से रहते देखने की मुझे बड़ी उत्कंठा है।

ऐसे सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए मि० रानडे ने अपनी उच्च शक्तियों का उपयोग कर प्रजा की आर्थिक, सांसारिक तथा विद्यासम्बन्धी उन्नति करने के लिए प्रयत्न करके, बहुत बड़ा काम किया है। यदि उनकी मूर्ति स्थापित की जाय तो वह सबसे अच्छा स्मारक होगा।"

गवर्नर साहब ने अपना भाषण समाप्त करके आन० मि० जस्टिस रसल का पत्र और आन० मि० फ़ीरोज़शाह मेहता का तार पढ़ सुनाया जिसमें उन्होंने सभा में उपस्थित न हो सकने के लिए खेद प्रकट किया था। इसके उपरान्त चीफ़ जस्टिस सर लारेन्स जेन्किन्स ने पहला प्रस्ताव एक सुन्दर भाषण के साथ उपस्थित किया। इसमें रानडे की मृत्यु से देश की जो हानि हुई है उसके लिए खेद प्रकट करते हुए उनके कुटुम्बियों से समवेदना प्रकट की गई थी। चीफ़ जस्टिस ने रानडे की विद्वत्ता और विश्वविद्यालय की सेवा की प्रशंसा की; और कहा कि यदि रानडे कुछ काल तक और जीवित रहते तो वाइस-चैन्सलर के पद पर उनकी नियुक्ति अवश्य होती। मनुष्य-स्वभाव के सूक्ष्म अभ्यासी, स्वभावसिद्ध राजनीतिज्ञ और निष्ठा वाले सज्जन होने की उनकी प्रशंसा कर कहा कि "उनका जीवन, हृदय और विचार की शुद्धता के लिए तथा नैतिक बल के लिए सुविख्यात था। जो काम उन्होंने किये वह उच्च भावना से प्रेरित होकर किये। यही कारण था कि उनको विपत्ति और बाधायें विचलित नहीं कर सकती थीं। अतिशयोक्ति, अपशब्द-भाषण

और दूसरे पर आक्षेप करने की वृत्ति मानो उनके वाग्युद्ध के शस्त्रों में थी ही नहीं। इस बात से, और अपने अमूल्य जीवन से, रानडे हमारे लिए बहुत से अनुकरणीय दृष्टान्त छोड़ गये हैं। ऐसे सत्पुरुष का सम्मान करने में वास्तव में हम अपना ही सम्मान करते हैं।"

इस प्रस्ताव का अनुमोदन आन० जस्टिस चन्द्रावरकर, सर भालचन्द्र और आन० मि० रहमतुल्ला सयानी ने बहुत अच्छे भाषणों द्वारा किया। और इसके बाद प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। दूसरा प्रस्ताव, इस विषय का कि रानडे के योग्य स्मारक के लिए रुपया इकट्ठा किया जाय, आन० मि० जस्टिस कैंडी ने उपस्थित किया था। उसका अनुमोदन आन० डा० भाण्डारकर, आन० मि० गोखले और श्रीयुत सुन्दरनाथ खोटे ने किया और प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

जस्टिस कैंडी ने अपने भाषण में कहा था—"जब मैं सिंडिकेट का प्रमुख था तब मेरे सामने कोई बात पेचदार आ जाती थी तो सभासदों से उसके बारे में सलाह ली जाती थी। परन्तु वास्तव में सभासदों की राय रानडे की राय होती थी और वही मानो 'सिंडिक' थे। हम लोग उनको अपना गुरु मानते थे, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।"

स्मारक के लिए धन जमा करने को १२५ मनुष्यों की कमिटी बनाने का प्रस्ताव आन० मि० गोकलदास पारेख ने उपस्थित किया था, उसका अनुमोदन मि० एच० ए० वाडिया और

श्रीयुत डी० ए० खरे ने किया था। गवर्नर साहब को प्रमुख होने के लिए जब धन्यवाद दिया गया तो उसके उत्तर में उन्होंने कहा था "मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि मुझको यहाँ आकर मि० रानडे की प्रशंसा में उत्तम भाषण सुन कर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है। मैं यही कहना चाहता हूँ कि परलोकगत न्यायाधीश के योग्य एक स्मारक की स्थापना कीजिए और उसके लिए यथावत् प्रयत्न कीजिए—इस तरह उत्तम रीति से आप मेरा उपकार मानिए।"

स्मारक फंड में २३०००) से ऊपर जमा हो जाने पर चन्दा देने वालों की एक सभा सन् १६०५ ई० में हुई। उन्होंने यह निश्चय किया कि गवर्नर साहब की पूर्व सूचना के अनुसार बम्बई में किसी अच्छे स्थान पर रानडे की मूर्त्ति खड़ी की जाय। इसके अनुसार, बम्बई के प्रसिद्ध मूर्त्तिकार श्रीयुत एम० जी० म्हात्रे से रानडे की एक मूर्त्ति बनवाई गई और उसकी स्थापना 'कूपरेज' नामक जगह पर की गई। मूर्त्ति की उद्घाटन-क्रिया, ६ अप्रेल सन् १६१३ ई० को, एक बड़ी भारी सभा के सामने आन० मि० क्लाड हिल—बम्बई की कार्यकारिणी (और अब वाइसराय की) सभा के सभासद्—के हाथ से कराई गई थी। उस अवसर पर, मि० हिल ने रानडे की प्रशंसा में एक बड़ा ही उत्तम व्याख्यान दिया था।

पूना में नेटिव जनरल लाइब्रेरी के भवन में २२ जुलाई सन् १६०१ को स्मारक बनाने के विषय में सभा हुई थी। सभापति-

थे सर चार्ल्स ओलिफ़ेन्ट। उस अवसर पर दूसरे सज्जनों के अतिरिक्त डेकन कालेज के विद्वान् और लोकप्रिय प्रिन्सिपल डा० सेल्बी ने एक बड़ा ही भावयुक्त भाषण दिया था और उसमें रानडे के अनेक सद्‌गुणों का स्मरण कराया था। इस स्मारक के लिए रुपया जमा करने को आन० मि० गोखले स्वयं शोला-पुर, बेलगाँव, धारवाड़, गड़ग, बीजापुर आदि स्थानों में गये थे और बड़ा प्रयत्न किया था। एक लाख के लगभग रुपया जमा हुआ था। अर्थशास्त्र के अभ्यास की उन्नति और औद्योगिक सुधार की वृद्धि के लिए स्मारक रूप से 'रानडे इन्डस्ट्रियल एन्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट' की स्थापना की गई है। इसकी स्थापना के पहले आन० मि० गोखले ने सरकार से बहुत लिखा-पढ़ी की थी। इसकी उद्‌घाटन-क्रिया बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर सर जार्ज क्लार्क के हाथ से, १६ सितम्बर सन् १९१० को, कराई गई थी। इस अवसर पर गवर्नर साहब ने रानडे की हृदय से प्रशंसा की थी और कहा था कि "जिस महापुरुष के लिए हमारे प्रान्त और भारतवर्ष को अभिमान करने का हक़ है उनका स्मारक खोलने के लिए मुझ से पहली ही बार नहीं कहा गया है। न्यायमूर्ति रानडे ने जिस देश की इतनी सेवा की, वहाँ उनका स्मारक बनाना केवल योग्य कार्य ही नहीं है बल्कि एक कर्तव्य है। और जिस काम में उन्होंने अपना मन लगाया था उसी के लिए यह 'इन्स्टिट्यूट' बनाया गया है, इससे अच्छा और क्या स्मारक हो सकता है।" स्वयं रानडे से अपरिचित होने और

उनके सद्गुणों की कल्पना करने में अशक्त होने से डा० सेल्वी के भाषण की ओर गवर्नर साहब ने सूचना की और डा० सेल्वी के यह शब्द कहे कि "प्रकृति और इतिहास में सर्वव्यापक शक्ति जो सृष्टि का नैतिक राज्य चलाती है उसके अस्तित्व में रानडे को बड़ी श्रद्धा थी और यही उनके अविश्रान्त परिश्रम तथा निश्चल उदयदर्शिता (Optimism) की कुंजी थी।" डा० सेल्वी के इन शब्दों की ओर सूचना करते हुए गवर्नर साहब ने कहा कि "सबसे बड़ी शिक्षा जो रानडे हमको दे गये हैं वह बहुत अंशों में यही है। यदि इसको हम यथार्थ समझ कर ग्रहण कर लें तो सब निराशाओं में आशा का सञ्चार हो जाय और हिन्दुस्तान की उन्नति के लिए आशा तथा श्रद्धा से काम करने योग्य हम बन जायँ। मि० रानडे ने जो लेख आदि लिखे हैं और अब देशवासियों के लिए छोड़ गये हैं, उनके पढ़ने से और उनका मुख्य भाव समझने से रानडे की बुद्धि की अवधानशक्ति और विविध विषयों के अभ्यास की विशालता के लिए मुझे आश्चर्य होता है। उनकी प्रवृत्तियों की मर्यादा उतनी विशाल थी जितनी कि उनकी चित्त की सम्भावना। उनकी प्रवृत्तियों में देश-बन्धुओं के नैतिक, मानसिक, और साम्पत्तिक अभ्युदय के सब विषयों का समावेश हो जाता था। जिस काम को भी उन्होंने उठाया उसमें उनको उत्साह का आवेश आ जाता था। उत्साह रहने पर भी उनके लेखों में वह निरोध जगह जगह पर दीखता है जिसके अभाव से-

निष्फलता और भयङ्कर परिणाम प्राप्त होते हैं। मि० रानडे जल्दी में, बिना विचार किये, किसी अनुमान को नहीं मान लेते थे। उनमें परिश्रम करने की ऐसी महान् शक्ति थी कि यदि उसके प्राप्त करने का हम सब लोग प्रयत्न करें तो अपना और दूसरों का बड़ा लाभ हो। जो गुण 'मधुर-विवेक-बुद्धि' कहा जाता है वह भी उनमें था, जिसके होने से उनकी राय वज़नदार होती थी। सन् १८९३ ई० में पूना में औद्योगिक कान्फरेन्स हुई थी, उसमें रानडे ने जो व्याख्यान दिया था उसमें यह और दूसरे गुण दिखाई देते हैं। भारतवर्ष की नष्ट हुई प्राचीन कारीगरी के लिए वे शोकोद्गार नहीं निकालते थे बल्कि उसके कारणों को खोजते थे और वर्तमान स्थिति को ठीक ठीक जानने में लगे रहते थे।"

गवर्नर साहब ने इस प्रकार उद्योग और अर्थशास्त्र में रानडे की निपुणता की प्रशंसा की थी और उनके स्मारक रूप संस्था को मदद करने के लिए सरदारों तथा श्रीमन्त लोगों से कहा था और स्वयं सरकार की ओर से यथाशक्ति सहायता देने के लिए वचन दिया था।

मदरास में 'साउथ इंडियन एसोसिएशन' के साथ एक पुस्तकालय 'रानडे लाइब्रेरी' खोला गया है। इस पुस्तकालय के भवन की नींव माननीय गोखले के हाथ से, सन् १९०४ की जुलाई में, रखवाई गई थी। उस समय श्रीयुत गोखले ने अपने भाषण में, अपने गुरु, रानडे के सद्गुणों का अच्छा चित्र

खींचा था। इस पुस्तकालय में रानडे के प्रिय विषय—इतिहास और अर्थशास्त्र—की पुस्तकें विशेष कर संग्रह की गई हैं।

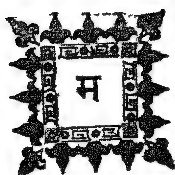
अहमदाबाद में समाज-सुधार के लिए रानडे की स्मृति में राव बहादुर लालशंकर के प्रयास से एक फंड खोला गया था। उसमें १४०००) जमा हुए थे। इस रक़म के व्याज से सुधार-सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित करने का उद्देश था।

इनके अतिरिक्त, कितनी ही जगह, सर्वसाधारण संस्थाओं और भवनों में रानडे की तस्वीरें लगाई गई हैं और उनकी स्मृति को बनाये रखने का उद्योग किया गया है। स्त्री-समाज ने भी इस कार्य में भाग लिया है।

इस प्रकार, देश के अग्रगण्य और सुविख्यात सज्जनों की ओर से रानडे की अनेक प्रकार से अनेक अवसरों पर प्रशंसा हुई है और अब भी उनका नाम समय आने पर बड़े पूज्य भाव से लिया जाता है। जिन उत्कृष्ट गुणों द्वारा रानडे ऐसी कीर्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर गये हैं उन गुणों का विस्तार से विवेचन अगले दो अध्यायों में किया जाता है।

ग्यारहवाँ अध्याय।

गुणावलोकन।



नुष्य की परीक्षा उसके ज्ञान, शील, गुण और कर्म से होती है। रानडे की अनेक प्रवृत्तियों और उनके कामों का विस्तार से वर्णन हो चुका है। उसके साथ ही हमको उनके अगाध ज्ञान का भी परिचय मिल चुका है। अब उनके शील, स्वभाव और गुणों का वर्णन करना है।

समकालीन मनुष्यों में रानडे ने जो असाधारण प्रतिष्ठा प्राप्त की, वह अपने अनेक उत्तम गुणों और शक्तियों द्वारा पाई थी। इसमें किसी को संशय नहीं हो सकता। उनमें से बहुत से गुण बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त सबके लिए अनुकरणीय हैं, इसलिए विस्तार से उनका वर्णन करना उचित है और उनके स्पष्टीकरण तथा परिपुष्टि के लिए बहुत से उदाहरण भी रानडे के चरित्र में से दिये जाते हैं। उनके गुणों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं:—(१) सार्वजनिक हित के गुण; (२) बुद्धि और विचारशीलता के गुण; (३) हृदय के या मानसिक गुण। पहले दोनों का विवेचन इस अध्याय में किया जाता है।

रानडे के चरित्र से स्पष्ट जान पड़ता है कि वे असीम परिश्रम किया करते थे । पहले दर्जे के सब-जज के पद पर उनकी नियुक्ति हुई थी और उसके बाद बराबर ऊँचे पदों को उन्होंने प्राप्त किया था । इसलिए उनको सरकारी काम में बहुत समय लगाना पड़ता था । अपना सरकारी काम बड़ी सन्तोषजनक रीति से करने पर भी उनको देश-सेवा के अनेक कामों के लिए समय मिल जाता था, यह बात बड़े आश्चर्य की है । साधारण शक्ति का मनुष्य, ऐसे ऊँचे ओहदे पर रह कर, किसी दूसरे काम के करने में असमर्थ होता है । ऐसे लोगों की यह शिकायत प्रायः सुनने में आती है कि उनको अपने सरकारी काम से बिलकुल अवकाश ही नहीं मिलता । परन्तु रानडे उन में से नहीं थे । वे एक अद्भुत मनुष्य थे । विद्याभ्यास में घोर परिश्रम करके और एक महान् विद्वान् होकर उन्होंने सरकार की सेवा कैसी सफलता से की थी, यह हम बतला ही चुके हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, राजकीय, औद्योगिक और साहित्य-विषयक प्रवृत्तियों से देश की कैसी सेवा की, यह भी हम देख चुके हैं । अपने देश-सम्बन्धी कार्य के लिए उनको संख्या, उदाहरण, प्रमाण आदि अपने पक्ष के समर्थन के लिए तैयार रखने पड़ते थे । इसके लिए उनको समाचार-पत्र, पत्रिका और अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ता था । 'मराठी सत्ता का उदय' नामक पुस्तक लिखने के लिए उन्हें, अपने प्रतिदिन के पठन-पाठन के उपरान्त पेशवा के 'बखर' के २२००० पृष्ठ

उद्योग

पढ़ने पड़े थे। इससे उनके अथाह उद्योग का कुछ परिचय मिल सकता है।

रानडे के पास प्रति दिन बहुत से पत्र आया करते थे। ये पत्र मित्रों के पास से, प्रसिद्ध मनुष्यों के यहाँ से और अनेक संस्थाओं से आया करते थे। रानडे इन सब का उत्तर वापसी डाक से दिया करते थे और उन पत्रों के उत्तर देने में इतनी शीघ्रता करते थे जितनी कि विलायत के सुप्रसिद्ध मंत्री मिस्टर ग्लेडस्टन। मान० मि० गोखले ने रानडे की पुण्य-तिथि के उपलक्ष्य में जो व्याख्यान दिया था उसमें कहा था—"कितने ही वर्ष तक रानडे के पास लगातार २० के लगभग पत्र रोज़ आते थे। उनके उत्तर भी तुरन्त दिये जाते थे। यह पत्र साधारण घरेलू बातों से लेकर राजनीति जैसे महत्त्व के विषयों के बारे में होते थे। हिन्दुस्तान में यदि कोई उत्साही देश-सेवक काम करने वाला मिल जाता तो उनको बड़ा ही आनन्द होता था। वे उसका सदा ध्यान रखते थे और उससे पत्रव्यवहार किया करते थे।"

रानडे अपने सब कामों के लिए समय निकाल लेते थे, इसका एक मात्र कारण यह था कि उन्होंने अपने समय के विभाग कर रक्खे थे। हम ऊपर देख चुके हैं कि अमुक काम के लिए वे अमुक समय दिया करते थे। जब तक जागते रहते तब तक एक पल भी व्यर्थ न जाने देते थे। 'काम काम और

काम और आराम बिलकुल नहीं' यही उनके जीवन का सूत्र था। केवल ४ घण्टे खाने, पीने, टहलने और दूसरे आवश्यक कामों में व्यय करते थे; बाक़ी समय सब काम करने में जाता था। वे रात के ११ बजे से प्रातःकाल के ५-६ बजे तक पलँग पर पड़े तो रहते थे परन्तु निद्रा उनको ३, ४ घण्टे ही आती थी। पिछली रात को उनका मस्तिष्क देश-सम्बन्धी विचारों में मग्न रहता था और देश-चिन्ता के कारण कभी कभी तो वे बहुत ही थोड़ी देर सो सकते थे। शारीरिक आरोग्य के लिए इतना परिश्रम हानिकारक था। उनके मित्र समझाते थे कि वृद्धावस्था में इतनी मेहनत से शरीर को हानि होगी और डाक्टर आग्रह करते थे कि शरीर को विशेष विश्राम देना चाहिए; परन्तु वे किसी की नहीं सुनते थे। क्योंकि कार्य में प्रवृत्त रहने से उनको आनन्द होता था और बिना काम किये उनको चैन नहीं पड़ता था। उनका यही कहना था कि जीवन का एक एक पल अमूल्य रत्न है, उसको हाथ से न जाने देना चाहिए। उनका शरीर बलवान् था, परन्तु ४० वर्ष तक नौकरी करने और बराबर घोर परिश्रम करने से, जीवन के पिछले भाग में, वह बहुत शक्तिहीन हो गया था। यह लिखा ही जा चुका है कि आरोग्य बिगड़ने पर भी उन्होंने मृत्यु-समय तक काम करते रहने की इच्छा दर्शाई थी और यह कहा था कि 'काम करते करते मरना कैसी सुख-पूर्ण मृत्यु है'। उसके थोड़ी ही देर बाद उन्होंने देहत्याग किया। अपने अद्भुत उद्योग से उन्होंने

देश की अमूल्य सेवा तो की परन्तु उसके कारण मृत्यु शीघ्र हुई—यह बड़ी शोचनीय बात है।

रानडे के परिश्रमी होने से उनकी तुलना बार बार मि० ग्लेडस्टन से की जाती है, जो एक जगत्प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और विलायत के लोकप्रिय प्रधान मंत्री हो गये हैं। डाक्टर भाण्डारकर ने उनके लिए कहा था कि 'वे हमारे ग्लेडस्टन थे'। रानडे उनके बराबर दीर्घजीवी तो नहीं हुए, परन्तु उद्योग करने में किसी प्रकार उनसे कम नहीं थे। ग्लेडस्टन की तरह उन्होंने भी सामाजिक, धार्मिक, राजकीय, औद्योगिक आदि जुदे जुदे विषयों का बड़ा गहन अध्ययन किया था।

मान० मि० गोखले ने जो व्याख्यान हिन्दू यूनियन क्लब के समक्ष दिया था उसमें उन्होंने कहा था—"उन महान् पुरुष ने जो कार्य अपने जीवन-काल में किये हैं उनका विचार करने से हर एक मनुष्य को आश्चर्य अवश्य होगा। उनका बलवान् मस्तिष्क दिन रात ज्ञान प्राप्त करने और दूसरों को देने में लगा रहता था। और जिस उत्साह से वे इस काम को करते थे वैसा उत्साह हमारे देश-वासियों में बहुत कम देखा जाता है। बराबर काम में लगे रहने की उनकी शक्ति अद्भुत थी और यह एक बात थी कि उनको प्रवृत्त रहने में ऐसा आनन्द आता था कि उसमें लीन हो जाते थे। रानडे कहा करते थे कि निरुत्साह हमारे लिए शाप रूप है। चाहे जैसे अभिप्राय और नीयत से कोई काम किया जाय, और चाहे उल्टे रास्ते से

ही क्यों न किया जाय रानडे को बुरा नहीं मालूम होता था परन्तु निरुत्साह से उनको बड़ा खेद होता था। वे अपने सब कर्त्तव्यों को धर्म समझ कर करते थे।

स्वयं ऐसे उद्योगी होने से रानडे को कर्म और प्रारब्ध के भरोसे बैठे रहने का सिद्धान्त बिलकुल नहीं सुहाता था। सन् १८९७ ईसवी की अमरावती की सोशल कान्फरेन्स में उन्होंने इस सिद्धान्त का ख़ूब खण्डन किया था। इस पर रा० ब० मानकर ने उनसे पूछा था कि आपत्ति और दुःख के समय मनुष्य को यह सिद्धान्त बड़ी ढाढ़स बँधाता है फिर आपने इस का खंडन किस भाव से किया? तब रानडे ने एक पत्र द्वारा इसका यह उत्तर दिया था:—"कर्म के सिद्धान्त का आशय ठीक समझा जाय तो उसके विरुद्ध मुझे कुछ नहीं कहना है। कर्म तीन प्रकार का होता है और सब कर्मों का प्रारब्ध या संचित कर्म में समावेश नहीं होता। हमारा कर्त्तव्य तीसरी प्रकार के क्रियमाण कर्म (इस जन्म के कर्म) को उत्तम प्रकार से करने और देवताओं के पशु या ग़ुलाम न रह कर स्वाश्रयी और स्वतंत्र होने का है। कर्म को लोग दैवाधीन प्रारब्ध समझ लेते हैं और तब उसका अर्थ केवल आलस्य और निर्बलता होता है।"

जब मि० ग्लेडस्टन की मूर्ति की उद्घाटन-क्रिया की गई थी तो मि० (अब लार्ड) मार्ले ने कहा था:—"कभी एक महान् राज्य-मन्त्री की तरह, कभी प्रचलित दशा में परिवर्तन कराने वाले क्रान्ति-दर्शी कवि की तरह, और कभी आकाश में त्वरा से ज्योति-

मेय तारे की भाँति लोगों पर अपना अद्भुत प्रकाश डालने वाले धर्मोपदेशक की तरह, संसार में समय समय पर असाधारण और विरल मनुष्य प्रकट होते हैं। मि० ग्लेडस्टन उनमें से एक थे।" रानडे भी एक ऐसे ही विरल पुरुषों में थे या नहीं, इस बात का निर्णय पाठक स्वयं करलें।

रानडे एक अनन्य और आदर्श देश-भक्त थे—इसमें किसी को शंका के लिए स्थान नहीं है। पाठकों को यह विदित हो गया है कि देश-हित के लिए उन्होंने यहाँ की परिस्थितियों का कैसा अवलोकन किया था

स्वदेश-भक्ति

और उनमें योग्य सुधार करने तथा देश-हित-साधन और उसकी उन्नति के लिए तन मन धन से कैसा परिश्रम किया था। आर्य-भूमि के लिए उनका बड़ा पूज्य भाव था। देश की प्राचीन और अर्वाचीन दशा की तुलना करके उनको यह बात विदित हो गई थी कि भगीरथ जैसा उद्योग किये बिना देश की उन्नति नहीं हो सकती और न हमको अपना अभीष्ट प्राप्त हो सकता है। इस कारण से वे अपने किसी काम में स्तुति या निन्दा की परवा नहीं करते थे। "मेरा देश है" यही समझ कर काम में लगे रहते थे। कांग्रेस के पिता मि० ह्यूम ने भी रानडे की देश-भक्ति की बड़ी प्रशंसा की थी। उनका स्मारक बनाने के लिए जो सभा हुई थी उसमें आन० मि० रहमतुल्ला सयानी ने कहा था—"देश का पुनरुद्धार करना और सामान्य धर्म, तथा साधारण सामाजिक और राजकीय व्यवस्था के आधार पर भारतवर्ष

की प्रजा में जातीयता के भाव उत्पन्न करना, यही उनका हेतु था। वे अपने देश की प्रजा में ऐक्य भाव नैतिक उन्नति और साम्पत्तिक साधनों की परिपूर्णता देखना चाहते थे। समस्त भारतवर्ष को वे अपना देश समझते थे और सब लोगों से भ्रातृ-भाव रखते थे।" डेकन कालिज के प्रिन्सिपल डा० सेल्बी ने कहा था—"यदि कभी कोई स्वदेश-भक्त हुआ है तो वह रानडे था।"

स्वार्थ त्याग कर, स्तुति-निन्दा की उपेक्षा कर, भारतवर्ष के लिए उद्योग करने वालों में और मुख्य कर हमारे परम देशभक्त दादाभाई नौरोजी के साथ उनका नाम अग्रगण्य है। श्रीयुत गोखले ने रानडे को एक शुद्ध, उत्साही और महान् देशभक्त बतला कर उनकी तुलना दादाभाई से की थी और कहा था—मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि रात दिन देश-चिन्ता में लीन रानडे जैसे एक ही सज्जन को मैंने देखा है; वे हैं मि० दादाभाई नौरोजी। रानडे को प्राचीन भारत पर बड़ा गर्व था और यह अभिमान स्वाभाविक रीति से उचित था। परन्तु भूतकाल की अपेक्षा उनको वर्तमान दशा का भी विशेष विचार रहता था और सुधार की अनेक प्रवृत्तियाँ इसी का परिणाम थीं जिनमें वे व्यग्र रहते थे। उनका विचार था कि जो क़ानून ब्रिटिश सरकार ने बना दिये हैं और जो व्यवस्था हो रही है उसके होते हुए भी हमारे देशवासी बहुत काम कर सकते हैं।

देश के लिए इतनी चिन्ता रखने के कारण, अपमान होने पर भी, रानडे अपना काम किये जाते थे। इस सम्बन्ध में एक बात जानने योग्य है। लार्ड रिपन ने हिन्दुस्तान के लोगों को स्थानिक स्वराज्य देने के लिए क़ानून बनाया था जिसके अनुसार म्यूनिसिपैलिटी बनाई गई हैं। जब यह क़ानून बना ही था और प्रजा को यह अधिकार दिया गया था उस समय पूना में मेम्बरों का चुनाव हुआ और उसमें कुछ जोश भी लोगों को आ गया। कारण यह था कि पिछले वर्ष में बहुत से मेम्बर सरकारी आदमी थे। रानडे चाहते थे कि प्रजा के प्रतिनिधियों का चुनाव हो और उनकी संख्या विशेष रहे; परन्तु दुर्भाग्य-वश एक दूसरे सज्जन श्रीयुत महादेव मोरेश्वर कुन्टे (जो रानडे के बाल्यावस्था से मित्र थे) सरकारी लोगों के पक्ष में चले गये थे और उनका चुनाव होने के लिए प्रयत्न करते थे। रानडे ने इस बात पर मि० कुन्टे पर आक्षेप किया तो उसके जवाब में उन्होंने सभा करके रानडे को भला बुरा कहा। लोगों में जोश बहुत फैल गया। ऐसी शङ्का हुई कि सरकार इसका कुछ उलटा ही अर्थ न कर ले, इसलिए रानडे ने कुन्टेजी से सफ़ाई करनी चाही। इसी हेतु से रानडे कुन्टे के पास गये। उस समय कुन्टे एक मकान पर सभा में अपना व्याख्यान दे रहे थे और रानडे को बड़ी कड़ी बातें सुना रहे थे। रानडे भी इस बात को जानते थे, परन्तु जहाँ खड़े होकर कुन्टे बोल रहे थे उसके ठीक़ सामने ही कमरे में जाने का मार्ग था। सब लोग भूमि

पर बैठे थे, रानडे भी वहीं जाकर बैठ गये। उनको देख कर, कुन्टे ने अपना मुँह रानडे और श्रोताओं की ओर से दीवार की तरफ़ कर लिया; और दो चार शब्द कह कर वे बैठ गये। तब रानडे उठ कर उनके पास जा बैठे। सभा-विसर्जन होने पर रानडे ने कुन्टे से, अपने साथ गाड़ी में बैठ कर, हवा खाने को चलने के लिए कहा। कुन्टे ने बड़े रूखेपन से कह दिया "मैं आपके साथ जाना नहीं चाहता।" यह कह कर कुन्टे अपनी गाड़ी में बैठे तो रानडे भी यह कहते हुए कि "अच्छा, आपको मेरे साथ नहीं चलना है तो मुझे तो तुम्हारे साथ गाड़ी में चलना है" कुन्टे की गाड़ी में जा बैठे। कुन्टे से यह नहीं हो सकता था कि उनको गाड़ी में बैठने से रोक देते। आख़िर दोनों बहुत दूर तक हवा खाने को गये और जब वापिस लौटे तो झगड़े का समाधान हो गया। कुन्टे का क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने प्रजा-पक्ष की विरुद्धता एकदम छोड़ दी।

एक सुविख्यात समाचारपत्र ने रानडे के मरने पर उनकी स्वदेश-भक्ति के लिए जो कहा था वह बिलकुल ठीक था। उसने लिखा था—"सर्वदेशी ज्ञान-सम्पन्न, सब के प्रति समभाव और ममता रखने वाले, और सबसे विशुद्ध देशभक्ति वाले महान् पुरुष की मृत्यु से जो हानि प्रजा की हुई है उसकी पूर्ति होना कठिन है। वे १९ वीं शताब्दी के मुख्य पुरुष थे। ऐसे मनुष्य सौ वर्ष बाद भी मुश्किल से पैदा होते हैं।"

देशहित के लिए ऐसे निरपेक्ष और निरभिमानी स्वभाव के लोग संसार में बहुत थोड़े होते हैं। रानडे की देशभक्ति और सेवा का विचार करते हुए उनकी मृत्यु को जो देश के लिए आपत्ति बतलाया गया है वह बिलकुल यथार्थ है।

कर्त्तव्य-परायणता

रानडे में कर्त्तव्य-परायणता का गुण विशेष रूप से अनुकरणीय था। श्रीयुत अगाशे का कहना है कि रानडे 'महान्' कहलाये क्योंकि वे सत्पुरुष थे और उन्होंने बहुत काम किये थे। रानडे का यह कहना था कि हर एक शब्द जो हमें बोलना है अथवा कोई भी काम जो करना है वह केवल कर्त्तव्य-पालन के लिए है। इसी से जिस काम को वे हाथ में लेते थे उसको यह समझ कर कि यह मेरा कर्त्तव्य है, किये चले जाते थे। और जब एक काम में हाथ लगा दिया तो फिर चाहे जैसी आपत्ति या रुकावटें हों, विरुद्ध पक्ष का सामना करने में पीछे नहीं हटते थे। किसी विघ्न से उनको क्षोभ नहीं होता था और न वे काम से विमुख होते थे। सरकारी काम को पूर्ण कुशलता से कर्त्तव्य समझ कर करते थे। जब वे स्पेशल जज थे तो उनको दौरे पर जाना पड़ता था। उस समय वे, दूसरे हाकिमों की तरह, जाँचने के कागज़ात अपने पास ज़िले में मँगा कर नहीं देखते थे बल्कि स्वयं गाँव गाँव जाते थे और वहीं जाकर मुआइना करते थे तथा काश्तकारों की हालत को देखते थे। सरकारी काम के अतिरिक्त और जो जो काम उन्होंने किये वे भी कर्त्तव्य-बुद्धि

से ही किये। यही कारण है कि वे राजा और प्रजा दोनों को प्रसन्न कर ऐसी कीर्ति सम्पादन कर सके थे।

रानडे स्वयं अपने कर्त्तव्य-पालन में ही नहीं लगे रहते थे बल्कि अपने पास के लोगों को भी ऐसा करने के लिए शिक्षा देते थे। श्रीमती रमाबाई ने महिला-परिषद की अधिनेत्री होकर अपने पूज्य पति की कर्त्तव्य-परायणता के लिए जो कहा था उसका उल्लेख हो ही चुका है; उन्होंने ठीक ही कहा था कि रानडे सुख-दुःख का और शारीरिक अस्वस्थता का विचार किये बिना अपना काम किया करते थे। यदि तबीयत बहुत बिगड़ने पर काम बन्द करना पड़ता तो उनको बड़ा खेद होता था। लाहोर सोशल कान्फ़रेन्स में जाने के लिए सन् १९०० में उन्होंने सब तैयारी करली थी, परन्तु ठीक चलने के समय उनकी तबीयत बहुत ख़राब हो जाने से वे जा न सके; इसका उनको बड़ा खेद हुआ था। उनकी कर्तव्य-बुद्धि के भाव को वर्डस्वर्थ कवि की नीचे लिखी पंक्ति अच्छी तरह दर्शाती हैं:—

He holds no parley with unmanly fears;
Where duty bids, he confidently steers;
Faces a thousand dangers at her call;
And trusting in his God, surmounts them all.

अर्थ:—पुरुष-धर्म के लिए अयोग्य भय की उसको चिन्ता नहीं है। कर्तव्य जो आज्ञा देता है उसको वह दृढ़ता से करता है। कर्तव्य-पालन के लिए हज़ारों विपत्तियों

का सामना करता है और ईश्वर पर भरोसा रखते हुए उन पर विजय पाता है।

सर विलियम हारकोर्ट ने जो प्रशंसा मि० ग्लेडस्टन की की थी, वह रानडे के लिए भी योग्य है—"परस्पर-विरोधी मतों के अनुयायी लोगों का जो विश्वास-पात्र बनता है और जो उनकी सहानुभूति का अधिकारी हो जाता है, उसका कारण यह है कि वह सदा निश्चयपूर्वक काम करता है और जिस काम को वह करता है उसे यही समझ कर करता है कि देशहित के लिए वह सर्वोत्तम है। जिस बात को वह मानता है पूरे मन से मानता है; जिस बात की इच्छा करता है उसे प्रबल इच्छा शक्ति से चाहता है और जिस काम को करता है उसको पूर्ण उद्योग से करता है। यह लक्षण एक महान् पुरुष के हैं।"

दर्शिता
Optimism

दर्शिता रानडे के चरित्र का एक मुख्य लक्षण था। विघ्नों से वे कभी निराश नहीं होते थे। 'जो होता है वह भले के लिए ही होता है' ऐसा मान कर अपने काम में लगे रहते थे और उसे उत्साह तथा धैर्य से करते थे। जो काम उठाते थे उसको एकदम कर डालने का प्रयत्न नहीं करते थे और न यही चाहते थे कि उनकी धारणा तुरन्त सफल हो जाय। और न वे ऐसी किसी को सलाह ही देते थे। Rome was not built in a day (रोम नगरी एक दिन में नहीं बन गई थी)—वाली अँगरेज़ी कहावत को या हमारी देशी कहावत 'हथेली पर सरसों नहीं

जमती' को अच्छी तरह समझ कर काम करते थे; और इसी कारण से अपनी प्रवृत्ति में बार बार विघ्न पड़ने पर भी वे कुछ परवा नहीं करते थे। जो लोग अपने कामों का फल एकदम न पाकर निराश हो जाते थे उनको यह सलाह देते थे कि जनसमूह की वृत्ति के अनुकूल मार्ग से काम करो। माननीय श्रीयुत गोखले की कही हुई एक बात जानने योग्य है—"श्रीमान् रानडे अपने 'दर्शिता' गुण के कारण भारतवर्ष में सुधार के अति सूक्ष्म चिह्न भी देख सके थे। उनकी दृष्टि औरों की अपेक्षा बड़ी विशाल थी। ऐसा मालूम होता था मानों वे तो पर्वत के शिखर पर से देख रहे हों और दूसरे नीचे खड़े सम भूमि पर से देखते हों। यही कारण था कि उनमें इतनी दर्शिता थी। परन्तु मुझे जहाँ तक जान पड़ा, उनकी दर्शिता का मुख्य कारण उनकी प्रयत्नशीलता थी। जो लोग परिश्रम नहीं कर सकते और कार्य की महत्ता तथा उसकी सत्ता को नहीं समझते वे ही निराश हुआ करते हैं। रानडे को पूरा निश्चय हो गया था कि यदि हम लोग उत्साह से काम करते रहें तो हमारा भविष्य हमारे ही अधीन है। प्रजा की उन्नति का एक साधन उद्योग है और स्वयं उद्योगी होने से निराशा का प्रभाव उन पर नहीं पड़ सकता था। समाज-सुधार के लिए काम करने वाले बहुत से लोग यह समझते हैं कि सभा, कान्फ़रेन्स आदि करने से कुछ लाभ नहीं होता। सुधार के लिए जो अप्रियता लोगों में है वह वैसी ही है, तब व्यर्थ सभा-सम्राज करने से क्या

लाभ ? मैंने रानडे से इस अश्रद्धा के उत्पन्न हो जाने का कारण पूछा था। उन्होंने उत्तर दिया कि 'यह बात नहीं है कि इस काम में महत्त्व नहीं है और वह व्यर्थ है; परन्तु लोगों में श्रद्धा कम है।' फिर कुछ देर चुप रह कर कहा कि 'थोड़े वर्ष बाद देखना, ऐसा समय आवेगा जब लोग उस कांग्रेस को भी निरर्थक कहने लगेंगे, जिसके लिए आज कल इतना उत्साह है। प्रजा में एक ऐसा दोष आ गया है कि किसी काम में बराबर लगे रह कर प्रयत्न करने का भार सहन नहीं होता'।"

प्राचीन समय में बहुत सी जातियों ने बहुत उन्नति कर ली थी परन्तु बाद में राजकीय दृष्टि से अदृश्य हो गईं। किन्तु हिन्दू जाति अपने देश में अभी तक जीवित और विद्यमान है, इससे जान पड़ता है कि हिन्दू जाति पर ईश्वर की विशेष दया है। इस तरह ईश्वर पर अचल श्रद्धा होने से और 'दर्शिता' से रानडे ऐसा मानते थे। उनका विश्वास था कि हमारी उन्नति के लिए ईश्वर सब प्रकार की योजना करता है और सत्य, न्याय, तथा सद्गुण की अंत में विजय अवश्य होगी। यदि मि० सेल्वी के शब्दों में कहें तो मि० ग्लेडस्टन की तरह रानडे ने मनुष्य-जाति की वृद्धि और मानसिक उन्नति द्वारा परमेश्वर की दिव्यता प्रकट करने के कार्य में अपने उद्देशों को प्रारम्भ से ही श्रद्धा-पूर्वक अर्पण किया था।

हिन्दू प्रजा पर ईश्वर का विशेष अनुग्रह रानडे मानते थे। उन्होंने एक बार कहा था :—जो इतिहास सबसे तेजस्वी है

उसको पाकर यदि हम अपने भविष्य में आस्था न रक्खें तो हम उस इतिहास के योग्य नहीं हैं। एशिया, यूरप, अफ़्रीका और अमरीका के नक़शे हाथ में लेकर यदि आप देखें तो मालूम होगा कि ऐसा कोई देश नहीं है जो इतने वर्षों तक बराबर सजीव रहा हो। दूसरे देशों में अनेक धर्म उत्पन्न हुए हैं, उनकी वृद्धि हुई और नाश भी हुआ; इसी प्रकार अनेक जातियों का ह्रास हुआ है। हिन्दुस्तान आज बड़ी अवनत दशा में है, परन्तु फिर भी ईश्वर ने इसकी बड़ी रक्षा की है और विपत्तियों से बचा कर मानो उसको कोई विशेष कार्य सौंपा है। हम और हमारे पूर्वज चाहे उस काम को अभी नहीं कर सके हैं. परन्तु एक बात तो निश्चित है कि धर्म, इतिहास, साहित्य, तत्त्वज्ञान, जीवन की रीति, विचार के स्वरूप और जो इस भूमि के विशेष लक्षण हैं और जिनका प्रचार हमारे पूर्वजों ने दूसरे देशों में किया था, इन सब को सतत बनाये रखने में हमारा भी भाग है। परमात्मा ने जो यह अनुग्रह किया है उसका कोई कारण अवश्य है। यदि कतिपय सहस्र यहूदियों के चमत्कारिक संरक्षण में कोई भेद था तो हम जो मानव जाति के पञ्चमांश हैं उनके जावित रखने में भी ईश्वर का कुछ अभिप्राय है। हमको कोई बहुत कड़ी ईश्वरीय शिक्षा मिल रही है। उन लोगों की बड़ी श्रद्धा और आस्था थी। उनको अपने इतिहास का अभिमान था और भविष्य के लिए पूर्ण आशा थी। उनको इस बात का भी पूर्ण विश्वास था कि ईश्वरीय शिक्षा प्राप्त कर लेने पर वे अपने

उस योग्य स्थान को प्राप्त कर सकेंगे कि जो उन्हें इतिहास में प्राप्त है।

रानडे जानते ही नहीं थे कि निराशा क्या चीज़ है। उत्साह से काम में प्रवृत्त रहते थे। लार्ड रोज़बरी ने, जो ग्लेडस्टन के लिए कहा था वह उनके लिए भी उपयुक्त है। :—"कोई भी काम ऐसा नहीं था जिसको उठाने में निराशा का उनको भय हो। और जब किसी कार्य को अपने सिर पर ले लिया तो फिर कोई भी विघ्न उनको डरा नहीं सकता था।" सर भालचन्द्र ने भी रानडे के लिए ठीक कहा था कि "आजकल के मनुष्यों और परिस्थिति में विश्वास और श्रद्धा उत्पन्न कराने वाले वे एक ही थे। ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है और यह बात बिलकुल सत्य है।"

लोकप्रियता

हाईकोर्ट के जज होने से पहले रानडे को बम्बई प्रान्त के दक्षिण भाग में बहुत दिनों तक रहना पड़ा था, इससे उन्होंने वहाँ के लोगों की प्रीति सम्पादन की थी। परन्तु जब से हाईकोर्ट के जज होकर वे बम्बई आये तब से भारतवर्ष भर में उनका नाम होने लगा और सब लोग उनकी ओर पूज्य दृष्टि से देखने लगे। उनके मरने पर लोगों ने जो शोक प्रकट किया था उससे मालूम होता है कि उनके प्रति लोगों का कैसा उच्च भाव था और उनकी लोकप्रियता कितनी बढ़ी हुई थी। कृतज्ञ प्रजा और गुण-ग्राहक सरकार ने रानडे की सेवाओं का योग्य मान किया था। सर भालचन्द्र ने अपने भाषण में रानडे

को एक 'ऋषि' 'महात्मा' कहा था। श्रीयुत कोंडदेव ओक ने कहा था कि रानडे एक महर्षि थे जिन्होंने देश को जीवनदान दिया है। डा० सेल्वी के कथनानुसार रानडे इन सब नामों के योग्य थे। क्योंकि उन्होंने भी कहा था कि 'ऋषि, महात्मा और स्वदेश-भक्त पुरुषों के लक्षण उनमें सब थे।' देशी और विदेशी लोगों का अभिप्राय एक होने से अब यह आवश्यक नहीं है कि इस सम्बन्ध में विशेष कहा जाय। वे एक सुज्ञ-ऋषि थे, इसी कारण प्रत्येक हलचल या काम जो देश में होता था वह उनकी सलाह से होता था। क्या मित्र और क्या विपक्षी, सब उनको महात्मा मानते हैं। पिछले ३० वर्षों में देश में जो प्रवृत्ति देखी जाती है उन सब के आत्मारूप प्रेरक रानडे ही थे। रानडे को इस प्रकार जुदे जुदे समाचारपत्रों ने और लोगों ने बहुत से उपनाम दिये हैं। महात्मा, महर्षि, पदवीधर-मुकुटमणि, नर-राज, महापुरुष, स्वदेशभक्त, सभी विशेषण उनके नाम के आगे लगाये गये हैं। ऐसा कोई अल्पशिक्षा-प्राप्त मनुष्य हमारे देश में नहीं होगा जो रानडे के नाम से अपरिचित हो। शिक्षित पुरुष तो उन्हें भली भाँति जानते ही थे। उनके सम-कालीन पुरुषों में शायद ही कोई ऐसे असाधारण सार्वजनिक मान को प्राप्त कर सका हो। मद्रास के प्रसिद्ध समाचारपत्र 'हिन्दू' ने इस बारे में लिखा था:—"ऐसा कोई नगर नहीं है जहाँ रानडे के नाम के लिए लोगों का पूज्य भाव न हो। वर्तमान समय में इस महान् विद्वान् विचारक, धाराशास्त्री और

राजनीतिज्ञ का सा सम्मान किसी को नहीं मिला है। या यह कहा जाय कि कोई ऐसा सम्मान प्राप्त करने योग्य नहीं हुआ और न कोई दूसरा मनुष्य अपने देश-भाइयों की बुद्धि और उन के मन पर इतना प्रभाव डाल सका है।"

रानडे की प्रतिष्ठा अपने समकालीन पुरुषों में असाधारण थी। हम देख चुके हैं कि देश के सभी स्थानों से उनके पास पत्र आते थे और महत्त्व के प्रश्नों पर उनसे सलाह ली जाती थी। देश में कोई भी संस्था और विशेष कर पूना तथा बम्बई में ऐसी नहीं थी कि जिसको रानडे की सलाह का लाभ प्राप्त न हुआ हो। मान० गोखले ने कहा है—"रानडे सूर्य के समान थे और सब लोग नक्षत्र की तरह अपने अपने अन्तर से उनके चारों ओर भ्रमण करते थे तथा उनसे प्रकाश और उष्णता पाते थे।" श्रीयुत आगाशे का कहना है—"पूना में जब कोई सुविख्यात मनुष्य आता तब उसकी ख़ातिर रानडे की ओर से होती थी। विद्वान् और नेताओं के वे केन्द्र थे। जो उनसे मिलते थे उन पर रानडे का प्रभाव लोह-चुंबक की तरह होता था। आशाहीन को वे उत्साही बनाते थे, आलसी को जागृत करते थे, और प्रत्येक को जीवन-कर्त्तव्य समझाते तथा उसके अनुसार उससे काम लेते। वे सदा कहा करते थे कि जीवन एक अमूल्य वस्तु है और उसका हिसाब हमें ईश्वर को देना है।" देश के शिक्षित लोग उनके प्रति कैसा पूज्यभाव रखते थे, यह आगे लिखे दृष्टान्त से जान पड़ेगा।

सन् १९०० ई० के दिसम्बर महीने में, लाहोर में जो सोशल कान्फ़रेन्स हुई थी उसमें एक प्रस्ताव आर्य-समाजियों की तरफ़ से नीच जातियों को उठाने के लिए किया गया था। उस के बारे में आर्य-समाजी और सिक्खों में वाद विवाद हो गया। कारण इसका यह था कि आर्य-समाज ने बहुत से सिक्खों को पवित्र कर समाज में मिला लिया था। दूसरे सिक्खों को यह पसन्द नहीं था, इसी लिए उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यह लिखा ही जा चुका है कि रानडे बीमारी के कारण इस कान्फ़रेन्स में नहीं जा सके थे। आपस में विवाद यहाँ तक बढ़ गया था कि प्रमुख की सत्ता का अपमान होने तक की नौबत आगई और जहाँ शान्ति होनी चाहिए वहाँ बड़ा गोल-माल हो गया। भाग्यवश श्रीयुत गोखले वहाँ उपस्थित थे, उनको एक बात सूझ गई जिससे सब झगड़ा तै हो गया। उन्होंने कहा कि रानडे बीमार हैं। अपना मतभेद एक ओर रख कर आप लोग कान्फ़रेन्स का काम निर्विघ्न कर लें—यह कहने के लिए रानडे ने मुझ से कहा था। विरोधी लोग एकदम शान्त होगये। श्रीयुत गोखले के शब्दों ने और रानडे के नाम ने जादू का सा असर किया। सब काम निर्विघ्न समाप्त हो गया।

रानडे का नैतिक प्रभाव पूना और महाराष्ट्र में जो हुआ था उसके लिए श्रीयुत आगाशे ने कहा था—"सन् १८७० ईसवी से पहले पूना की दशा कुछ और थी; बहुत सी निन्दनीय बातें, रिवाज और व्यसन के कारण, अच्छी समझा जाती थीं।" रानडे

ने केवल उपदेश से ही नहीं, बल्कि अपनी भव्य प्रतिभा से बहुत सी अनीति दूर की थी। एक बार ऐसा हुआ कि रानडे डेक्कन कालिज के विद्यार्थियों की ईवनिंग पार्टी (सायं-कालीन प्रीतिभोज) में बुलाये गये। खाना पीना हो चुकने के बाद कानाफूँसी होने लगी; और एक वेश्या को बुला कर गाना सुनने के लिए लोगों ने कहा। रानडे समझ गये, उन्होंने एकदम अपनी पगड़ी सिर पर रक्खी और उठ कर चल दिये। अध्यापक छत्रे रानडे को जाते देख कर उठ खड़े हुए। लोगों ने उनकी धोती पकड़ कर बैठने का आग्रह किया तो उन्होंने रानडे (जो इतने समय में कुछ सीढ़ियाँ उतर गये थे) की तरफ़ इशारा करके कहा "देखो, मेरे शिष्य रानडे चले जा रहे हैं। वे क्या कहेंगे?" यह कहते हुए, अपनी धोती छुड़ा कर वे और कृष्णशास्त्री दोनों कमरे से चल दिये और जल्दी चल कर रानडे के साथ हो लिये। रानडे का प्रभाव केवल नवयुवकों पर ही नहीं पड़ता था बल्कि अपने गुरुजनों पर भी होता था। ऊपर कही हुई बात से यह ठीक जान पड़ता है।

रानडे ब्रिटिश सरकार के पूर्ण भक्त थे, यह निर्विवाद बात है। राजकीय विषयों में वे प्रजा के हित के लिए और सरकार को प्रजा के लिए उपयोगी बातों में सूचना करने के लिए भाग लेते थे। उनके हेतु अति उच्च और शुभ थे। प्रजा के हित से राज्य का शुभ है, इस लिए प्रजा की सेवा करके वे यथार्थ में राजा की सेवा

राजभक्ति

भी करते थे। परन्तु उनकी नौकरी के आरम्भकाल में सरकार को उन पर सन्देह हो गया था। इस कारण उनके विरोधी और कुछ सरकारी लोगों के यह कहने से कि रानडे राज्य-भक्त नहीं हैं, उनको बड़ी कठिनाई झेलनी पड़ी थी। कुछ लोगों ने इस अवसर पर उनको यह सलाह भी दी थी कि वे नौकरी छोड़ दें। परन्तु वे तो सच्चे राज्य-भक्त थे और इस कारण अपने निश्चय पर अचल रहे। दूसरा कोई होता तो घबरा कर, और लोगों के कहने के अनुसार, नौकरी छोड़ देता। परन्तु उनको सरकार के न्यायी होने में पूर्ण विश्वास था और वे चाहे जैसा कष्ट सहन करते हुए भी इस विश्वास पर दृढ़ रहे। मान० गोखले ने अपने भाषण में कहा था "आज कल जैसी व्यवस्था है उसके कारण ऐसा मनोमालिन्य हो जाना अनिवार्य है। परन्तु हमको यह याद रखना चाहिए कि यदि हम उनकी जगह होते तो हम उनसे अधिक उचित बात नहीं करते।"

रानडे केवल राज्य-भक्त ही नहीं थे, किन्तु उनको अँगरेज़ों के देश के प्रति बड़ा उच्चभाव था। स्वतंत्र राज्य-व्यवस्था, सुनियंत्रित राज्यतंत्र, धार्मिक स्वतंत्रता, व्यापार-समृद्धि और मानसिक उन्नति—इन सब बातों के लिए इँगलिस्तान यूरप के सब देशों में अग्रगण्य है और यही बातें हैं जिनके कारण रानडे को उसके लिए बड़ी पूज्य भावना थी। उनका यह भी विश्वास था कि भारत की उन्नति और उसको संसार में उच्च स्थान प्राप्त

कराने का भार ईश्वर ने उस देश को सौंपा है। हिन्दू प्रजा को ईश्वर की विशेष कृपापात्र मानते ही थे और इसके विरुद्ध यदि उनका कोई मित्र टीका टिप्पणी करता था तो उसको बड़ी चतुराई से उत्तर देकर समाधान करते थे और यह कहते थे कि—"यदि यह बात नहीं है तो हमारे पूर्वजों ने काव्य और तत्त्वज्ञान में इतनी उन्नति कैसे करली थी और समाज-सुधार में उच्च स्थिति कैसे प्राप्त कर ली थी? समय समय पर यहाँ की प्रजा पर अन्य जातियों ने आक्रमण किये तो भी उन्होंने अपनी जातीयता को नहीं खोया, धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं की बराबर रक्षा की। एसिरिया, बैबिलन, मिस्र, फ़िनिशिया, रोम और ग्रीस इन देशों ने राजकीय उन्नति की थी और बड़ी महत्ता प्राप्त की थी परन्तु वह सब अदृश्य हो गये हैं। हिन्दू जाति यद्यपि विदेशियों की प्रजा हो गई है परन्तु चीन वालों की तरह वह अपने ही देश में अभी स्थित है और अँगरेज़ों के अधिकार में आई है। अँगरेज़ लोग मानुषिक उद्योग की सब शाखाओं में इस देश को उन्नत करने में योग्य हैं, उनकी उदार सत्ता के नीचे इस देश का आ जाना क्या ईश्वरीय योजना नहीं है?"

रानडे के विषय में किसी को यदि मिथ्या बोध हो जाता तो भी वे अपने निश्चय से नहीं हटते थे। प्रसंगवश, अँगरेज़ी राज्य से देश को जो लाभ हो रहे हैं उनको स्वीकार करते थे। मान० गोखले ने बम्बई की कौंसिल में मालगुज़ारी के क़ानून पर भाषण करते हुए कहा था कि रानडे अकसर कहा करते थे—

"इस राज्य में किसी व्यक्ति को अपनी बुद्धि से महत्त्व प्राप्त करने का अवसर थोड़ा है; परन्तु शान्ति और दृढ़ राज्यव्यवस्था के होने से हमको सुख मिलता है, सुधार और ज्ञान के लिए अनुकूलता है, और नागरिक तथा जातीय भाव उन्नत होता है—इस कारण लोगों की नैतिक शक्ति जागृत होती है। इन सब बातों को देखते हानि थोड़ी है और लाभ विशेष है।"

रानडे की राज्यभक्ति के लिए श्रीयुत अगाशे ने कहा था—"उन्होंने यूरप के इतिहास का और वहाँ की राज्यव्यवस्थाओं का ऐसा सूक्ष्म अध्ययन किया था कि हम लोगों में से शायद ही किसी ने किया हो। कालेज छोड़ने के बाद भी उन्होंने इतिहास का अभ्यास जारी रक्खा था। इँगलिस्तान की राज्य-पद्धति पर उनको बहुत श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। उनके कुछ कहने या आलोचना करने पर सरकारी लोग चाहें अप्रसन्न हों परन्तु रानडे जानते थे कि अँगरेज़ी राज्यनीति का झुकाव, स्वातन्त्र्य-प्रियता की चिह्नरूप पार्लिमेंट का उत्साह, बड़ी उदार वृत्ति का है और इसलिए ब्रिटिश राज्यनीति के पवित्र होने में कोई शङ्का नहीं होनी चाहिए। ब्रिटिश स्वभाव को वे अच्छी तरह समझते थे।"

इन बातों से मालूम होता है कि सरकार के न्यायी होने पर उन्हें बड़ा विश्वास था और वे एक पूर्ण राज्यभक्त पुरुष थे। सरकार भी उनकी राज्य-भक्ति और देश-सेवा से प्रसन्न हो गई थी और उनके प्रति उच्च भाव रखती थी। सरकार से उन्होंने

कैसी प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त किया था, यह उनके मरने पर सरकारी मन्तव्य के प्रकाशित होने और वाइसराय तथा बम्बई के गवर्नर के शोकोद्गार से मालूम होता है। राजा और प्रजा दोनों की प्रीति सम्पादन करना कठिन होता है परन्तु उन्होंने निम्नलिखित प्रसिद्ध श्लोक की सार्थकता को पूर्ण रीति से सिद्ध किया था—

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन।
इति महति विरोधे विद्यमाने समाने
नृपति-जन-पदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥

अर्थ:—राजा का हित करने वाले से प्रजा द्वेष रखती है और प्रजा की भलाई करने वाले को राजा त्याग देता है। ऐसा महान् विरोध होने से राजा और प्रजा दोनों को प्रसन्न रखते हुए कार्य करने वाला मनुष्य दुर्लभ है।

रानडे ने असंख्य पुस्तकें पढ़ी थीं। अनेक विषय की पुस्तकें पढ़ पढ़ कर उन्होंने विशाल-ज्ञान प्राप्त किया था। बम्बई यूनिवर्सिटी से निकले हुए ग्रेजुएटों में अँगरेज़ी साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र और तत्त्वज्ञान में उनकी बराबर कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका। उनको लोग 'जीवित पुस्तकालय' (Living Library) या साक्षात् बृहद्-विश्वकोश कहा करते थे। एम० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षा के लिए जो पुस्तकें उन्होंने पढ़ी थीं, उसके बारे में

विशाल ज्ञान और अभ्यास

स्थानान्तर में कुछ कहा जा चुका है। उससे उनके विद्यार्थी अवस्था में विद्याभ्यास का परिचय यथार्थ होता है। जब रानडे एलफ़िन्स्टन कालेज में इतिहास के सहकारी अध्यापक नियत किये गये थे तब अपने काम को सफलतापूर्वक करने के लिए उन्होंने कालेज-पुस्तकालय में इतिहास की जितनी पुस्तकें थीं उन सब को प्रायः पढ़ लिया था। इससे कालेज में विद्यार्थियों को पढ़ाने में वे जो भाषण करते थे वे भाषण परिपूर्ण और रसमय होते थे; यहाँ तक कि जब कालेज के प्रिन्सपल मि० चटफ़ील्ड और दूसरे अध्यापकों का ध्यान उन भाषणों की ओर गया तब वे लोग भी सुनने के लिए आया करते थे। कालेज में अध्यापक का काम उन्होंने कैसी उत्तमता से किया, उसका वर्णन उनके पुराने विद्यार्थी स्व० जस्टिस तैलंग, बड़ौदा के भूतपूर्व दीवान ख़ाँ ब० केशास्पजी, आन० मि० सियानी, दीवान बहादुर अम्बालाल और ख़ाँ बहादुर जमशेदजी आदि किया करते थे। व्याख्यान द्वारा शिक्षा देने की उनकी शक्ति विलक्षण थी और उनका ज्ञान बड़ा विशाल था।

कालेज में विद्याभ्यास समाप्त कर लेने पर उन्होंने अपना अध्ययन बन्द नहीं कर दिया था। कालेज छोड़ने पर ग्रेजुएट लोग प्रायः उतना ही पढ़ते-लिखते हैं जितने की अपने काम में आवश्यकता हो; परन्तु रानडे को इतने से तृप्ति नहीं हो सकती थी। वे आजन्म एक विद्यार्थी रहे और बराबर विद्याध्ययन करते रहे। साहित्य, इतिहास, तत्त्वज्ञान और अर्थशास्त्र

की उपयोगी पुस्तकें जो प्रकाशित होती थीं वे उन सब को पढ़ते थे। पिछले वर्षों में उनकी आँखें बहुत कमज़ोर हो गई थीं। इससे स्वयं पढ़ने में कठिनाई होती थी तो औरों से पढ़वा कर सुनते थे। सिर्फ़ पढ़ कर विशाल ज्ञान सम्पादन कर लेने से ही वे सन्तुष्ट नहीं होते थे, प्रत्युत अपने ज्ञान का उपयोग देश-सेवा में अनेक प्रकार से करते रहते थे। शिक्षा-सम्बन्धी और दूसरे विषयों में जो उनकी सलाह ली जाया करती थी, उसका कारण उनकी महती विद्या थी और अब भी उनके लेखों से लोग सहायता लेते हैं।

उनके लेख, भाषण और हाईकोर्ट के फ़ैसले ज्ञान के भंडार हैं और बोध-पूर्ण होने से पढ़ने योग्य हैं। अमरीका के सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता मि० लॉड कुछ वर्ष पूर्व बम्बई आये थे। उनका स्वागत करने के लिए लोगों ने एक सभा की थी जिसमें रानडे ने स्वागत-सूचक भाषण किया था। उनकी विद्वत्ता देख कर मि० लॉड बड़े चकित हुए थे।

रानडे को केवल अँगरेज़ी पुस्तकों के पढ़ने ही का चाव नहीं था, प्रत्युत उनका देशी भाषा पर भी प्रेम था। जब उन्होंने बी. ए. की परीक्षा दी थी तो दूसरी देशी भाषा भी उनको पढ़नी पढ़ी थी। मराठी में उन्होंने परीक्षा दी थी। मराठी का अभ्यास उन्होंने अपने अंतकाल तक जारी रक्खा था। प्राचीन कवियों के, और दूसरे ग्रन्थ उन्होंने ध्यानपूर्वक पढ़े थे और इस कारण वे मराठी भाषा के एक उत्तम ज्ञाता समझे जाते थे। सरकार

ने कई वर्ष तक उनको 'दक्षिणा प्राइज़ कमिटी' का सभासद बनाया था। 'टाइम्स' में मराठी साहित्य पर उन्होंने पाँच पत्र छपवाये थे और उसी विषय पर दूसरे लेख लिखे थे जिनसे उनका साहित्य-ज्ञान मालूम होता है।

स्वयं विद्वान् होकर भी वे ग्रन्थकारों को द्रव्य से सहायता दिया करते थे और जिस प्रकार हो सकता पुस्तक लिखने वालों को उत्साहित करते थे। श्रीयुत अगाशे ने कहा था कि कितनी पुस्तकों का वाचन और अवलोकन उन्होंने लेखकों की प्रार्थना पर किया और उनमें संशोधन किया—यह बात बताना सुगम नहीं है; परन्तु यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि गत ३० वर्षों में प्रकाशित साहित्य, इतिहास और राजनीति विषय की पुस्तकों में से शायद ही कोई ऐसी हो जिसको उन्होंने न देखा हो।

वक्तृत्व-शक्ति

स्व० जस्टिस तैलंग और सर फ़ीरोजशाह जैसे वक्ता तो रानडे नहीं थे परन्तु समयसूचक, तात्कालिक, सरस और प्रभावयुक्त वक्ता अवश्य थे। जिन विषयों के वे ज्ञाता थे उन पर, बिना किसी पूर्व प्रयत्न के, दो दो घंटे तक उन्होंने व्याख्यान दिये थे। उनके व्याख्यान को सुन कर उनकी तीव्र बुद्धि, विशाल ज्ञान, और विद्वत्ता का परिचय भली भाँति मिलता था। सन् १८९५ ई० में, पूना की सोशल कान्फ़रेन्स में, उन्होंने जो व्याख्यान दिये थे उनके सम्बन्ध में आन० मि० मेकडानल्ड (बम्बई के प्रसिद्ध व्यापारी और धारा-सभा के

सभासद) ने जो कहा था वह प्रायः उनके सभी भाषणों के लिए कहा जा सकता है। उन्होंने कहा था—"व्याख्यान विचारों की खान हैं और जिनको भारतवासियों की उच्च अभिलाषा जाननी हो उनके लिए बड़े महत्त्व के हैं।" और व्याख्यानों से वक्ता की "गम्भीर विचारों के समझाने की शक्ति, उनका उत्साह और आध्यात्मिक मनोवृत्ति के साथ साथ श्रोताओं का ध्यान खींचने की शक्ति का परिचय मिलता है।"

उनकी वक्तृत्व-शक्ति के लिए श्रीयुत अगाशे ने कहा है—"अनेक बार उन्होंने अपना व्याख्यान विना तैयार किये दिया, परन्तु जो भाषण महत्त्व के होते थे वे बड़ी होशियारी से लिख लिये जाते थे। परन्तु इसलिए नहीं लिखे जाते थे कि पढ़ कर सुनाये जायँ, अतः कुछ बड़े होते थे। उनमें सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का विवेचन किया जाता था और विषय-संम्बन्धी सब बातों का निरीक्षण करने से बड़े प्रभावशाली होते थे। उनके भाषण में उत्साह, यथास्थित विषय के दर्शन और विशाल स्मरण-शक्ति से प्रवाहित ज्ञान से श्रोताओं पर ऐसा प्रभाव पड़ता था मानो वे किसी मन्त्र के वश हो जाते हों।"

यह प्रशंसा रानडे के अँगरेज़ी भाषणों की है, परन्तु यह मराठी भाषणों के लिए भी उपयुक्त है। हमारे ग्रेजुएटों में बहुत ही थोड़े रानडे जैसे मातृभाषा के वक्ता होंगे। श्रीयुत अगाशे ने रानडे के मराठी भाषण के बारे में एक अच्छे अवसर का वर्णन किया है। उन्होंने कहा है—"सन् १८९५ ई० में स्व०

गरुड़ महोदय ने मुझ से कहा कि 'एक दिन सन्ध्या को मैं एक मित्र से मिलने जाता था। मार्ग में प्रार्थना-समाज मन्दिर के पास पहुँचा तो रानडे का भाषण सुनाई दिया। खिड़की के पास थोड़ी देर सुनने के लिए यों ही खड़ा हो गया। रानडे के मधुर स्वर और भावयुक्त वाणी का मुझ पर ऐसा असर हुआ कि जब तक व्याख्यान समाप्त हो न गया तब तक वहीं खड़ा रहा।' इसके बाद आठ दिन तक सिवा रानडे के भाषण के उन्होंने और किसी बात की चर्चा नहीं की। इस प्रकार अँगरेज़ कवि गोल्ड-स्मिथ के शब्दों में 'Those who came to scoff remained to pray'—'जो लोग दिल्लगी उड़ाने आये थे वे भी प्रार्थना करने लगे'—जैसी बात हुई।"

रानडे अपने अनेक गुणों के अतिरिक्त असाधारण अभ्यास और विद्वत्ता के कारण समकालीन पुरुषों में सर्वोत्तम थे। और यह पुस्तक भी विद्यार्थी वर्ग के लिए लिखी गई है, इसलिए रानडे के लिखने-पढ़ने की पद्धति का वर्णन करना आवश्यक है।

लेखन-वाचन-पद्धति

वारसी के एक वकील श्रीयुत जी० के० तिलके और उनके एक मित्र ने रानडे से पत्र द्वारा उनके लिखने पढ़ने की पद्धति पूछी थी। रानडे ने उनको अपने पास बुला कर विस्तारपूर्वक बतलाया कि पूर्वावस्था में किस ढँग से पढ़ा-लिखा करते थे। रानडे के मरने पर उक्त वकील महाशय ने पूना के एक समाचारपत्र में रानडे की बतलाई हुई पद्धति को प्रकाशित किया

था। उसमें लिखा था:—"मैंने तत्त्वज्ञान, इतिहास, नाटक और विविध शास्त्र की बहुत सी पुस्तकें पढ़ी हैं और अब भी पढ़ा करता हूँ; परन्तु मुझे अर्थशास्त्र और इतिहास से विशेष प्रेम है। मैंने शेक्सपियर के नाटक और स्काट के उपन्यास पढ़े हैं, और इन विषयों की दूसरे किसी की पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी। किसी पुस्तक के पढ़ लेने पर यदि उसका सारांश यथास्थित लिख सकूँ तो मैं समझता हूँ कि मैंने उसे पढ़ा है। मेरे पास अब तक ऐसी लिखी हुई कापियाँ हैं जिनमें मैंने सारांश लिखा है और वे मुझे बड़ी उपयोगी होती हैं। जिन पुस्तकों के समझने में मुझे कठिनाई होती है उनको वार वार पढ़ कर समझता हूँ। मुझे जितना अवकाश मिलता है उसको लिखने पढ़ने में लगाता हूँ। अँगरेज़ी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मैंने कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है, परन्तु अँगरेज़ी में लिखने और व्याख्यान देने का अवसर मिलता तो उससे लाभ अवश्य उठाता था और अब मुझे इससे बड़ी सहायता मिलती है। मैं अपने विचारों को एक वार लिखे विना व्याख्यान नहीं देता और किसी विषय पर विना पूर्ण विचार किये लिखता भी नहीं हूँ। मेरे ज्ञान से लोगों को आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि उसके सम्पादन करने में मुझे जो सुगमता थी वह बहुत थोड़े लोगों को होती है। सर ए० ग्रान्ट मेरे अध्यापक थे और विद्या सम्पादन करने में उन्होंने मुझे बड़ी सहायता की थी। आज कल के विद्यार्थी ऐसे अध्यापकों के

पाने में भाग्यवान् नहीं हैं, और यही कारण है कि वे ऐसे विद्वान् नहीं होते जैसे कि होने चाहिएँ।"

ऊपर कहा गया है कि रानडे अपनी पठित पुस्तक का सारांश या उस पर से नोट लिख लिया करते थे। यह काम उन्होंने अन्त समय तक बराबर किया। इस बात से, जो कुछ वे पढ़ते थे वह अच्छी तरह उनके मन पर जम जाता था और काम पड़ने पर उसका सहज में स्मरण हो आता था। सरकारी काम और मुक़द्दमों के फ़ैसले जो वे देते थे उनको भी नोट कर लेते थे। इससे उनके साथ के न्यायाधीशों को भी बड़ी मदद मिलती थी। सर चन्दावरकर कहते थे कि उनसे हाईकोर्ट के एक जज ने कहा था कि रानडे की टिप्पणी से एक ख़ून के मुक़द्दमे में उनको बड़ी मदद मिली थी। रानडे हर एक मुक़द्दमे का इस तरह से सूक्ष्म विचार करते थे मानो अपनी स्मरणशक्ति से जैसे किसी ऐतिहासिक घटना का स्मरण करते हों; इस प्रकार मुक़द्दमे के सब हाल, ज्यों के त्यों, ध्यान में ले आते थे।

नोट करने की आदत

रानडे उच्चारण करके पढ़ा करते थे जिससे केवल मन ही नहीं बल्कि कान भी सुनते रहें और जो कुछ पढ़ा जाय वह अच्छी तरह ध्यान में जमा रहे। कहा जाता है कि रानडे जब विद्यार्थी थे तब एक दिन कालिज में ज़ोर से पढ़ रहे थे। सर ए० ग्रान्ट प्रिन्सिपल दूसरे कमरे में काम कर रहे थे। इनकी आवाज़ से उनका ध्यान भङ्ग होता था। ग्रान्ट साहब देखने के लिए

गये कि शोर कहाँ हो रहा है, तो देखते हैं कि नंगा सिर किये रानडे कुरसी पर बैठे हैं और अपने पैरों को मेज़ पर रखे हुए आवाज़ से पढ़ रहे हैं। जब उनको मालूम हुआ कि 'महादेव' पढ़ रहा है तो चुपचाप पीछे लौट आये। यह देख कर एक विद्यार्थी रानडे को चुप करने के लिए दौड़ कर जाता था, उसको ग्रान्ट साहब ने रोक दिया और कहा कि 'उसको अभ्यास करने दो, उसका विक्षेप मत करो।' रानडे के लिए उनको इतना उच्च भाव था कि अपने काम में हर्ज भले होने दिया पर रानडे को आवाज़ से पढ़ने में नहीं टोका।

वार्तालाप करने की शक्ति

यह बात सुन कर लोगों को आश्चर्य होगा कि वार्तालाप करने की शक्ति रानडे में बड़े उच्च प्रकार की थी। आश्चर्य होने का कारण यह है कि रानड़े का स्वभाव लज्जाशील, और शान्त था और उनकी रहन-सहन बहुत ही सादा थी। परन्तु यह बात सत्य है कि अपने मित्रों की मंडली में वे इस ढँग से बातें करते थे कि दूसरे का मन मोहित हो जाता था। रा० ब० मानकर का कहना है कि रानडे की बातें दिल्लगी की और विनोद की होती थीं; और बोधदायक होने पर भी उसमें दृष्टान्त-वार्ता का भी उपयोगी मिश्रण होता था जिससे सुनने वाले को बड़ा आनन्द आता था। चाहे जिस विषय पर वे बातें कर सकते थे, और अपने ज्ञान के कारण बराबर शृङ्खलाबद्ध विषय-सम्बन्धी बातें करते चले जाते थे। जिन लोगों को उनसे बातें करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ

था वे कहते हैं कि रानडे सदा कोई न कोई नई बात प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में अवश्य बताते थे जिससे उस विषय को अच्छी तरह जानने वालों को भी आश्चर्य होता। बातें करने में कुशल होने पर भी वे यह न करते थे कि आप ही कहते चले जायँ और दूसरों को बोलने ही न दें। सामाजिक व्यवहार में जैसा चाहिये वैसा ही उनका बर्ताव होता था। उनके दूसरे मित्र श्रीयुत अगाशे रानडे की वार्तालाप करने की शक्ति के सम्बन्ध में कहते थे—"उनकी बातों में दिल्लगी, दूसरों पर आक्षेप और भड़कदार जोश नहीं होता था। व्यक्तिगत बातें करने की अपेक्षा वे मनुष्यों के काम के विषय में और उनकी योजना के सम्बन्ध में बातें करते थे और उनके अभिप्रायों के बजाय जो हो गया या बन पड़ा उसकी चर्चा पसन्द करते थे। प्रिन्सिपल सेल्बी ने ठीक कहा था कि रानडे व्यर्थ बातें नहीं करते थे। वे प्रायः सार्वजनिक विषयों पर बातें किया करते थे और वह भी स्वाभाविक रीति से न कि बनावट और मनोरंजन के लिए। उनकी बातों में हँसी दिल्लगी नहीं होती थी। जो कुछ कहते थे वह बात सारगर्भित और उपदेश-पूर्ण होती थी। उनसे घंटे भर बातें करना किसी अच्छे लेख या निबन्ध के पढ़ने के बराबर होता था।"

इस प्रकार रानडे के दोनों मित्रों के वर्णन में कुछ मतभेद मालूम होता है। दोनों की राय उनके वार्तालाप के बारे में एक नहीं है। परन्तु यह तो निश्चित है कि रानडे की बातें व्यर्थ

हँसी-दिल्लगी की या गप्प सम्बन्धी नहीं होती थीं। उनके सुनने से बहुत सी बातों का बोध होता था। श्रीमती रमाबाई ने लिखा है कि "कोई आवेश से या क्रोध से कुछ कहता तो वे शान्त होकर चुपचाप सुन लेते थे और जब बोलने वाला कह चुकता तब धीरे से एक ऐसी बात पूछ बैठते कि उसको अपना ही दोष मालूम हो जाता और इससे वह शरमा जाता।"

वृत्ति की तन्मयता

रानडे में वृत्ति की तन्मयता अद्भुत थी। चाहे जितने आदमी बैठे हों और विक्षेप होता हो तो भी वे अपने काम को शान्ति से करते रहते थे और ऐसा मालूम होता था कि उनके एकाग्र चित्त को कोई विघ्न हो ही नहीं सकता। उनसे मिलने के लिए चाहे जिस समय कोई चला जाता था परन्तु उनको अपने काम में कोई विघ्न नहीं होता जान पड़ता था। स्पेशल जज की अवस्था में रानडे को दौरा करना पड़ता था और उनको अक्सर मन्दिरों में ठहरना पड़ता था। वहीं पर वे अपना काम किया करते थे। किसी किसान की शिकायत सुनना, मुक़द्मे को फ़ैसिल करना, और पत्रों के जवाब लिखना यह सब काम रानडे मन्दिर के एक कोने में बैठ कर करते थे। देवालय में लोगों के आने से गड़बड़ होती थी, शोर होता था, बहुसंख्यक लोग उन्हीं को देखने आते थे; परन्तु इन सब बातों से उनको अपने काम में कोई विक्षेप नहीं होता था। इससे उनकी सरलता और लोगों को अपने पास स्वच्छन्द आने देने की रीति, तथा चित्त को

एकाग्र करने की शक्ति मालूम होती है। जो लोग उनको देखने के लिए या उनसे मिलने के लिए आते और रानडे के अर्दली सिपाही उनको रोकते तो वे कह देते कि मन्दिर सब का है—यहाँ सब को आने का अधिकार है, कोई रोका न जाय।

रानडे मार्ग में चलते चलते प्रायः विचार में लीन हो जाते थे। एक बार जस्टिस चन्दावरकर रानडे के साथ घूमने गये। रास्ते में रानडे ने यह प्रश्न उठाया कि जनसमूह पर एकदम आपत्ति पड़ने से संसार की न्याययुक्त व्यवस्था में जो भिन्नता प्रतीत होती है वह कैसे उत्पन्न होती है। जैसे किसी गाँव का किसी कारण से एकदम नाश हो जाना। इस प्रश्न का उत्तर सोचने में वे ऐसे लीन हो गये कि कुछ बोले ही नहीं। पूना में एक बार श्रीयुत मानकर से भी इसी प्रश्न पर बातें हुई थीं। एक मित्र के आग्रह से मानकर ने रानडे से पूछा कि "ईश्वर कृपालु है तो सृष्टि में बहुत सी अनीति और दुर्व्यवस्था क्यों उत्पन्न हो जाती है?" इस प्रश्न का उन्होंने इस तरह विवेचन किया था—"पूना में रेल के पुल पर खड़े होकर देखें तो नीचे रेल की इतनी लाइनें दिखाई देती हैं कि साधारण मनुष्य चक्कर में पड़ जाता है; और यह नहीं जान सकता कि वे आपस में किस हिसाब से जुड़ी हुई हैं और कौन कौन सी कहाँ कहाँ को जाती हैं तथा कौन किससे मिलती है। परन्तु 'लाइन-मैन' जब एक बार समझ लेता है तो उससे कोई भूल नहीं होती, और जैसी

आवश्यकता होती है उसी प्रकार चाहे जिस लाइन पर रेल को जाने देता है। इसी प्रकार, जब हम समस्त सृष्टि के प्रत्येक भाग को अच्छी तरह जान लेंगे तब हम को मालूम हो जायगा कि समुदाय के हित-साधन के लिए थोड़े से मनुष्यों पर संकट आवे तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए; और जिनको हमने अपनी भूल से आपत्ति समझ लिया है उनका होना आवश्यक है।"

स्मरण-शक्ति

रानडे की स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थी। वे पढ़ते बहुत थे और उनको याद भी बहुत रहता था। पढ़ते बड़े ध्यान से थे, इससे एक बार पढ़ी हुई बात बहुत समय के बाद भी थोड़ी ही देर में सब याद आ जाती थी। स्मरण-शक्ति अच्छी होने से एक बार किसी पुस्तक को पढ़ कर उसका आशय लिख सकते थे। यह कहा जा सकता है कि स्मरण-शक्ति के तीव्र ही होने से वे एक समर्थ विद्वान् हो सके थे। सामान्य विषयों के अतिरिक्त, जो मुक़द्दमे उनको सुनने पड़ते थे उनका हाल भी अच्छी तरह याद रहता था। रा० ब० मानकर ने अपने अनुभव से कहा है कि "सन् १८७६—७७ में रानडे जब पूना में सब-जज थे तो उनके पास क़ाम बहुत बढ़ गया था, उसमें सहायता करने के लिए मैं संयुक्त सब-जज बनाया गया था। मुझे क़ानून के मामले में रानडे से अकसर सलाह लेनी पड़ती था। जब उनसे पूछता तो इस बात से मुझे बड़ा आश्चर्य होता कि उनको मुक़द्दमे की छोटी से छोटी बात

भी सब याद है । मैंने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि "मुक़दमा पेश होने से पहिले मैं उसके सब काग़ज़ात पढ़ जाता हूँ और इससे जो ज़रूरी बात होती है वह मेरे ध्यान में रहती है । यह काम प्रायः पेशकार किया करता है परन्तु रानडे स्वयं करते थे । मैंने इसका कारण पूछा कि यह विशेष श्रम आप क्यों करते हैं तो उन्होंने कहा कि 'ऐसा करने से जब मुक़दमा चलता है तो मुझे बड़ी सुगमता होती है ।' मैंने केवल यही कहा कि काग़ज़ात देख जाना तो कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु दो वर्ष बाद मुक़दमा पेश होने पर भी सब बातें याद रहें यह आश्चर्य की बात है ।"

सारग्राही स्वभाव

रानडे का स्वभाव सारग्राही था । चाहे जिस धर्म या मत की कोई पुस्तक हो उसमें से उपयोगी बातों के ग्रहण करने में वे नहीं चूकते थे । इस विषय में जस्टिस चन्दावरकर ने अपने एक भाषण में कहा था कि रानडे ने अपनी पत्नी को पढ़ाने के लिए बाइबिल पसंद की थी। जब रानडे ने देखा कि उनकी स्त्री बाइबिल समझने लायक़ अँगरेज़ी पढ़ गई हैं तो उन्होंने पढ़ाने के लिए बाइबिल को पसंद किया था। यह केवल इस कारण से नहीं कि बाइबिल में नीति की अच्छी शिक्षा है, परन्तु इसलिए कि उसकी भाषा सरल है और उसमें बड़े अच्छे शब्दों का प्रयोग किया गया है । और यह भी कारण था कि अँगरेज़ी भाषा का, सरल पुस्तक द्वारा, शीघ्र अभ्यास करने के लिए भी वह अच्छी पुस्तक है । अन्य धर्म की पुस्तक है, ईसं

विचार से उनको कोई बाधा नहीं उत्पन्न हुई थी। क्योंकि उनका कहना था कि हम किसी धर्म के सब सिद्धान्तों पर विश्वास भले ही न करें और उनको न मानें, परन्तु उसमें जो उत्तम भाग ग्रहण करने योग्य हो उसे अवश्य लेना चाहिए।

बारहवाँ अध्याय

गुणावलोकन

हृदय के गुण और उपसंहार



न सार्वजनिक गुणों से रानडे स्वदेश-भक्त और बुद्धिमान् गिने गये उन गुणों का अवलोकन किया जा चुका है। अब यहाँ पर रानडे के हृदय के गुणों का वर्णन किया जाता है। जिनके कारण लोगों को उनके प्रति अत्यन्त पूज्यभाव था।

रानडे बड़े सरल स्वभाव और मिलनसार थे। कुटुम्ब और मित्र-मण्डल की तो कुछ बात ही नहीं, चाहे जैसा साधारण मनुष्य भी उनके पास जा सकता और उनसे अपने काम में सलाह ले सकता था। उनसे मिलने में कोई रोक टोक नहीं थी। विरुद्ध पक्ष के लोग भी उनसे योग्य और उपयोगी शिक्षा का लाभ उठा सकते थे। पाठशालाओं-मदरसों में पारितोषिक वितरण करने, किसी सभा-समाज में सार्वजनिक काम में प्रमुख पद पर विराजने के लिए या और किसी प्रकार से भाग लेने के लिए यदि उनसे प्रार्थना की जाती तो बिना अपनी सुविधा का विचार किये वे

सरलता और निरभिमान

स्वीकार कर लेते थे । इसमें कोई स्वार्थ-साधन या सम्मान की लालसा नहीं होती थी । परन्तु अपने को सार्वजनिक कार्य में उपयोगी बनाने की इच्छा से वे ऐसा करते थे । बाल्यावस्था से ही उनमें विलक्षण सरलता थी । उनकी माता आभूषण पहिनातीं तो वे न पहनते और जो ज़बरदस्ती पहनाये जाते तो जहाँ तक हो सकता उनको छिपाते थे । बड़े होने पर भी वे कभी इस तरह नहीं कहते थे कि 'मुझे यह बात पसन्द नहीं है, ऐसा मत करो ।' 'अहं' पद से घर के स्वामी की तरह बोलना उनके नियम के विरुद्ध था । श्रीमती रमाबाई का कहना है कि घर में वे इस प्रकार व्यवहार करते थे ।

अपनी भारी विद्वत्ता, विशाल मानसिक शक्ति और उच्च पदवी के होते हुए भी उनकी सरलता में कुछ अन्तर नहीं पड़ा था । आपत्ति-ग्रस्त को बचाने में वे सदा तत्पर रहते थे । इस सम्बन्ध में श्रीयुत गोखले ने कहा था कि "उनके एक बड़े गुण के बारे में कुछ कहता हूँ । वह गुण यह था कि सहायता माँगने वालों की और विशेष निर्बल तथा दु:खी जनों की तत्परता से सहायता करते थे । उनके पास चाहे जिस समय हलकी से हलकी स्थिति का मनुष्य जा सकता था । उनको पत्र लिख कर ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी को उत्तर न मिला हो । अपने से किसी की मदद हो सके या न हो सके परन्तु वे उसकी बात को बड़ी धीरज से सुनते थे । असल में वे इन सब बातों को अपने व्यावहारिक धर्म का एक भाग समझते थे ।"

हर एक जाति के मनुष्य के साथ वे भ्रातृभाव से बर्ताव करते थे और यह समानवृत्ति भी उनकी लोकप्रियता का मूल कारण थी। उनका स्मारक बनाने के निमित्त जो सभा हुई थी उसमें उनके मित्र सर भालचन्द्र ने जो बात कही थी वह सर्वथा सत्य थी। "उनकी बाह्य आकृति शान्त और संकोचशील थी, पर दूसरों को आकर्षण करने वाली नहीं थी। उनकी सरलता, हृदय की प्रसन्नता और प्रेमभाव तथा मिलनसारी ऐसी थी कि उनसे जान पहचान होने पर तुरन्त ही उनके प्रति प्रेम और प्रशंसा का भाव उत्पन्न हो जाता था......जैसा कि एक संस्कृत कवि ने कहा है 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्'—उदार-चरित वाले पुरुषों के लिए सब संसार कुटुम्ब के समान होता है। रानडे के मन में सब जगत् नहीं तो भारतवर्ष अवश्य ही कुटुम्ब के समान था। वे निराधार और विपद्-ग्रस्त लोगों पर दयालु थे और जो कोई उनसे कुछ सलाह या सहायता लेने आता था उससे अवश्य मिलते थे। साहित्य-विषयक बातों में उन्होंने बहुत लोगों को सहायता दी थी और बहुत से निराधार ग्रन्थकारों के वे आश्रयदाता थे।"

रानडे की सरलता और निरभिमानिता के विषय में निम्न लिखित वार्ता जानने योग्य है। रानडे रोज़ सबेरे सन्ध्या को घूमने जाया करते थे और जब वे पूना में थे तब शहर के पार्वती नामक स्थान की ओर घूमने जाते थे। उनको अनेक ग़रीब स्त्रियाँ सिर पर लकड़ी या घास का बोझ लादे हुए शहर में बेचने को आती

हुई मिलती थीं। स्त्रियाँ थक कर अपना भार कभी कभी रख देती थीं, और विश्राम करके रानडे को सीधा सादा आदमी समझ कर भार उठाने में सहायता देने के लिए कहती थीं तो उनको निराश नहीं होना पड़ता था। रानडे को दूसरे के लिए कोई काम करने में लज्जा नहीं आती थी, चाहे वह ऐसा ही क्यों न हो कि जिसको उनकी हैसियत के आदमी करने में संकोच करें।

वर्षा ऋतु में एक दिन पानी बरस रहा था। रानडे एक गली में जा रहे थे कि उधर से एक आदमी दौड़ता हुआ आया और उसकी रानडे से टक्कर हो गई। रानडे की पगड़ी कीच में गिर गई। अपनी पगड़ी को इस प्रकार असभ्य रीति से गिरते देख कर भी वे उस मनुष्य पर बिलकुल क्रोधित नहीं हुए। पगड़ी को उठाकर, बिना कुछ कहे सुने, उन्होंने सिर पर रख ली। वह आदमी डरता हुआ—कि इस बेवकूफ़ी के लिए तकरार होगी—रानडे से क्षमा प्रार्थना करने आया। रानडे ने धीरे से कह दिया कि "जान कर तो तुमने कुछ किया ही नहीं है, तो क्षमा माँगने की क्या आवश्यकता है और महल्ले में ऐसी आकस्मिक घटना हो जाने से मुझे कुछ बुरा नहीं लगा।"

डा० मेकलियड ने लार्ड केल्विन के लिए कहा था कि "उनका सा अभिमान-रहित मनुष्य शायद ही कोई दूसरा हो। दम्भ और अहम्मन्यता से वे बिलकुल मुक्त हैं। वे हर एक

मनुष्य के साथ सभ्यता से बर्तते हैं ।" यही बात रानडे के लिए भी कही जा सकती है ।

रानडे लोक-हितकारी कामों में अग्रभाग लेते थे, इस कारण प्रायः समाचारपत्रों में उनके अनुकूल या प्रतिकूल बहुत लेख निकला करते थे । उनका यह आग्रह होता था कि जिन पत्रों में उनके विरुद्ध लिखा हो वे ठीक ठीक पढ़ कर सुनाये जायँ; और जिनमें उनकी प्रशंसा होती थी उनको पूरा पढ़ते भी नहीं थे । आन० स्व० गोखले ने कहा था कि "यह बात मैं अच्छी तरह जानता हूँ । उनकी आँखों में तकलीफ़ होने से मुझे अक्सर समाचारपत्र पढ़ कर उन्हें सुनाने पड़ते थे । उनका यह नियम था कि जो अपने विरुद्ध कटाक्ष-पूर्ण लेख होते थे उनको अवश्य सुनते थे और उनमें स्वीकार करने योग्य जो बात होती था उसको जानना चाहते थे । यदि किसी समय लेख को सुन कर उन्हें दुःख होता तो कह देते कि इस दुःख से भी एक प्रकार की शिक्षा मिलती है ।"

समाधान-वृत्ति

समाधान-वृत्ति का गुण रानडे में अनुपम था । इसके लिए उनके मित्र जितना उनको प्रशंसापात्र समझते थे उतना ही उसको बुरा समझते थे । रानडे अपनी उदारता और तत्त्व ज्ञान की दृष्टि से यह समझते थे कि यदि अपने विपक्षी बिलकुल ही विरोधी नहीं हैं तो जहाँ तक हो सके उनको मिला कर, साथ में लेकर, काम करना चाहिए । अकेले काम करने से, चाहे जैसा अच्छा काम क्यों न हो, यह अच्छा है

कि जहाँ तक हो सके अपने विपत्तियों की भी सहायता ली जाय। यह कोई नहीं कह सकता कि अमुक पक्ष बिलकुल ही खोटा है या अमुक विचार बिलकुल निर्दोष ही है, इसलिए यदि जनसमूह के यत्न से कोई काम हो सकता हो तो इस प्रकार काम करना अच्छा है कि प्रतिपक्षी को भी अपने साथ काम करने का अवसर मिले। इसी विचार से रानडे ने सुधार में यह पद्धति स्वीकार की थी कि 'प्राचीन बातों को सुरक्षित रखते हुए समय के अनुसार सुधार करना चाहिये।' इस पद्धति से वे चाहते थे कि अपने समाज-सुधार के काम में जहाँ तक हो सके वहाँ तक लोगों की तरफ़ से कम विरोध हो। देश में जागृति फैलाकर समाज का पुनरुद्धार और देश की उन्नति करने का उनका मुख्य उद्देश था। पूना में सामाजिक और धार्मिक सुधार के विरुद्ध एक समाज उनका विपक्षी हो गया था परन्तु जिन बातों में—जैसे औद्योगिक, राजनैतिक-विरोध नहीं था उनमें रानडे उन लोगों के साथ मिल कर काम करने में बिलकुल संकोच नहीं करते थे। इस बात से उनके सुधारक मित्र अप्रसन्न हो जाते थे परन्तु रानडे अपने उद्देश की सिद्धि के लिए इन बातों का विचार नहीं करते थे।

समाज-सुधार के काम में रानडे के जो विरोधी पूना में उठ खड़े हुए थे वे कैसे थे, उनके नेता कैसे थे, उनका सिद्धान्त और मत क्या था—इस सम्बन्ध में रा० ब० मानकर की कही हुई बात यहाँ उद्धृत की जाती है।

गत शताब्दी के पूर्वार्ध के अन्त में इस देश में अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार आरम्भ हुआ और जगह जगह मदरसे तथा कालेज खुल गये। अँगरेज़ी शिक्षा पाकर जो लोग कालेज और मदरसों से निकले उनमें एक पक्ष उत्पन्न हो गया, जिसकी समझ यह थी कि हमारी प्राचीन रीति, और मूढ़ विश्वास सामाजिक व्यवस्था में सुधार करने के लिए विघ्नरूप हैं। इस कारण वे लोग असंतुष्ट और अप्रसन्न हो गये और अँगरेज़ी ढँग पर सुधार करने की उन्होंने आशा की। परन्तु खाना पीना, रहन-सहन और परिच्छद में अंग्रेज़ी रीति-रिवाज के अनुसार चलना कुछ आवश्यक नहीं था। परन्तु इसी पर उन्होंने बहुत ज़ोर दिया था, यह उनकी भूल थी। उन लोगों ने सुधार के निमित्त कन्यापाठशालाएँ खोलीं और मंडलियाँ स्थापित कीं। इन सभाओं और मंडलियों में वे लोग बड़े जोश से हिन्दुओं के रीति-रिवाज पर आक्रमण करते थे और बालविवाह, अनिवार्य वैधव्य, स्त्री-शिक्षा का अभाव, तीर्थयात्रा, और दूसरी ऐसी ही व्यर्थ तथा मूढ़क्रियाओं के प्रति अपनी घृणा दिखाते थे। उनको केवल अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य की शिक्षा दी जाती थी; और कोई भी प्राचीन भाषा उन्हें नहीं सिखाई जाती थी, इससे दुर्भाग्यवश वे समझने लगे थे कि अँगरेज़ी भाषा और साहित्य में उच्चभाव तथा उन्नति करने की जो आशाएँ हैं वे संस्कृत साहित्य में नहीं हैं। और वे यह भी समझने लगे थे कि हिन्दूधर्म केवल कल्पित बातों और मूढ़ विश्वासों पर ही अवलम्बित है। परन्तु

जब यूनिवर्सिटी बनी तो पाठ्यक्रम में संस्कृत को भी स्थान दिया गया और दूसरी प्राचीन भाषायें भी पढ़ाई जाने लगीं। प्राचीन भाषा के पढ़ने में उत्तेजन मिलने से एक दूसरी ही प्रकार का शिक्षित समाज उत्पन्न हो गया। इस वर्ग ने प्रथम से ही पिछले सुधारकों का, जो कि हिन्दू-व्यवस्था और धर्म को बुरा कहते थे, विरोध किया। उनको संस्कृत-कवि और तत्त्ववेत्ताओं के ग्रन्थों का अभ्यास परीक्षा के लिए करना पड़ता था, इससे उनको मालूम हुआ कि काव्य-शास्त्र, तत्त्वज्ञान, धर्म, तर्कशास्त्र और दूसरे विषयों में संस्कृत में बहुत कुछ सीखने योग्य और प्रशंसनीय है। हिन्दुओं के रीति-रिवाज मूल से ही बिलकुल खोटे नहीं हैं; बल्कि जिस समय उनकी व्यवस्था की गई थी उस समय के लोगों के लिए वे सब प्रकार अनुकूल और उपयुक्त थे। बाद में अनेक धर्म्मोपदेशकों की कुटिलता और मूढ़ता के कारण यह दशा प्राप्त हुई है। जो अनीति और अनर्थ हम आज हिन्दू-समाज-व्यवस्था में देखते हैं वे स्वाभाविक नहीं हैं। अब यदि इस वर्ग ने प्राचीन बातों को प्रशंसनीय मानते हुए आज कल की समाजिक व्यवस्था की त्रुटियों की ओर भी ध्यान दिया होता, जिनके कारण हम किसी अच्छे काम करने की शक्ति से विहीन हो गये हैं, और उन त्रुटियों को अपनी शिक्षा तथा बुद्धि से दूर करने की चेष्टा की होती तो बहुत ही अच्छा होता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। प्राचीन कीर्ति से मोहित होकर उन्होंने वर्तमान अवस्था में

आवश्यक परिवर्तन करने में और अँगरेज़ी शिक्षा के बल से पुनरुद्धार करने में आनाकानी की। पिछले सुधारक जिस जोश से भारतीय सामाजिक और धार्मिक-व्यवस्था का तिरस्कार करते थे उससे भी बढ़ कर जोश से यह लोग सुधार का विरोध करते हैं। उनकी बातों से स्पष्ट मालूम होता है कि राजकीय मामलों में तो वे पूर्ण सुधारक (radical) हैं परन्तु समाज-सुधार में (conservative) हैं, और पूरी तौर पर प्राचीन बातों के मानने वाले हैं। राजकीय मामलों में तो शब्द-युद्ध करके अपने स्वत्वों के लिए लड़ते हैं परन्तु स्त्री-शिक्षा का प्रश्न आवे तो उसकी आवश्यकता के लिए उदासीनता दिखलाते हैं और अज्ञानी बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में दृष्टान्त के लिए—पूना में कन्या-पाठशाला स्थापित करने में उनकी विरोधिता, विधवा-विवाह के विपक्ष में उनकी कार्यवाही, कांग्रेस के मंडप में सोशल कान्फ़्रेन्स न होने देना, और 'लकीर के फ़क़ीर' लोगों के साथ उत्साह से मिल कर सुधार पक्ष में रुकावटें करना—यह सब बातें ध्यान देने योग्य हैं। शायद सुधार की आवश्यकता वे अपने मन में तो समझते हैं परन्तु उनको यह पसन्द है कि बिना कुछ प्रयत्न किये बैठा रहना चाहिए—समय सब काम जादू की तरह कर देगा।

सुधार के विपक्षियों के विचार और उनकी कार्यवाही इस संक्षिप्त विवरण से मालूम होगी। औद्योगिक और राजकीय कामों में रानडे इन विपक्षियों से भी मिल कर काम करने में

बिलकुल संकोच नहीं करते थे और देशोन्नति का काम करते थे। कभी कभी ऐसा भी होता था कि सामाजिक सुधार के विपक्षी लोग रानडे के पुष्ट और विवेक-युक्त विचारों से सहमत न होकर, तीव्रवेगी होकर, अनियमित रूप से चलने को तैयार हो जाते थे। रानडे के मित्र उन विपक्षियों से मिल कर काम करने को मना करते थे, क्योंकि उससे लोग यह समझने लगते थे कि रानडे का मत उन लोगों से मिलता है। यह भी कहा जाता है कि या तो रानडे ने उनको समाज-सुधार के पक्ष में लाने के लिए प्रयत्न नहीं किया और जो करने पर निष्फल हुआ तो रानडे को उनसे अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए था। परन्तु यह भी जानना चाहिए कि रानडे ने उनके विचार बदलने का बहुत प्रयत्न किया था। रानडे को उनसे कोई उत्तेजन अपने काम में नहीं मिला, वे बड़े अवरोधक रहे और अब भी उन लोगों के विचार वैसे ही हैं। रानडे ने उभय पक्ष के लिए उद्योग और उत्साह से काम किया और यदि ऐसा न करते तो उनकी पद्धति विवेक-युक्त न समझी जाती। यही कारण था कि रानडे उन लोगों से मिलना बुरा नहीं समझते थे। यदि रानडे उनकी सब बातों का अनुमोदन किया करते तो अवश्य उन लोगों के सम्मान-पात्र हो जाते। परन्तु यह कभी नहीं हुआ, क्योंकि रानडे के सुधारक होने से उनके विपक्षी लोग बड़े कड़े शब्दों में उनकी निन्दा किया करते थे। सर विलियम वैडरबर्न और मान० मि० झवेरीलाल याज्ञिक जैसे बाहर के लोगों ने भी यह

कहा था कि रानडे के २२ वर्ष तक पूना में रहने से वहाँ सब प्रकार की जागृति हुई है, और इसी कारण से सन् १८९३ ई० में जब रानडे वहाँ से बिदा हुए तो अपूर्व उत्साह से उनका सम्मान किया गया था परन्तु फिर भी कुछ लोगों ने उस समय उनके विरुद्ध विचार प्रकाशित करने की धृष्टता की थी।

इस सम्बन्ध में श्रीयुत अगाशे ने कहा था—"रानडे अपने विपक्षियों की सब बातें जानते थे परन्तु उनका स्वभाव ऐसा शुद्ध था कि वे सदा क्षमा की दृष्टि से इनको देखते थे। एडमन्ड बर्क के कहने के अनुसार कि 'हमारे विपक्षी हमारा बल बढ़ाते हैं' यह समझ कर रानडे अपने विरोधियों को अपने काम में सहायक मानते थे। पूना में जब स्वामी दयानन्द-सरस्वती आये थे तो सुधारकों की ओर से जो काम किया गया था उसका लोगों ने विरोध किया और रामशास्त्री उनके नेता बने थे। रानडे के बर्ताव को देख कर रामशास्त्री बाद को उनके परम मित्र हो गये थे। रानडे के स्वभाव का ध्यान करते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं मालूम होती।"

रानडे अपने विपक्षियों से केवल मिलते ही नहीं थे, बरन उनसे किसी प्रकार का द्वेष नहीं रखते थे और इससे उन्होंने नीचे का श्लोक सार्थक करके दिखला दिया था:—

सुजनो न याति वैरं परहित-बुद्धिर्विपत्तिकालेऽपि।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य॥

अर्थ—परहित करने वाला सज्जन विपत्ति पड़ने पर भी दूसरों

से वैर नहीं करता। चन्दन का वृक्ष कटने पर भी कुल्हाड़ी को सुगन्धित करता है।

श्रीयुत अगाशे ने इस सम्बन्ध में एक बात और भी जानने योग्य कही है—"वे यह नहीं चाहते थे कि प्राचीन प्रथा के मानने वालों को बिलकुल पीछे छोड़ कर सुधारक आगे बढ़े चले जायँ। जहाँ तक हो सके उनको अपने साथ में रखने का वे प्रयत्न करते थे। यदि जाति-भाई उनके साथ आगे बढ़ने में हिचकते तो वे माता की तरह, जो अपने बालक को चलना सिखाती है, अपना पैर भी धीरे बढ़ाते थे। ऐसे अवसर कई बार आये कि वे अपनी जाति से बिलकुल अलग हो जाते परन्तु वे जानते थे कि ऐसा होने से जाति पर जो उनका प्रभाव पड़ता था वह जाता रहेगा।" ऐसे ही शुभ हेतुओं से रानडे समाधान-वृत्ति से काम लेते थे और यही कारण है कि वे उभय पक्ष से सम्मान और पूज्यभाव के पात्र हो सके थे।

रानडे बड़े ही शान्त स्वभाव के और क्षमाशील थे। घर में, किसी पर क्रोध करने का अवसर भी हो तो वे आवेश में नहीं आते थे और शान्ति रखते थे। कोई उनका कैसा ही अपराध करता फिर भी एकदम क्रोध करना या उसकी कुछ हानि करना उनको पसन्द न था। ऐसे अवसरों पर वे अपनी क्षमाशीलता से शान्ति धारण कर लेते थे। 'क्षमा सतां भूषणम्'—क्षमा सज्जनों का भूषण है—इस नीति के अनुसार सदा चलते थे। 'गृह-संसार' के प्रकरण

शान्ति और क्षमा

में यह बात अच्छी तरह बतलाई गई है परन्तु एक बात इस विषय में उपयोगी जान कर यहाँ लिखी जाती है।

हिन्दुस्तानी लोग रेल के पहले दर्जे में बैठते हैं तो जो अँगरेज़ लोग उनके साथ रेल में होते हैं वे अक्सर बड़ी उद्दण्डता और असभ्यता से बर्ताव करते हैं। इस बात की शिकायत बहुत दिनों से चली आती है। लोगों को यह मालूम होता है कि जब तक समान भाव आपस में न हो जायगा और अपने पद का गर्व अँगरेज़ों का शान्त न होगा तब तक यह बातें जल्दी बन्द न होंगी। रानडे एक बार सोशल कान्फ़रेन्स में सम्मिलित होने के लिए, पहले दर्जे की गाड़ी में, मदरास जा रहे थे। शोलापुर के स्टेशन पर उतर कर वे अपने मित्रों से बातें कर रहे थे कि इतने में ही एक अँगरेज़ मुसाफ़िर उनकी गाड़ी में बैठने आया। अपने लिबास से वह कोई फ़ौजी आदमी मालूम होता था। गाड़ी में एक देशी सज्जन का सामान रक्खा देख कर उसने सब उठा कर खिड़की में से प्लेटफ़ार्म पर फेंक दिया। रानडे ने यह देखा कि अँगरेज़ बहादुर को एक देशी सज्जन के साथ बैठना पसंद नहीं है तो उन्होंने अपने नौकर से सामान दूसरी गाड़ी में रखने के लिए कहा। परन्तु उनके साथ के मित्र इस मामले को यों ही ठंडा नहीं करना चाहते थे। उनमें से एक ने स्टेशन-मास्टर से जाकर कहा और यह भी बतलाया कि जस्टिस रानडे का सामान है। स्टेशन-मास्टर ने उस अँगरेज़ मुसाफ़िर को समझाया तो उसने यह कह कर

समाधान किया कि उसे मालूम नहीं था कि वे मिस्टर जस्टिस रानडे थे।

मान० स्व० गोखले ने भी इस बात की चर्चा अपने व्याख्यान में की थी परन्तु उनके कहने के अनुसार अँगरेज़ मुसाफ़िर एक सिविलियन मातहत जज थे और यह बात मद्रास से पूना लौटते समय हुई थी। स्व० गोखले ने कहा था कि उस समय रानडे अपने मित्रों से बातें कर रहे थे और जहाँ वे लोग दूसरे दर्जे की गाड़ी में बैठे थे वहीं रानडे भी बातें करने चले गये थे। जब उनको मालूम हुआ कि उनका सामान फेंक दिया गया है तो वे डा० भांडारकर के पास, बिना कुछ कहे सुने, दूसरे दर्जे में आ बैठे। स्व० गोखले के कहने से मालूम होता है कि इस में कोई विशेष कार्रवाई नहीं की गई थी; परन्तु फिर भी उस अँगरेज़ को किसी तरह यह मालूम होगया कि जिन देशी सज्जन का सामान उसने फेंक दिया था वे मि० जस्टिस रानडे थे। पूना के स्टेशन पर वह उनसे क्षमा माँगना चाहता हो, ऐसा मालूम हुआ परन्तु रानडे ने अपनी पीठ उसकी तरफ़ कर ली और चले आये। स्व० गोखले ने जब उनसे पूछा कि इस विषय में उनका कुछ मामला चलाने का विचार है कि नहीं, तो उन्होंने यह कहा था "मैं तो मुक़द्दमा चलाना नहीं चाहता। यह कोई ऐसी बात नहीं है जो मामला चलाया जाय।" फिर कहने लगे "क्या हमारा चित्त ऐसी बातों में निर्मल है? अपने देशी भाइयों और नीच जातियों के साथ हम कैसा बर्ताव करते हैं!

जिस समय हमको मिलकर काम करना चाहिए उस समय हम अपने प्राचीन गौरव को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं और उनको अपने पैरों के नीचे रखने का आग्रह करते हैं, तो फिर शासक वर्ग के लोग यदि हमारा तिरस्कार करें तो हम उनको बुरा कैसे कह सकते हैं ?" उन्होंने यह भी कहा था कि "ऐसी बातों से बड़ा दुःख और मान-हानि होती है तथा उससे मनुष्य के धैर्य की पहचान होती है। इस तरह के अप्रिय अवसर का उपयोग हमको यह करना चाहिए कि जिस काम को हमें करना है उसको विशेष उत्साह और आग्रह से करें।"

रानडे की क्षमाशीलता कुछ अद्भुत थी। यदि इस समय में युधिष्ठिर की तरह किसी को "अजात शत्रु" कहना योग्य है तो रानडे को है। क्योंकि वे किसी को भी अपना शत्रु नहीं समझते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके विरोधी थे ही नहीं। हम को मालूम हो चुका है कि सामाजिक और धार्मिक बातों में उनको द्वेष-बुद्धि और आवेश से देखने वाले थोड़े नहीं थे। सर भालचन्द्र ने कहा था "वे अपने उद्देश की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते थे उसमें जो विघ्न होते उनसे दुःख तो होता था परन्तु वें किसी से न द्वेषभाव रखते, न किसी से बुरा मानते और न शत्रुता करते थे। उच्चभावना से ही वे प्रेरित होते थे और ऐसी उच्च कर्त्तव्य-बुद्धि से काम करते थे कि जिससे उनको अपने बारे में या शरीर के लिए—छोटे विचारों के लिए—समय ही नहीं मिलता था।" वे प्रतिपक्षियों से न तो शत्रुता

ही करते थे और न कोई बात ही अपने मुख से ऐसी कहते थे कि जिससे उनको बुरा लगे। वे उलटा यह समझते थे कि विपक्षी लोग जो कुछ कहते हैं उसे हमें ध्यान से सुनना चाहिए। सत्य के जानने को वे विपक्षी लोगों के भाषण सुनना आवश्यक समझते थे। जब विपक्षी कोई बात बहुत अयोग्य और सीमा से बाहर करते तो वे इतना ही कह देते थे कि 'उनका कहना ठीक न होगा। उनको अपनी भूल मालूम हो जायगी।' 'टाइम्स' ने लिखा था कि सार्वजनिक काम करने वालों में उनके बराबर क्रोध-शून्य और निर्वैर कोई भी नहीं है। मि० सेल्बी ने भी कहा था कि रानडे सत्य की खोज में लगे रहे थे और जो किसी से मतभेद हो जाय तो विरोध करके जय प्राप्त करना नहीं चाहते थे। उनको केवल सत्य बात को ढूँढ़ कर प्राप्त कर लेने से मतलब था।

श्रीयुत अगाशे ने इस सम्बन्ध में जो कहा था, वह भी जानने योग्य है। "रानडे जैसे और मनुष्यों से अगाध विद्वत्ता में बढ़ चढ़ कर थे उसी तरह अपने क्रोध को दमन करने और आत्म-संयम करने में भी एक ही थे। इसके लिए उन्होंने ख्याति भी पाई थी। उनकी पहली पुण्यतिथि को रा० ब० वी० एन० पाठक ने जो व्याख्यान सतारा में दिया था उसमें उन्होंने बतलाया था कि रानडे ने आत्म-संयम का अभ्यास विद्यार्थी-काल से किस प्रकार किया था। जब रानडे छोटे थे तो बड़ी तामसी वृत्ति के मालूम होते थे। परन्तु जब से वे कालिज में पढ़ने लगे

तो क्रोध आने पर वे अपने कमरे में जा बैठते थे और इस तरह घंटों बैठे रहते थे। जब उनके मित्र इसका कारण पूछते तो कह देते कि 'कहीं ऐसा न हो कि कोई बेजा बात मेरे मुँह से निकल जाय, इसलिए मैं ऐसा करता हूँ।' इस तरह उन्होंने आत्म-संयम का ऐसा अभ्यास किया था कि सबको आश्चर्य होता था।

एक दिन ऐसा हुआ कि श्रीयुत महादेव चिमनाजी आप्टे 'नेटिव जनरल लाइब्रेरी' में अपने मित्रों के साथ बैठे हुए बातें कर रहे थे। उन दिनों सम्मति-वय के क़ानून के बारे में वहाँ बड़े ज़ोर-शोर से चर्चा हो रही थी। सामने के कमरे में रानडे इतनी दूर पर बैठे पढ़ रहे थे कि जहाँ से उनको यह बातें सुनाई देती थीं। श्रीयुत आप्टे प्राचीन बातों के अनुयायी लोगों में मुख्य थे। वे ऐसे नहीं थे कि किसी बात को सुन कर या देख कर चुप रह जायँ; और जो लोग इस क़ानून के पक्ष में थे, उनको टेढ़ी सीधी बातें सुनाने में चूकते नहीं थे। वे सब सुधारकों की दिल्लगी उड़ा कर कहने लगे कि वे सब कोरी बातें ही बनाले वाले हैं और उनमें उन्होंने रानडे का भी नाम ले डाला। उस समय श्रीयुत आप्टे के पास रा० ब० भिडे बैठे हुए थे। उन्होंने धीरे से सूचना की कि रानडे अन्दर बैठे सब सुन रहे हैं। रानडे ने भी सब बातें सुनी ही थीं। धीरे से बाहर आकर वे श्रीयुत भिडे से कहने लगे "आप्टेजी जो कुछ सुधारकों के लिए कहते हैं, वह ठीक है। आप्टेजी ने तो कुछ किया भी है

और सुधारकों ने सिवा बातें करने के कुछ नहीं किया है, उनका ऐसा कहना ठीक है।"

श्रीयुत अगाशे ने कहा था कि "मुझे रानडे के आत्म-संयम का एक बार परिचय मिला था।" एक दिन शनिवार को उनके घर मैं उनसे बातें करता था कि उनको किसी के आने की इत्तिला दी गई। मैं उस मनुष्य को, जो कि आया था, कुछ सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता था। ज्यों ही रानडे को उसके नाम का कार्ड दिया गया त्यों ही उठ कर वे उसे लेने के लिए गये। यद्यपि रानडे को उसके प्रति विशेष तिरस्कार दिखाने का कारण था तो भी उन्होंने मुझे आक्षेप से कहा कि "किसी की बुराई नहीं करनी चाहिए। यह असभ्यता है। अपने द्वेषी से भी स्वागत आदि में मधुर व्यवहार करने में चूकना नहीं चाहिए।"

श्रीमती रमाबाई कहा करती हैं कि जब उनको स्वयं भोजन बनाना पड़ता था और भूल से नमक दो बार गिर जाता या डालना रह जाता तो रानडे कभी क्रोध न करते; बल्कि मुँह से भी कुछ न कहते। जब श्रीमती स्वयं खाने बैठतीं तो उनको अपनी भूल मालूम होती थी। सतारा ज़िले में रानडे एक दिन पैदल जा रहे थे और पीछे से गाड़ी में श्रीमती रमाबाई आ रही थीं। रास्ते में श्रीमती ने चाबुक से आम तोड़े थे, उसमें उनके हाथ में से सोने की चूड़ी गिर पड़ी और खो गई। जब रानडे से यह कहा तो उन्होंने शान्त भाव से यही कहा कि

दूसरे के आम, बिना, पूछे तोड़े यह बुरा किया और चूड़ी के खोने से योग्य शिक्षा हुई है और अब ऐसा न करना चाहिए सो याद रहेगा। इसके बाद उन्होंने खोई हुई चीज़ का नाम भी न लिया।

रानडे के यहाँ ३०।४० विद्यार्थी सदा रहा करते थे, जिनके खाने पीने और पढ़ने का ख़र्च रानडे ही दिया करते थे। यह विद्यार्थी लोग घर का सौदा भी ले आया करते थे। उनमें से एक को, अक्षर अच्छे होने से, हिसाब लिखने और महीने की १० तारीख़ को बाज़ार वालों को हिसाब के रुपये चुकाने का काम सौंपा गया था। लड़के की नीयत बिगड़ गई। दो महीने उसने किसी को रुपया नहीं दिया और हिसाब में ख़र्च बराबर लिखता रहा। एक बज़ाज़ के हिसाब से पकड़ा गया। लड़का सुनते ही बहाना बना कर भागा। उसको पकड़ने का प्रयत्न किया तो वह भीत पर से कूद कर भाग गया। एक विद्यार्थी ने रानडे से यह बात कही तो वे चुप हो गये, कुछ न बोले। जब श्रीमती रमाबाई ने कहा कि लड़का ३००।४०० रुपये लेकर भाग गया है और उसको कोई पकड़ कर नहीं लाता, तो रानडे ने अपने एक आदमी को उसे पकड़ लाने को भेजा मगर उससे साफ़ कह दिया कि उसको मारना पीटना मत। यह तो कह नहीं सकते कि लड़का पकड़ गया कि नहीं, परन्तु उस दिन दशहरा का त्यौहार था इसलिए स्त्रियों में इस बात पर झगड़ा हुआ कि ऐसे दिन उनसे ऐसी बात क्यों कही गई

जिससे उनको सन्ताप हुआ। उस समय भी उन्होंने बड़ी शान्ति से सब का समाधान किया था।

रानडे की बुद्धि जैसी विशाल थी वैसे ही वे गम्भीर और विचारशील थे। सामान्य मनुष्यों की तरह अहर्निश अपने स्वार्थ और व्यावहारिक बातों में उनका मन नहीं लगा रहता था। वे सदा देशोन्नति और आत्मोन्नति की धुन में लगे रहते थे। एक प्रसिद्ध समाचारपत्र ने लिखा था कि रानडे जैसा विचारवान् और विद्वान् भारतवर्ष में शायद ही और कोई हो। वे साधारण काम भी बिना विचार किये जल्दी से नहीं कर बैठते थे। चाहे जैसा कोई विद्वान् क्यों न हो, बिना विचार किये यदि कोई काम कर बैठता है तो पीछे से उसे पछताना पड़ता है और इसी लिए इस गुण की सब को आवश्यकता होती है। सामाजिक, धार्मिक, औद्योगिक और राजकीय विषयों में एक साथ देश की उन्नति करने का काम रानडे ने अपने ऊपर ले लिया था; परन्तु इस सम्बन्ध में कोई भी काम वे बिना अच्छी तरह विचारे निश्चित नहीं करते थे। राजकीय मामलों में वे कैसी गम्भीरता और सूक्ष्म दृष्टि से काम करते थे, यह हम ऊपर देख चुके हैं। स्व० गोखले ने कहा था—"दूसरा गुण जो मैंने रानडे में पाया वह यह था कि हमारे समकालीन भारतवासियों में वे एक गम्भीर विचारवान् थे। उनका मन विशाल दृष्टि से देख कर सब बातों की ठीक ठीक तुलना कर सकता था। न्याय के

गम्भीरता और विचारशीलता

मामले में वे बड़े समझदार थे। कोई भी अनुमान वे जल्दी से नहीं कर लेते थे और सदा परिणामों के गुप्त कारणों को खोज निकालने का यत्न करते थे। उनके विचार विशाल ज्ञान और अवलोकन पर स्थित होते थे और प्रौढ़, परिपक्व मन से उनकी रचना होती थी। जब रानडे अपने विचारों का निश्चय कर लेते तब दृढ़ता के साथ उन्हें अपने देश-भाइयों के सामने रख कर उनके स्वीकार किये जाने का प्रयत्न करते थे। उनका विशाल मन प्रजाहित के कर्तव्य-रूपी विशाल क्षेत्र पर भ्रमण करता था और उनको जुदी जुदी प्रवृत्तियों में एकता उत्पन्न करना आवश्यक जान पड़ता था। यही कारण था कि सब प्रकार के सुधारों के लिए वे एक रीति से उत्सुक रहते थे और सब प्रवृत्तियों में उत्साह से भाग लेते थे।" स्व० गोखले ने और भी कहा था—"इस विषय में रानडे अपने विचारों को आग्रह और दृढ़ता से जताते थे परन्तु उनके विचारों में उच्छृङ्खलता नहीं होती थी। अपने निश्चय के कारण, उनको स्वयं चाहे जितनी हानि सहन करनी पड़े, वे हटते नहीं थे।"

सहानुभूति या अनुकम्पा

रानडे सामान्य मनुष्य-जाति की ओर प्रेम से देखते थे। वे दूसरे के दुःखों को जानने की चेष्टा करते थे। यह ऊपर कहा जा चुका है कि अपने मित्र और जान-पहचान वालों के दुःख में वे भाग लेते थे, उनकी आपत्ति को समझ कर उसका उपाय करने का प्रयत्न करते थे। दूसरों के साथ सहानुभूति या समवेदना प्रगट

करना और उनको शान्ति देने का उनका स्वभाव था। हिन्दुओं में साधारणतः यह नियम है कि अपनी जाति या सम्बन्धियों में कोई मर जाता है तो लोग शव के साथ श्मशान को जाते हैं और कभी कभी शव के उठाने में भी मदद करते हैं। परन्तु दूसरी जाति के लोग शव को नहीं छूते। रानडे, अपने उच्चपद का विचार न कर, अवसर प्राप्त होने पर केवल श्मशान ही नहीं जाते थे परन्तु जाति की परवा न करके आवश्यकता होती तो दूसरी जाति के शव को उठा ले जाने में भी मदद करते थे।

पूना में रा० ब० मदन श्रीकृष्ण खफ़ीफ़ा के जज थे। वे सन् १८८४ ई० में यकायक हैज़े से मर गये। वे कोकणी सालवी जाति के खत्री थे और उनकी जाति का पूना में कोई भी घर नहीं था। उनके लड़के और भाई के सिवा, और कोई भी पूना में नहीं था जो इस समय कुछ सहायता करता। थोड़े दिन पहले जब उनकी स्त्री मर गई थी तो, उनके रौब से, कचहरी के बहुत से नौकर शव को उठाने आ गये थे परन्तु उनके मर जाने पर कोई भी नहीं आया। रानडे इन दिनों स्पेशल जज की जगह पर पूना में आये हुए थे। उनके साथ रा० ब० शंकर पाण्डुरंग पण्डित रहते थे। उनसे उन्होंने श्रीयुत मदन के मरने का और उनके लड़के पर जो आपत्ति आई थी उसका हाल सुना तो तुरन्त ही श्रीयुत पण्डित को साथ लेकर श्रीयुत मदन के दुःखी कुटुम्बियों के पास आये और सब तरह उनकी

सहायता की। अब तो उन्हें देख कर ब्राह्मण भी शव को उठाने में मदद करने लगे।

एक बङ्गाली विद्यार्थी की बात भी जानने योग्य है। कुछ बङ्गाली विद्यार्थी अपना घर बार छोड़ कर साइन्स-कालिज पूना में आकर पढ़ते थे। उनमें से एक का देहान्त हो गया। इससे दूसरे बङ्गाली विद्यार्थी बड़े घबराये और अनुभव न होने से इस चक्कर में पड़े कि शव का दाह-कर्म आदि शास्त्रानुकूल कैसे किया जाय; और सब व्यवस्था कैसे की जाय। वे लोग रानडे को जानते थे, उन्होंने इनसे मदद माँगी। रानडे स्वयं उनके रहने की जगह गये और सब बातों का ठीक ठीक प्रबन्ध कर दिया। ऐसे ही दूसरे उदाहरण बहुत दिये जा सकते हैं। रानडे के मरने पर, लाहोर के 'ट्रिब्यून' समाचारपत्र ने एक बात लिखी थी जिससे मालूम हो जाता है कि वे जाति और देश का विचार किये बिना ही किसी को सहायता करने में कैसे तैयार रहते थे; और निःस्वार्थ होकर दुःखी लोगों को कैसे आश्वासन देते थे। 'ट्रिब्यून' ने लिखा था—"एक युवक पञ्जाबी बिना जान-पहचान के बम्बई में रहता था। दूर देश में उसकी स्त्री की मृत्यु के समाचार उसके पास पहुँचे, उसका वर्णन उसने हमारे सामने अश्रुपूर्ण आँखों से किया था। जब उसको अशुभ समाचार मिले तो उसने अपने सङ्कट की बात रानडे को लिख भेजी। वे तुरन्त हाईकोर्ट से उसके घर गये और उसे आश्वासन दिया।"

रानडे का मन बड़ा दयालु था और इसी से उनके मुँह से कभी कठोर वचन नहीं निकलता था। उनकी दयालुता का लाभ ऊँच, नीच, धनी और निर्धन, सब को मिलता था। अपने विपक्षियों से भी, जो उनकी निन्दा किया करते थे, रानडे दयालुता से वर्तते थे। घर के नौकर अगर चोरी भी करते तो, बार बार कहने पर, रानडे इतना ही करते कि उनकी चढ़ी हुई तनखा देकर उन्हें चले जाने देते। वे दुःखी और विपद्ग्रस्त लोगों की सहायता करने में कभी नहीं चूकते थे। मनुष्यमात्र के प्रति वे दया का भाव रखते थे और एक सच्चे साधु पुरुष थे। उनकी दयालुता जो एक छोटे से छोटे आदमी के साथ की गई थी, नीचे लिखी जाती है:—

दयालुता

दक्षिण में सन् १८९९-१९०० में भयङ्कर अकाल पड़ा था। प्रजा का सङ्कट निवारण करने के लिए और उसकी सहायता करने के लिए जो लोग नियत किये गये थे उनमें से एक रानडे से मिलने गया। उन्होंने उससे पूछा। "निराधार ग़रीब लोगों को मरने से बचाने के लिए कैसे काम किया जाता है?" उसने जवाब दिया—"मनुष्य के प्राण बचाने के लिए जो कुछ हो सकता है करते हैं, परन्तु फिर भी बहुत से मर जाते हैं।" जो रानडे सदा शान्त रहते थे उन्हें भी यह बात सुन कर कुछ क्रोध हो आया और तेज़ होकर उन्होंने कहा "तुम कहते हो कि बहुत से आदमी फिर भी मर जाते हैं! और तुम उनको मर जाने देते हो? ऐसे तुम भी मर जाओ तो क्या हो जाय? क्या

यह तुम्हारा काम नहीं है कि ईश्वर के पैदा किये हुए आदमियों में से एक भी भूखा न मरने पावे ?" वह यह नहीं समझता था कि रानडे इतने चिढ़ जायँगे। उसने जवाब में इतना ही कहा कि "मुझे जो रुपया मिला था उससे जितने आदमी बचाये जा सकते थे मैंने बचाये; और फिर अपने पास से भी जहाँ तक बना वहाँ तक रुपया लगा कर लोगों की सहायता की; परन्तु अकाल की आपत्ति इतने अन्तर में फैल रही है कि उसका दूर करना सहज काम नहीं है।"

लाभ की आशा से रानडे के पास ऐसे बहुत से लोग रहा करते थे जिनका चाल-चलन विश्वास के योग्य नहीं था। रानडे के मित्र और सम्बन्धी उनको इस बात की सूचना भी करते तो वह निरर्थक होती। रानडे कह देते कि "जैसा तुम कहते हो, वैसे ही यदि बुरे आदमी यह हैं तो यह क्यों नहीं मान लेते कि अच्छी सङ्गति से वे सुधर जायँगे ? उनको सुधरने का मौक़ा क्यों न दिया जाय ?" इस प्रकार रानडे दुर्गुणों से मुक्त होने पर एक आदमी को खोये हुए धन से भी क़ीमती समझते थे। पूना में उनके इजलास पर ग़रीब देहाती लोग गवाही देने या मुक़द्दमा लड़ने आते और इजलास के इधर उधर रास्ते में सो जाते तो किसी को उन्हें हैरान करने या जगाने न देते। उनके करुणा-पूर्ण हृदय में इतना प्रेम था कि वे कभी कभी अपनी ऊँची पदवी को भी भूल जाते थे और फेरीवाले का भी बोझा उठवाने को दौड़ जाते थे।

रोगी और अशक्त लोगों के लिए उनको बड़ी चिन्ता रहती थी। उनके लिए सब तरह का प्रबन्ध करने पर भी वे स्वयं शुश्रूषा किये बिना न रहते थे। जब बम्बई में प्लेग फैला था तो रानडे के नौकर भी उससे पीड़ित हुए। उनकी दवा का प्रबन्ध और उनकी देख भाल के लिए रानडे ने क्या किया था—इस बात का वर्णन करने के लिए श्रीमती रमाबाई ने अपनी पुस्तक में एक अध्याय रक्खा है। उन्होंने लिखा है "चाहे जितनी दूर के सम्बन्धी या नौकर के बीमार होने का समाचार उनको मिला कि तुरन्त ही लपके हुए वे उसके मकान में जाकर स्वयं उसका हाल पूछते थे। और डाकृर को बुला कर, दवा का प्रबन्ध कर, मुझसे कहते थे कि तुम स्वयं उसकी शुश्रूषा करो। दूसरे के भरोसे रोगी को मत छोड़ना। वे इस बात की ताकीद करके ही चुप न हो जाते थे किन्तु जब तक रोगी बिलकुल अच्छा न हो जाय तब तक भोजन करते समय दोनों बार उसका हाल पूछ लेते थे। मुझको इस बात का आश्चर्य होता था कि दिन भर दूसरे कामों में मन लगा रहने पर भी उनको ऐसी छोटी सी बात की भी याद रहती थी!" इस सम्बन्ध में श्रीमती रमाबाई का लिखा हुआ काशीनाथ की बीमारी का हाल और उसे सुन कर रानडे का भोजन छोड़ कर उठ जाना इस बात का समर्थन करता है कि रानडे को रोगियों की कैसी चिन्ता रहती थी।

रोगियों की शुश्रूषा

रानडे को प्रारम्भ से ही ऊँची नौकरी मिली थी, इससे उनको वेतन भी बहुत मिलता था। अपनी मासिक आमदनी को गृहकार्य और व्यवहार आदिक में व्यय करने के उपरान्त वे उसका अच्छा उपयोग करते थे। विद्वान्, विद्यार्थी और अतिथि आदि का वे अच्छा सत्कार करते थे और कभी कभी उनको देशोपकार के लिए अच्छी रक़म भी दी जाती थी। इसके सिवा रानडे की बहन दुर्गा अक्का और उनकी उपमाता दान-पुण्य बहुत किया करती थीं। यह भी ऊपर कहा जा चुका है कि पूना से बिदा होते समय रानडे ने २५०००) की एक रक़म सार्वजनिक कामों के लिए दी थी और बाद में, कहा जाता है कि, उसको ५००००) कर दिया था। यह एक ऐसा दान था जो किसी राजा की शोभा बढ़ाता। इतनी बड़ी रक़म शायद ही किसी सरकारी आदमी ने इस तरह दी हो। जब से वे हाईकोर्ट के जज हो गये थे तब से ८००) के लगभग प्रतिवर्ष समाचार-पत्र, पत्रिका आदि की सहायता के लिए देते थे। उन्होंने अपने पुस्तकालय में बहुत सी पुस्तकें एकत्र की थीं, और लेखकों को उत्तेजना देने के लिए पुस्तकें बराबर ख़रीदते रहने से उनका पुस्तकालय बहुत बढ़ गया था। सार्वजनिक सुख के साधन में तो वे धन दिया ही करते थे। उल्लिखित ५००००) वाले दान में से कोल्हापुर में उत्तरेश्वर के मन्दिर के लिए भी कुछ सहायता दी गई थी।

उदारता और विद्यार्थियों के प्रति प्रीति

रानडे विद्यार्थियों से बड़ा प्रेम करते थे। वे उनके पालक या आश्रयदाता समझे जाते थे। रानडे प्रत्येक रीति से उनकी सहायता करने में चूकते नहीं थे। विद्यार्थियों का बोझ हलका करने के लिए रानडे सिनेट में लड़े थे, उसका हाल ऊपर आ चुका है। इसके उपरान्त वे कितने ही विद्यार्थियों को अपने पास रख कर, कितनों ही की फ़ीस देकर, और अनेक तरह से द्रव्य की सहायता करते थे। रानडे के पिता जब शान्त होगये तो उनके छोटे भाई अपनी माता के साथ रानडे के पास रहने गये। उस समय रानडे के पास १६ विद्यार्थी रहते थे। उनमें से कुछ उनके सम्बन्धी थे और शेष से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। पूना और बम्बई में वे अपने साथ विद्यार्थियों की एक अच्छी संख्या को भोजन कराते थे। मराठी, गुजराती और अँगरेज़ी पढ़ने वाले सब तरह के विद्यार्थियों को वे द्रव्य से जो सहायता करते थे उसका कम से कम मासिक व्यय १०० रुपये का था। विद्यार्थी भी अपने आश्रय-दाता के प्रति बड़ा ही पूज्यभाव रखते थे और उन्होंने उनके मरने पर अपना शोक प्रदर्शित करने की कैसी उत्सुकता और तत्परता दिखलाई थी, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

न्यायप्रियता

सब बातों का विचार छोड़ कर, रानडे शुद्ध न्याय पसन्द करते थे। न्याय-प्रियता उनमें सदा से ही थी। कोल्हापुर में जब रानडे जज थे उस समय की एक बात जानने योग्य है। श्रीमती रमाबाई ने उसका वर्णन किया

है। जब रानडे कोल्हापुर में न्यायाधीश थे तब वहीं पर उनके पिता भी राज्य में नौकर थे। इस कारण, यह सम्भव था कि रानडे पर न्याय के काम में अपने पिता का दबाव पड़ता। परन्तु उनके पिता जानते थे कि रानडे कैसे सच्चे और निःस्पृह हैं, इसलिए वे कभी कोई दबाव नहीं डालते थे और न किसी की सिफ़ारिश करते थे। परन्तु एक बार ऐसा हुआ कि रानडे के इजलास में एक सम्बन्धी का मुक़द्दमा था और उसमें वह प्रतिवादी था। वह रानडे के पिता के पास गया और उनसे अत्यन्त आग्रह पूर्वक उसने इस बात की सिफ़ारिश चाही कि रानडे घर पर एक बार उसके सब कागज़ात देख लें और उससे मुक़द्दमे का सब हाल सुन लें। आग्रहवश रानडे के पिता मना न कर सके, और उस प्रतिवादी को लेकर रानडे के कमरे में गये। रानडे ने उस समय उनको टाल दिया और फिर अपने पिता से कहा कि उनका नियम है कि अपने घर किसी मुक़द्दमे वाले से मिल कर उसके कागज़ात नहीं देखते; और अपने पिता से यह बिनती की कि वे किसी की सिफ़ारिश न करें और यदि ऐसा होगा तो रानडे को बहुत दुःख होगा और दूसरी जगह अपनी बदली करानी पड़ेगी। इतना कह देने पर भविष्य में ऐसा प्रसंग फिर कभी नहीं आया। जब रानडे ऐसे न्याय-प्रिय थे तो इसमें क्या आश्चर्य है कि हाईकोर्ट की 'फुलबैंच' में, मतभेद होने पर, सब जज रानडे से यह बिनती करते कि उनकी ओर से भी वे ही फ़ैसला लिख दें?

रानडे को अपनी अनन्य पितृभक्ति के कारण दूसरा विवाह किस तरह करना पड़ा था, उसका हाल ऊपर आ चुका है। श्रीमती रमाबाई ने इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में विस्तार से लिखा है, जिसको पढ़ कर शंका करने वाले का पूर्ण समाधान हो जाता है कि रानडे को पिता की आज्ञा और इच्छा के कारण ही अपना दृढ़ निश्चय छोड़ना पड़ा था। इसके बाद विवाह हो जाने पर जब विष्णुशास्त्री पंडित को अपने साथ भोजन करने का निमंत्रण दिया था और रानडे के पिता ने इस बात का घोर विरोध किया था तब रानडे ने कैसी नम्रता दिखलाई थी और उनको घर छोड़ कर जाने से रोका था। रानडे ने पूना में मकान ख़रीदा था। उसका बैनामा, पिता के रोकने पर भी, रानडे ने पिता के ही नाम से कराया और एक सुपुत्रोचित आग्रह किया था। पिता के बीमार होने पर उन्होंने उनकी बड़ी सेवा की थी; और नौकरी के कारण अन्त समय पर उनके पास न पहुँच सके, इस बात का रानडे को बड़ा दुःख और पश्चात्ताप हुआ था। उन्होंने अपनी उपमाता के लिए पिता को वचन दिया था कि 'मैं पुत्र-धर्म नहीं छोड़ूँगा', इसका उन्होंने सवा सोलह आने पालन किया था। इन सब बातों को देख कर रानडे की अनन्य और विशुद्ध पितृभक्ति का पता चलता है। उनकी आदर्शरूप पितृभक्ति का हमारे बालक अनुकरण करें, यही कहना है।

पितृभक्ति

इन सब गुणों के होते हुए रानडे में साधुवृत्ति के भी बहुत से लक्षण थे। जो उनसे मिलता था उसको यह लक्षण तुरन्त दिखाई दे जाते थे जिससे उनके लिए पूज्यभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता था। मि० ग्लेडस्टन की तरह रानडे जीवन-व्यापार, रहन सहन आदि में बड़ी सरलता और सादगी से रहते थे। लौकिक बनावटी विनोदवार्ता और रीति रिवाज की संकीर्णता से वे घृणा करते थे। देश-हित के लिए बराबर उद्योग करते रहते थे परन्तु उनमें अहङ्कार का लेश भी नहीं था। बहुत सी संस्थाओं के वे प्रेरक और संस्थापक थे, परन्तु स्वयं पीछे अदृश्य रहते हुए दूसरों को काम करने के लिए प्रकाश्य रूप से सामने करते थे और नेता बनाते थे। मान० स्व० गोखले के भाषण का अन्तिम भाग रानडे की साधुवृत्ति पर बहुत प्रकाश डालता है। उसमें से कुछ यहाँ पर देना योग्य है। उन्होंने कहा था "रानडे की मानसिक शक्तियों से भी बढ़ कर जिस बात से लोग उनके प्रति पूज्यभाव रखते थे वह उनका मृदुल स्वभाव था। इसी के कारण वे देश-वासियों की प्रीति सम्पादन कर सके थे। जिन युवकों का उनके साथ गहरा सम्बन्ध हो जाता वे रानडे के समक्ष यह समझते थे मानों किसी पवित्र पुरुष के सामने उपस्थित हों, जिससे न तो कोई अस्तव्यस्त बात ही मुँह से निकल सकती थी और न कोई अनुचित विचार ही मन में उत्पन्न हो सकता था। इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। मेरे अनुभव में, ऐसे भव्य प्रभाव के उत्पन्न करने वाले रानडे

साधुवृत्ति

के अतिरिक्त दादाभाई नौरोजी हैं। रानडे के और अनेक गुणों में निःस्वार्थ वृत्ति का भी एक गुण था। यद्यपि रानडे अनेक प्रवृत्तियों में लगे रहते थे परन्तु वे इस बात को स्वीकार करना पसन्द नहीं करते थे कि अमुक काम मैंने किया है। और किसी काम के करने में मान या अपमान पाने का तो विचार भी नहीं करते थे। सच तो यह है कि राजकीय कामों में ही नहीं, परन्तु सभी कामों में उनको इस बात में बड़ा ही आनन्द आता था कि दूसरे आदमी को सामने रख कर और नेता बना कर उसके पीछे आप छिपे हुए काम करें। उनकी यह बड़ी इच्छा थी कि विशेष संख्या में मनुष्य उनके काम में भाग लेते। मैं समझता हूँ कि रानडे को यह कहते हुए कि 'यह मैंने किया' और वह मैंने किया कभी किसी ने न सुना होगा। मानों उनके शब्दसमूह में 'मैं' शब्द का अभाव हो। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिवस तक नम्रता से रहने का यत्न किया था। नम्रता भी उनमें बड़ा गुण था। रानडे के मन पर किसी बात का प्रभाव तो बड़ा तीव्र होता था और विशेष कर अन्याय से उनके हृदय को बड़ी चोट लगती थी परन्तु आत्म-संयम और निरंतर प्रयत्न करने से उन्होंने अपनी वृत्ति को ऐसा वश में कर लिया था कि संकट के समय में भी वे शान्ति धारण कर सकते थे। अपने शुभ कार्य का ज्ञान और जगन्नियंता पर श्रद्धा होने से उनकी स्वाभाविक स्थिति आनन्दमय थी। जब कभी वे अप्रसन्न होते, या किसी काम में निराश होते अथवा उनके मन को किसी कारण से सन्ताप होता

तो वे लोग, जिनका कि उनसे गाढ़ परिचय नहीं था वे, उनकी मुखमुद्रा से इन बातों को नहीं जान सकते थे। किसी ने भी उनके मुँह से अपने बारे में कोई शिकायत नहीं सुनी होगी।"

रानडे की नम्रता, निःस्वार्थता, निरभिमानी स्वभाव और साधुवृत्ति से विदेशीय अध्यापक मि० सेल्बी का भी अन्तःकरण उनकी ओर आकर्षित हुआ था। मि० सेल्बी ने अपने भाषण में कहा था कि "स्वयं पीछे रहते हुए दूसरों को यश प्राप्त कराने का उनको बहुत ध्यान रहता था। लार्ड बेकन ने अपने लिए जो बात कही थी वही हम रानडे के लिए कह सकते हैं कि यदि कोई देवालय बनाया जाता हो तो अपनी पीठ पर ईंट और चूना ढोने के लिए वे ख़ुशी से तैयार थे।" पूना में जो जागृति हुई उसके वे प्रेरक और उत्पादक थे, परन्तु इस बात को वे ही लोग अच्छी तरह जानते थे जो रानडे से अच्छी तरह परिचित थे; बाहर के लोग तो उनको एक प्रेक्षक समझते थे। इस बात से सेल्बी साहब का अक्षर अक्षर सत्य सिद्ध होता है।

रानडे की साधुवृत्ति का योग्य दर्शन कराने के लिए श्रीमती रमाबाई को जो अनुभव हुआ था और जिसका उन्होंने सुन्दर वर्णन किया है उसका उल्लेख करना यहाँ पर उचित है। रानडे जब कोल्हापुर में थे तब उनके पास हाईकोर्ट के जज नियत होने की सूचना आई थी। "सरकारी आज्ञा की सूचना मिलने पर उनको कुछ चमत्कार नहीं मालूम हुआ। आज्ञा-पत्र देख उन्होंने बड़ी शान्ति से अपने पेशकार से कहा कि अब यहाँ का काम

जल्दी पूरा करके हमको पूना जाना पड़ेगा—ऐसा मालूम होता है। पेशकार के जाने पर वे मुझ से इस सम्बन्ध में कुछ भी न बोले, इससे मुझको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और पिछले दिन मुझको कैसा निर्मूल भय हुआ था, उसको सोच कर मुझे हँसी आई। मैं कैसी बे समझ हूँ कि दिन रात उनके साथ रहने पर भी उनके स्वभाव और सद्गुणों की परीक्षा मुझको नहीं हुई; और ऐसी निर्मूल बात की मुझे शंका हुई। जिस पुरुष पर दुःख के पहाड़ गिरें और वह उनसे न डरे और चाहे जितना सुख का कारण हो पर जिसे आनन्द न हो; जिसको सुख या दुःख का अनुभव हो तो बारीकी से देखने पर उनके निजी लोगों को ही मालूम हो और दूसरों को उसके चिह्न भी दिखाई न दें—ऐसा उनका स्वभाव मैं जानती थी और फिर भी मैं मूर्खा बन गई! न जानें मुझे क्या हो गया था!"

रानडे के पास हाईकोर्ट के जज नियत होने के शुभ समाचार जब आये थे तब वे दो तीन दिन से बीमार थे। श्रीमती ने यह समझ कर, कि बीमारी में आनन्द-समाचार सुनने से उनकी तबीयत कहीं और न बिगड़ जाय, एक दिन यह बात छिपा रक्खी थी। इसी की सूचना ऊपर के शब्दों में उन्होंने की है।

सन् १८९९ ई० में जब रानडे महाबलेश्वर को गये थे तो वहाँ उन्होंने श्रीमती रमाबाई को यह उपदेश दिया था:—

"यदि अपनी जिह्वा को हम अपने वश में न रक्खें तो वह निरंकुश हो जाय, और बुरे दिनों में फिर वह अपना कहना न

माने । इसलिए ऐसी आदत रखनी चाहिए कि जो सब तरह की हालत में निभ सके । ऐसा होने से कोई भी स्थिति भारयुक्त या असहनीय नहीं होती । जैसे जैसे आदमी की अवस्था बढ़ती जाय वैसे वैसे पशुवृत्ति का दमन कर उसे दैवी गुणों को बढ़ाना चाहिए और उसकी ओर ध्यान देना चाहिए । अच्छी बात के साधन में बड़ी कठिनाई होती है इसलिए उसके साधन के लिए कुछ नियम रखना उचित है ।" श्रीमती ने कहा "इस समय यदि हम कोई नियम करें तो वह जगत्प्रसिद्ध हो जाता है ।" इस पर उन्होंने कहा "तुम स्त्रीगण, लोगों को दिखाने के लिए, एक और आभूषण की तरह नियमों का पालन चातुर्मास में करती हो । इन बातों के लिए अमुक नियम ही आवश्यक हो, यह बात नहीं है । यह सब काम बिना किसी को मालूम हुए हो सकते हैं । सच्चे भाव से यदि हम किसी बात की साधना करें तो थोड़े बहुत दिनों में कुछ न कुछ सफलता अवश्य प्राप्त होहीगी । दैवी गुण की वृद्धि और मन की उन्नति करने वाली साधनायें प्रत्येक मनुष्य के लिए कल्याणकारी हैं । किसी दूसरे की यह बातें मालूम हो जायँ तो उनकी यत्र तत्र चर्चा न करनी चाहिए । आवश्यकता हो तो एक ओर अलग ले जा कर उनसे पूछ लेना चाहिए । ऐसी बातें सब के सामने और चाहे जिस समय कहने सुनने की नहीं होतीं । दिन भर अपना काम करने के बाद, सोते समय, यह सोचना चाहिए कि आज हमारे हाथ से कितने सत्कर्म हुए

और कितने दुष्कर्म हुए। उनका हिसाब देखना चाहिए। अच्छे कामों की ओर मन की प्रवृत्ति रखनी और दुष्कर्मों के न करने का दृढ़ निश्चय करके ईश्वर की सहायता के लिए याचना करनी चाहिए। प्रारम्भ में यह बातें कठिन प्रतीत होती हैं और हमारा मन भी प्रसन्नता से उस ओर नहीं जाता, परन्तु दृढ़ता से आदत डालने पर मन को यह बात अच्छी मालूम होने लगती है।

"हम ईश्वर के अंश हैं—ऐसा हम कहते तो हैं; परन्तु क्या यह बात तुमको नहीं सूझती कि ईश्वर के गुण हममें दिन प्रति दिन आने चाहिए? जो पुरुष भाग्यवान् हैं वे ही कठिन नियमों का पालन कर सकते हैं। हम इतने भाग्यवान् नहीं हैं। हम तो सहस्रों व्यसनों में लिप्त हो रहे हैं। फिर आँख और कान दोनों बलहीन तब उनको जो साध्य है वह हम कैसे कर सकते हैं? हमारी स्वल्प सामर्थ्य से जो बन पड़े वही सही। उसमें फिर पूछना क्या?"

यह कैसा उत्तम उपदेश है! पाठक विचार करने से इसकी महत्ता को समझ सकते हैं।

इन सब बातों से रानडे की साधुवृत्ति अच्छी प्रकार प्रतीत होती है। और प्रख्यात कवि भवभूति का यह श्लोक उनके लिए सम्पूर्णतया उपयुक्त है:—

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
कृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः

पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसम्
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥

अर्थः—न्यायी वृत्ति जिसको प्रिय है, जिसकी वाणी का नियम विनय से मधुर है, जिसकी बुद्धि स्वभाव से ही कल्याणकारी है, जिसका पूर्व और पश्चात् सम्बन्ध निन्दा का पात्र नहीं है,—ऐसे साधुओं के चरित्र का रहस्य, जो सदा आनन्द-दायक और अविकारी है, बिना किसी विघ्न के विशुद्ध होता हुआ विजयी होता है।—उसमें विघ्न होने पर भी वैसा ही रहता है।

रानडे के चरित्र से सामान्य रीति से जो शिक्षा प्राप्त होती है उसका वर्णन कर उपसंहार के साथ इस जीवन-चरित्र की समाप्ति की जायगी।

अब तक जिन बातों का वर्णन किया गया है उससे यह कहा जा सकता है कि रानडे एक सच्चे महात्मा थे और उनका जीवन बहुत सी बातों में अनुकरणीय था। उनके सब गुण ऐसे उच्च प्रकार के हैं कि उनके आचरण से छोटे बड़े, धनी और निर्धन, विद्यार्थी और सांसारिक—सब प्रकार के मनुष्यों को अपने काम में सफलता और यश प्राप्त हो सकता है। उनके गुणों का अवलोकन करने से और पिछले प्रकरणों में जो हाल दिया है उससे मालूम होगा कि उनमें और भी कई गुण अनुकरणीय थे। उनमें से कुछ का स्पष्टीकरण करना यहाँ पर उचित जान पड़ता है।

रानडे के विद्यार्थी-जीवन से जान पड़ता है कि वे गुरुजनों

को बड़े पूज्यभाव से देखते थे। अपने अभ्यास में लीन रह कर उन्होंने अपने पिता के श्रम और धन को—जो रानडे की शिक्षा के लिए व्यय किया गया था—सार्थक किया था। और साथ ही उन्होंने विद्यार्थियों को अपना ऐसा उदाहरण दिया है कि जिससे वे अपने शिक्षकों के आज्ञाकारी रहकर उनकी प्रीति के पात्र हुए और स्वयं एक आदर्श विद्यार्थी बने। सरकारी नौकरी में भी उनकी एकनिष्ठा, प्रामाणिकता, अटल धैर्य,-न्याय के लिए उत्कट इच्छा, कार्य-दक्षता, गम्भीर न्याय बुद्धि, अविश्रान्त परिश्रम, और सभ्य व्यवहार—इन सब गुणों का पाठकों को योग्य परिचय मिलता है। यह गुण ऐसे हैं कि एक सरकारी अफ़सर को यशस्वी बनावें और उसके भूषण रूप समझे जायँ। पूना शहर की उन्होंने जो सेवा की, उससे जान पड़ता है कि सरकारी नौकरी में प्रवृत्त रहने और देश-सेवा में लीन रहने पर भी एक मनुष्य अपने नगर की उत्तम रीति से सेवा कर सकता है। दूसरे लोगों को भी इससे शिक्षा लेनी चाहिए और अपने कर्तव्य से पीछे नहीं रहना चाहिए। उन्होंने समाज-सुधार का जो काम किया उससे उनकी हिम्मत, विघ्न पड़ने पर भी निश्चय से चलायमान न होने की आदत, और उनकी पितृभक्ति का पता चलता है। आज कल जो युवक शिक्षा प्राप्त करते हैं उससे विशेष विवेकी, नम्र और पितृभक्त बनने के बदले वे लोग उलटे ही रास्ते से चलते हैं; और उच्छृङ्खल होकर अपने गुरुजनों को आदर और पूज्यभाव से मानने की जगह उनकी परवा न करते

हुए अवज्ञा करते हैं। ऐसे युवकों को रानडे की जीवनी से अच्छा पाठ मिल सकता है। रानडे के दूसरे विवाह के समय उनके लिए यह कर्त्तव्य रूप हो गया था कि वे किसी विधवा से अपना विवाह करें, परन्तु अपने पिता की आज्ञानुसार उन्होंने ऐसा नहीं किया, इससे युवकों को अच्छी शिक्षा मिल सकती है। धार्मिक विचार के प्रकरण से मालूम होता है कि वे सुधारक थे और प्रार्थना-समाज के उत्साही सभासद थे। वे समाज के नियमों का पालन करके हाथ पर हाथ रखे बैठे नहीं रह जाते थे किन्तु ईश्वर में अनन्य भक्ति होने से हर घड़ी उसका स्मरण करते और उसकी व्यापकता को कभी नहीं भूलते थे। अन्य धर्मों की पुस्तकें पढ़ कर उन्होंने अपने धार्मिक ज्ञान की बड़ी उन्नति की थी और दूसरे धर्म के अनुयायियों के साथ भी वे समानता से बर्ताव करते थे। उनकी राजकीय प्रवृत्ति से मालूम होता है कि वे एक सरकारी उच्चपदाधिकारी होते हुए भी, सरकार से बार बार प्रार्थना करके, और सूक्ष्म अनुसंधान से, उपयोगी बातें सरकार को सूचित कर देश-हित के लिए कैसा प्रयत्न करते थे। उनके विवेक और विचार का पता भी राजकीय प्रवृत्ति से अच्छी तरह चलता है। विद्यादेवी की उपासना जैसी उन्होंने की उससे हम यह सीखते हैं कि रानडे जैसे व्यग्र और इतने कामों में फँसे हुए मनुष्य भी साहित्य की सेवा कर सकते हैं और अनेक प्रकार से अपने बुद्धिबल तथा उद्योग से कैसी विद्या प्राप्त कर सकते हैं। रानडे के मराठी इतिहास,

अर्थशास्त्र की पुस्तक और अन्य लेखों से उनकी—प्रत्येक विषय का सूक्ष्म अवलोकन कर सत्य की शोध, तर्क और उदाहरण आदि से—अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने की रीति मालूम होती है। औद्योगिक और अन्य प्रवृत्तियों से उनके स्वदेश-प्रेम और उद्योगी जीवन का दिग्दर्शन होता है। गृहसंसार के वर्णन से रानडे का अपनी उपमाता और भाइयों के लिए भाव मालूम होता है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि उन पर वे कितना प्रेम करते थे और उनके लिए कैसे यत्नवान रहते थे। सगे भाइयों में भी कभी कभी ऐसा परस्पर द्वेष देखा जाता है कि वे एक दूसरे का मुँह भी नहीं देखना चाहते। ऐसी बात कुटुम्ब, ज्ञाति और देश के लिए बड़ी हानिकारक होती है। ऐसे लोगों को रानडे का अनुकरण अवश्य करना चाहिए। नौकरों से उनका जैसा दया-पूर्ण और क्षमाशील व्यवहार था वह प्रत्येक सत्तावान् पुरुष के सीखने योग्य है। श्रीमती रमाबाई का पवित्र जीवन सब सद्गुणी और पतिव्रता स्त्रियों के लिए अनुकरणीय है। काम करते करते मरने की इच्छा रानडे की थी, और हुआ भी ऐसा ही कि अन्तकाल तक देशोन्नति का काम करते हुए वे शान्ति से मृत्यु-शरण हुए और सबके असाधारण पूज्यभाव के पात्र हुए। अन्तिम दो अध्यायों में उनके सद्गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है, उससे मालूम होता है कि वे एक अति सद्गुणी और दृष्टान्त-भूत रहन सहन के महान् पुरुष थे। वैसे तो उनके सब गुण अनुकरणीय हैं, परन्तु किसी से सबका पालन एकदम

बन पड़ना कठिन है। इसलिए सारग्राही लोगों और उत्साही विद्यार्थियों को अपने कार्य की सिद्धि के लिए अपनी स्थिति के अनुकूल आवश्यक गुणों का अनुकरण अवश्य करना चाहिए और एक साथ उनका पालन न हो सके तो क्रम से प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से वे अपने प्रयत्न के प्रमाण में देशहित-साधन में कुछ कार्य अवश्य कर सकेंगे और साथ सार्थ व्यावहारिक और आध्यात्मिक उन्नति भी कर सकेंगे।

इस सम्पूर्ण विवेचन से प्रत्यक्ष जान पड़ता है कि सद्‌गुणों और साधुवृत्ति से विभूषित रानडे ने 'परोपकाराय सतां विभूतय:—'की उत्तम नीति का पालन कर जीवन-पर्यन्त देशोद्धार का बड़े महत्व का काम किया है। सर ए० ग्रान्ट ने अपने होनहार शिष्य के लिए भविष्य वाणी की थी कि "वे बड़ी उच्च प्रकार की बुद्धि प्राप्त कर स्वाभाविक रीति से विचार और व्यवहार में अपने देश के नेता होंगे'। रानडे ने उसे सत्य सिद्ध कर दिखाया। यदि यह कहा जाय कि उन्होंने अपने देश के ही लिए जीवन-धारण किया था तो कुछ अनुचित नहीं है, क्योंकि आरम्भ से ही विविध सेवा करते हुए उन्होंने इस लोक से यात्रा की थी। उन्होंने भारतवर्षीय प्रजा में जातीयता का भाव उत्पन्न कर दिया है और उनकी सब सेवाओं का सार यही है। मान० स्व० गोखले ने कहा था कि मातृभूमि की सेवा और उसके लिए 'आत्मभोग' उनके जीवन का लक्ष्य था, जो देश की उन्नति चाहने वाले हर एक मनुष्य का होना चाहिए।

वे यह चाहते थे कि हम लोग मनुष्य मात्र के साथ समान दृष्टि से बर्ताव करें, और मनुष्य की स्वाभाविक महत्ता को समझें। सन् १८९७ ई० की १ जनवरी को रानडे ने कलकत्ते में एक व्याख्यान दिया था। उसमें उन्होंने जो बातें कही थीं वे सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने वालों के ध्यान देने योग्य हैं। स्वर्गीय गोखले ने तो कहा था कि उन शब्दों को हमें अपने हृदय-पटल पर खोद लेना चाहिए। रानडे ने कहा था— "हमारे सब प्रयत्नों का मूल-प्रेरक और उसका गुप्त हेतु जिसका अनुभव हमको सदा नहीं होता है वह आत्मगौरव और स्वातन्त्र्य वृत्ति है। धीरे धीरे यह वृत्ति प्रजा पर अपना प्रभाव डाल रही है और सत्तावान् होती जाती है। यह बात नहीं है कि जीवन की अमुक भूमिका में ही वह रहती हो किन्तु मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर उसका अधिकार होता है। वह हमको सदा बताती रहती है कि व्यक्ति की शुद्धता और सामाजिक न्याय-वृत्ति का हम पर पूर्ण अधिकार है। अर्थात् हम को अपने प्रत्येक आचरण से व्यक्तियों की आध्यात्मिक या नैतिक पवित्रता की रक्षा करनी चाहिए और जनसमाज के प्रति जो न्याय होना चाहिए वह भङ्ग न हो। यदि जीवन के इन दोनों उद्देशों की उपेक्षा की जायगी तो जीवन बड़ा अधम और नीच हो जायगा। ...मनुष्य को बुद्धि की स्वतन्त्रता देकर, उसे उच्च कार्यों में प्रवृत्त कर, उसकी सब शक्तियों का सर्वांश में विकास कर, और उसकी शुद्धि कर पूर्ण रीति से उसको उन्नत करने का

मुख्य उद्देश है । इस विकास और विशुद्धि के बिना हम यह आशा नहीं कर सकते हैं कि अपने पूर्वजों के से महत् कार्य कर सकें और जैसे कार्य करने के लिए वे उत्पन्न हुए थे वैसे काम हम कर सकें या ईश्वर की कृपा के भागी हो सकें । कार्य-कर्त्ता मनुष्य जीवन की ऐसी उच्च भावनाओं से प्रेरित होता है तो यह कोई महत्त्व की बात नहीं रह जाती कि वह किस कार्य में प्रवृत्त होता है; क्योंकि वह चाहे जो काम करे और कैसी ही स्थिति में वह क्यों न हो, पर वह अपने काम को अच्छी तरह करता है और यदि उसके जीवन का परिणाम देखा जाय तो राजा में और उसमें कोई भेद नहीं रहता । स्वातन्त्र्य-प्राप्त मनुष्यत्व से उछलती हुई नवीन आशा, सामान्य व्यवहार की न्याय-दृष्टि, आवरणहीन विशुद्ध बुद्धि, पूर्ण संस्कार-प्राप्त शक्ति—इन सब से और निरंकुश प्रेम से भारतवर्ष संसार के देशों और जातियों में अपना योग्य स्थान फिर प्राप्त करेगा । यही हमारा अभीष्ट है, यही हमारा निर्दिष्ट स्थान है । जो लोग इसको, अर्थात् भविष्य में होने वाली हमारी उन्नत दशा को, अपनी मनोमय दृष्टि से देखते हैं वे सुखी हैं; जिनको उसके लिए उद्योग करने की अनुकूलता मिली है वे उनसे भी विशेष सुख का अनुभव करते हैं; और जो लोग कि उन्नत और नवीन भारत-वर्ष की स्थिति को अपनी आँख से देखेंगे और उस पवित्र भूमि पर चलने फिरने का जिनको अवसर मिलेगा वे तो सबसे अधिक सुखी हैं ।"

रानडे इसी उद्देश के अनुसार जीवन-कार्य करते थे, यह निर्विवाद है। जो जो सङ्कट उनको भोगने पड़ते थे उनको वे समझते थे कि भविष्य की उत्तम स्थिति प्राप्त करने के लिए उनको अधिकारी बनाते हैं और इसी विश्वास से वे सङ्कटों को सन्तोष से सहन कर लेते थे। वे कहा करते थे कि "हमें अपने दुःखों को भोगना चाहिए परन्तु इसलिए नहीं कि शान्ति से उनके सहन करने में एक प्रकार की मधुरता है बल्कि इसलिए कि उनके भोगने के परिणामों की महत्ता के सामने ये संकट कुछ भी नहीं हैं।"

एक 'महान्' पुरुष बनने और कहलाने के लिए कौन कौन से लक्षणों और गुणों की आवश्यकता है—इस बात की सूचना रानडे प्रायः अपने उपयोगी व्याख्यानों में किया करते थे। इस सम्बन्ध में उनकी कही हुई बातें यहाँ उल्लेख करने योग्य हैं जिससे कि पाठक गण इस बात को समझ सकें कि अपने ही बोध और शिक्षा के अनुसार रानडे ने कहाँ तक अपने को बनाया था। उनके मुख्य विचार-सूत्र यह थेः—

'महान्' पुरुष की चरित्र-रचना के लिए भाव की शुद्धता और अपने निश्चय को आदर-पूर्वक निभाना है।

जब तक कि मनुष्य मर न जाय तब तक वह स्वयं या उसके मित्र यह नहीं कह सकते कि उसने अपने जीवन-हेतु की सिद्धि की।

जो मनुष्य अकेला अपने मार्ग से ही जाय और जो अपने

उदाहरण से दूसरे लोगों के अन्तःकरण और बुद्धि को अपना अंशरूप न बना सके अर्थात् तन्मयता उत्पन्न न कर सके वह 'महान्' कहलाने योग्य नहीं है।

हम लोग भी किसी समय शुद्ध अन्तःकरण वाले और उत्साही हो जाते हैं, परन्तु शुद्ध भाव और कर्तव्य में तत्परता की आदत डालना सुगम नहीं है। जो 'महान्' हैं उनमें यह लक्षण अवश्य पाये जाते हैं।

सत्यनिष्ठा, महत्प्रेरणा, नैतिक अभिप्राय, प्रीति और संगति से अभिप्रायों को कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति—यह चरित्र के लक्षण पुरुष को 'महान्' बनाते हैं। जिनमें यह गुण उत्तम रीति से विकसित होते हैं वे ही सब से पवित्र हो सकते हैं। कर्त्तव्य में आदर, हेतु की सिद्धि के लिए आतुरता, प्रतिभा या नैसर्गिक बुद्धि, कल्पना-शक्ति और इन सब के उपरान्त चुम्बक जैसी आकर्षण-शक्ति—यह गुण मनुष्य को 'महान्' बनाते हैं।

हमारे पास बहुत धन हो या न हो, संसार की दृष्टि में हम 'महान्' गिने जाते हों या न गिने जाते हों, परन्तु हमारा अभीष्ट तो यही है कि इस अल्प जीवन में भविष्य जीवन को उत्तम बनाने के लिए उद्योग कर कुछ अंश में सफलता प्राप्त करें। जब हम दिन प्रति दिन और वर्ष प्रति व इसके अनुसार उन्नति करते रहें तभी हमको अपने कार्य का बदला मिलेगा।

'महान्' होने में बड़ा दायित्व होता है। उसको अपने

जीवन के अन्त तक जिसने निभाया है वही 'महान्' है और जिससे यह नहीं हो सका वह इस उपनाम के योग्य नहीं।

पक्षपात-रहित प्रत्येक पाठक को भली भाँति यह बात मालूम हो गई होगी कि रानडे ने 'महान्' शब्द की जैसी व्याख्या की है उसके अनुसार पूर्णतया मनन और आचरण कर आदि से अन्त तक उन्होंने अपना जीवन निर्वाह किया था। उनके शुभ नाम का स्मरण बार बार इसी लिए नहीं किया जाता कि वे हाई-कोर्ट के एक यशस्वी जज थे, या अनेक गुणों के आकर थे; यह सब तो वे थे ही, पर अपनी दीर्घ दृष्टि, कार्य-दक्षता, उत्तम प्रकार की कर्तव्य-बुद्धि, गाढ़ और अतिशय स्वदेश-प्रेम—इन सब से देश की उन्नति के लिए प्रयत्न किया था इसलिए उनका स्मरण किया जाता है। 'यूनाइटेड इन्डिया' नामक समाचार-पत्र ने लिखा था कि रानडे ने देश में ऐक्य उत्पन्न करने, और उसकी सामाजिक, राजकीय और धार्मिक बातों में उन्नति करने में घोर प्रयत्न किया था। उन्होंने भूत और भविष्य की जाँच—जैसी कि मानुषिक बुद्धि से हो सकती है वैसी—करके भविष्य के महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों के लिए देशवासियों को तैयार करने, उनको समानभाव, सहनशीलता, हेतु की शुद्धता और उद्देशों की उच्चता का बराबर बोध कराने, इन सब बातों में बड़ा ही घोर प्रयत्न किया था। यही कारण है जिससे वे इतने पूजनीय और वन्दनीय गिने गये हैं। उनके लिए देश भर में जो प्रशंसासूचक उद्गार निकले थे वे उनकी देशसेवा का विचार कर सर्वथा योग्य

थे और रानडे सब प्रकार उनके पात्र थे। बम्बई के सुप्रसिद्ध निवासी और कांग्रेस के नेता मि० दिनशा इदलजी वाचा ने जस्टिस तैलङ्ग की दसवीं पुण्य-तिथि—१८ सितम्बर १६०३—को हिन्दू यूनियन क्लब में एक व्याख्यान दिया था जिसमें रानडे के मरने से देश की हानि बताते हुए उन्होंने पूज्यभाव से उनके गुणों का संक्षेप से चित्रवत् वर्णन किया था। पुस्तक के अन्त भाग में उसका उल्लेख करना उचित है। मि० वाचा ने कहा था—"सबसे अधिक निःस्वार्थी और निष्कलङ्की रानडे, परम देशभक्त और निष्पक्षपाती इतिहासकार रानडे, अर्थशास्त्री रानडे, ग्रीक उत्साह और विचारों से परिपूर्ण रानडे, ग्रीक लोगों की प्रकृति और साक्रेटीज़ का स्मरण दिलाने वाले तत्त्ववेत्ता रानडे, हमारे समय के ऋषि या महात्मा रानडे, जिनके प्रति समस्त देश, इतिहास में अपूर्व रीति से प्रशंसा और पूज्यभाव देखता था, ऐसे मि० रानडे की मृत्यु से जो हानि हुई है उसको कौन भूल सकता है?"

ब्रिटिश साम्राज्य में भारतवर्ष सबसे प्रकाशित रत्न समझा जाता है और न्यायमूर्ति रानडे भारतवर्ष के मुकुट में सबसे प्रकाशित रत्न गिने जाते हैं। मि० ग्लेडस्टन की तरह रानडे को भी मानुषिक विचारों की अनेक भूमिकाओं का आश्रय लिये बिना उनकी अनेक प्रकार की प्रवृत्ति से शान्ति नहीं मिलती थी। हर एक मानुषिक प्रवृत्ति में भाग लिये बिना और विचार किये बिना उनका मन शान्त नहीं होता था। राजकीय, सामा

जिक, धार्मिक और अर्थशास्त्र-सम्बन्धी तथा दूसरे मानुषिक उद्योगों के प्रश्नों में उन्होंने ऐसी असाधारण कुशलता, सूक्ष्मता और विशाल दृष्टि दिखलाई थी कि जो अब भी अनुपम समझी जाती है। अगाध परिश्रम करने की शक्ति, निर्मूल सिद्धान्तों और अनुमानों को इस तरह रद कर देने की हुशियारी कि जिससे लोगों को बुरा न मालूम हो, दयालु अन्तःकरण, पर-दुःख-दुःखी स्वभाव, विपद्ग्रस्त लोगों को आतुरता से सहायता करने की आदत—इन सब गुणों का विचार करते हुए, बिना अतिशयोक्ति के, यह कहा जा सकता है कि रानडे ब्रिटिश-राज्य के एक अत्यन्त उज्ज्वल रत्न थे। ऐसा जान पड़ता है कि श्रीमद्भगवद्गीता में जो सात्त्विक भाव वर्णित है उसको प्राप्त कर, आरम्भ से ही उन्होंने अपने जीवन-कर्त्तव्य में उस निष्काम कर्म के करने का निश्चय किया हो जिसका उपदेश अर्जुन को श्रीकृष्ण ने किया था।

ऐसी उच्च और आदर्श कर्त्तव्य-परायणता से, एक प्रख्यात अँगरेज़ी कवि के वचनानुसार, रानडे 'कालरूपी समुद्र-रेती पर अपने पद-चिह्न छोड़ गये हैं' और अपना नाम अमर कर गये हैं। अपने जीवन-दृष्टान्त से वे अपनी समकालीन और भविष्य की प्रजा के लिए एक विशुद्ध और महान् नर-रत्न की उदाहरण-रूपी सम्पत्ति छोड़ गये हैं।

हमारी आर्य्यभूमि की उन्नति के लिए ऐसे अनेक रानडे के उत्पन्न होने की आवश्यकता है। परन्तु ऐसे पुरुष हर एक

काल में, किसी देश में, पैदा नहीं होते । किसी समय-विशेष पर ही वे जन्म धारण करते हैं । रानडे से सुपरिचित एक अँगरेज़ ने किसी से कहा था कि 'एक रानडे तो, एक शताब्दी में, एक ही बार उत्पन्न होता है' । सर भालचन्द्र ने अपने गम्भीर शब्दों में कहा था कि उनके परलोक-गमन से समस्त देश की हानि हुई है और वर्तमान काल तथा भविष्य काल दोनों की क्षति हुई है । ऐसे उन्नत-आत्मा एक समय में बहुत ही थोड़ी संख्या में उत्पन्न होते हैं और जब वे संसार को छोड़ जाते हैं तो उनका स्थान लेने के लिए दूसरे लोग जल्दी नहीं उत्पन्न होते । रानडे के जीवनचरित को समाप्त करते हुए ईश्वर से यही प्रार्थना है कि उसकी कृपा से देश में शान्ति और हर एक प्रकार की उन्नति चाहने वाले महात्मा रानडे जैसे और भी पुरुष हमारी पवित्र आर्य्यभूमि में उत्पन्न हों और वे ब्रिटिश-राज्य की शीतल छाया में उससे शिक्षा आदि प्राप्त कर आर्य्य-प्रजा का अभ्युदय करें और देश को प्राचीन उन्नत अवस्था में पहुँचा कर अन्य प्रजाओं में उसको उच्च स्थान दिलवाने में शक्तिमान् हों । तथास्तु ।